भारतीय कहानियाँ



भारतीय कहानियाँ

भारतीय कहानियाँ

सम्पादक
बालस्वरूप राही



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 464

भारतीय कहानियां :

सम्पादक : बालस्वरूप राही

भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
लोदी रोड, नयी दिल्ली-110003

मुद्रक
पारुल प्रिण्टर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण-शिल्पी : हरिपाल त्यागी

BHARATIYA KAHANIYAN : Edited by Balswaroop Rahi. Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110003. Printed at Parul Printers, Naveen Shahdara, Delhi-110032.

चयन-मण्डल

असमी	नवारूण वर्मा
उड़िया	डॉ० सीताकान्त महापात्र
उर्दू	राज नारायण 'राज'
कन्नड़	बी० आर० नारायण
कश्मीरी	हरिकृष्ण कौल
गुजराती	गुलाबदास ब्रोकर
तमिल	ना० पार्थसारथी
तेलुगु	वक्ती पाण्डुरंग राव
पंजाबी	कर्तारसिंह दुग्गल
बांग्ला	डॉ० नवनीता देव सेन
मराठी	चन्द्रकान्त महादेव बांदिवडेकर
सिन्धी	डॉ० मोतीलाल जोतवाणी
मलयालम	वी० डी० कृष्णन् नम्पियार
हिन्दी	बटरोही

अनुक्रम

प्रस्तुत प्रयास

परिकल्पना

अपनी स्थापना से ही भारतीय ज्ञानपीठ का लक्ष्य भारतीय साहित्य के संवर्द्धन में योगदान रहा है। अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए वह प्रारम्भ से ही त्रि-आयामी प्रयास करता आ रहा है। एक ओर तो वह जटिल किन्तु विश्वसनीय मूल्यांकन-प्रणाली द्वारा भारतीय साहित्य की शिखर उपलब्धियों को रेखांकित-पुरस्कृत करता है, ताकि साहित्य को समर्पित अग्रणी भारतीय रचनाकारों को अधिकतम मान-सम्मान एवं राष्ट्रव्यापी प्रतिष्ठा प्राप्त हो और उनकी शीर्ष कृतियाँ अन्य रचनाकारों के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करें। दूसरी ओर वह समग्र समकालीन भारतीय साहित्य में से कालजयी रचनाओं का चयन कर उन्हें, प्रायः हिन्दी के माध्यम से, बृहत्तर प्रबुद्ध पाठक-समुदाय तक ले जाता है, ताकि एक भाषा का सर्वोत्कृष्ट साहित्य दूसरी भाषा तक प चे और इस प्रकार विभिन्न भाषाओं के रचनाकारों एवं सजग पाठकों के मध्य तादात्म्य स्थापित हो और परस्पर-प्रतिक्रिया हो। तीसरी ओर वह संवेदनशील, सम्भावनावान, उदीयमान रचनाकारों की सशक्त कृतियाँ प्रकाशित कर उन्हे उनका दाय प्राप्त कराने में सक्रिय सहयोग करता है।

साहित्य राष्ट्रीय चेतना का सर्वप्रमुख संवाहक है। यदि किसी देश की सांस्कृतिक धड़कनों को समझना हो तो उसकी नब्ज—साहित्य पर हाथ रखना आवश्यक होता है। अन्य राष्ट्रों को ही नही, अपने राष्ट्र को भी हम प्रमुखतः अपने साहित्य के माध्यम से ही सही-सही पहचानते है। स्वराष्ट्र की आत्मा से साक्षात्कार करना कौन नही चाहता ! राष्ट्र की आत्मा साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती है और साहित्य भाषा के माध्यम से मुखरित होता है। किन्तु हमारे लिए कठिनाई यह है कि भारतीय साहित्य एक या दो भाषाओं के माध्यम से तो मुखरित होता नहीं। अतः भाषा जो एक पथ है, सेतु है, वही व्यवधान बन जाती है। इस व्यवधान के अतिक्रमण मे भारतीय ज्ञानपीठ निरन्तर सुधी पाठकों का सहायक रहा है। इस बार सोचा गया कि एक और नयी राह निकाली जाए, एक और नयी दिशा का संधान हो। कालजयी शाश्वत रचनाओं तक ही सीमित क्यों रहा जाए ? जिन रचनाओं को अभी काल की कसौटी पर कसा जाना है, उन तक भी पहुँच क्यों न हो ? आज की धड़कनें

पहचानने के लिए आज का आमना-सामना आवश्यक है। जो सबसे ताज़ी है, आज की रचना है, वही तो वर्तमान को समझने में सबसे बड़ी सहायक बन सकती है। वही कल कालजयी सिद्ध होकर धरोहर भी बन सकती है।

प्रति वर्ष स्फुट रूप से स्थायी महत्त्व की कई रचनाएँ प्रकाशित होती हैं और सामान्य रचनाओं की भीड़ में खो जाती हैं। यदा-कदा चर्चित होती है, रेखांकित भी होती है, किन्तु एक स्थान पर सहेजी नही जातीं। अन्य भाषाओं की उपलब्धियों से साक्षात्कार तो दुर्लभ ही है, हम अपनी ही भाषा की सर्वोत्तम कृतियों से अपरिचित रह जाते हैं। परिचय होता भी है, तो बस क्षण मात्र के लिए। यों हम सभी न्यूनाधिक यह अनुभव और स्वीकार करते हैं कि भारतीय साहित्य विभिन्न भाषाओं में रचे जाने पर भी कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में एक मुख्य धारा में सम्पृक्त है। भाषा विशेष के साहित्य के सही मूल्यांकन एवं सच्चे आस्वाद के लिए उसे समग्र भारतीय साहित्य के परिदृश्य में रखकर देखा जाना नितान्त आवश्यक एवं वांछनीय है।

इसी भावना से प्रेरित होकर हमने यह निर्णय किया कि भारतीय ज्ञानपीठ प्रति वर्ष समस्त भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाली विधा विशेष की श्रेष्ठ रचनाओं को एक संकलन में एक साथ संजोने का क्रम प्रारम्भ करे। निर्णय हुआ कि वार्षिक चयनिकाओं की इस शृंखला का प्रारम्भ 1983 में प्रकाशित कहानियों और कविताओं की चयनिकाओं से हो। तय हुआ कि संकलन के लिए हर भाषा से दो कहानियाँ चुनी जाएँ और इस प्रकार चयनिका में संस्कृत छोड़कर संविधान के 8वें परिशिष्ट में परिगणित सभी भाषाओं की 28 कहानियों का समावेश हो। इससे वर्ष-विशेष की विशिष्ट कहानियाँ एक ही स्थान पर उपलब्ध एवं सुरक्षित हो सकेंगी और समकालीन भारतीय कथा-धारा के प्रति जिज्ञासु कथा-प्रेमियों को इधर-उधर भटकना नहीं पड़ेगा।

सबसे बड़ी समस्या थी रचनाओं के चयन की। कोई एक तो सभी भाषाओं का जानकार होता नहीं। अतः इस योजना के क्रियान्वयन के लिए सोचा यह गया कि हर भाषा से रचना-चयन का दायित्व भाषाविशेष के ही किसी कथा-मर्मज्ञ को सौंपा जाए जो कथाओं का चयन भी करे और चुनी हुई कहानियों के हिन्दी रूपान्तरों की प्रामाणिकता भी परख ले।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर दें कि कहानी-चयन में चयन-मण्डल के हर सदस्य को हमने पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दी है और अपनी पसन्द को कहीं भी आरोपित नहीं किया। चुनाव के लिए पूरी-पूरी जिम्मेदारी, पूरी-पूरी जवाबदेही चयनकर्ता की ही है। हाँ, चयनकर्ता का चुनाव हमारा है और हमने यह पूरी सावधानी एवं दायित्व के साथ किया है। हर चयनकर्ता अपनी भाषा के साहित्य का विश्वसनीय मर्मज्ञ एवं अधिकारी विद्वान् है। अनेक तो मूर्द्धन्य भारतीय

साहित्यकारों अथवा साहित्य-मनीषियों में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। चयनिका को और अधिक परिपूर्ण एवं सार्थक बनाने तथा उसे सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में और भी अधिक उपयोगी बनाने के लिए हमने सहयोगी साहित्यकारों के सचित्र परिचय का समावेश भी इसमें कर दिया है।

स्पष्ट ही है कि इस प्रकार का कोई भी चयन-निर्णय निर्विवाद नहीं हो सकता। इस कहानी-चयन के सामने भी प्रश्नचिह्न लगाये जा सकते हैं और सम्भव है लगें भी। दो-चार नहीं, दर्जनों कहानियाँ ऐसी होंगी जो अपनी भाषा में 1985 की उपलब्धि मानी जाएँ। अपनी भाषा में ही क्यों, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में एक उपलब्धि मानी जाएँ। किन्तु प्रतिनिधि रचनाओं की संख्या सीमित एवं सुनिश्चित रखना व्यावहारिक समझा गया— संकलन के आकार-नियन्त्रण के लिए भी और सभी भाषाओं के प्रति समभाव की दृष्टि से भी। हमारे लिए सभी भाषाएँ महत्वपूर्ण हैं। प्रतिनिधि रचनाएँ और भी हो सकती हैं या यह भी हो सकता कि इनमें से किसी रचना को प्रतिनिधि माना ही न जाए। तब भी इतना तो है ही कि ये सर्वोत्कृष्ट हों या नहीं, इस संकलन के माध्यम से हम आज के भारतीय कथा-साहित्य का चेहरा काफ़ी कुछ पहचान सकते हैं। पूर्ण तो कुछ नहीं होता वृत्त के अतिरिक्त। पूर्ण संतोष भी दुर्लभ ही है। हमें पूरा विश्वास है कि यह संकलन एक झरोखे का काम करेगा और हम झाँक कर देख सकेंगे कि पड़ोसी आँगन में किस-किस प्रकार के फूल खिल रहे हैं और उनकी महक भी हम तक आ सकेगी।

दरकती राष्ट्रीय चेतना और चटखते एकात्मभाव के इस संकटपूर्ण समय में इस प्रकार के प्रयासों की विशिष्ट भूमिका हो सकती है। परिचय सौहार्द की पहली सीढ़ी है। अपनी भाषा में इतर साहित्य के साक्षात्कार से न केवल भारतीय साहित्य की समझ अधिक परिपक्व होती है, बल्कि हम अपनी भाषा के साहित्य की प्रासंगिकताओं को भी और बेहतर ढंग से समझते हैं। हमें प्रसन्नता है हमारे इस विनम्र प्रयास को प्रारम्भ से ही सभी दिशाओं से सहयोग एवं सराहना प्राप्त होती रही है। एक पत्रकार बन्धु ने तो इसे "राष्ट्र में स्वाधीनता के उपरान्त किया जाने वाला सर्वाधिक उल्लेखनीय साहित्यिक एकता आयोजन" माना है। हमारा प्रयत्न होगा कि हम यह क्रम बनाए रख सकें। यदि प्रति वर्ष की साहित्य-उपलब्धियाँ इस प्रकार सुरक्षित की जा सकीं तो इस दशक की समाप्ति पर दशक के भारतीय साहित्य पर शोध करने वाले शोधार्थियों के लिए ये ग्रन्थ आधार-सामग्री के रूप में अपनी उपयोगिता सिद्ध करेंगे।

भारतीय साहित्य मूल रूप में एक है अथवा एक मुख्य धारा से जुड़ा है— यह एक सत्य है या मात्र एक आह्लादकारी मिथक, इस आशय के विवादास्पद

प्रश्नों का उत्तर खोजने में इस प्रकार के ग्रन्थों की सार्थकता विवादातीत मानी जा सकती है।

यह चयनिका

सबसे पहले तो इसके लिए क्षमा-याचना कि प्रस्तुत चयनिका लाने में अनपेक्षित विलम्ब हुआ। इस संबंध में केवल क्षमा ही मांगी जा सकती है, आगे ऐसा नहीं होगा यह कह सकना बड़ा कठिन है। अब यह भी कब तक दोहरायें कि इस प्रकार के आयोजनों में इस प्रकार की देरी से बच पाना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। इस प्रकार के आयोजनो में सम्मिलित रहने वाले भुक्त-भोगी हमारी कठिनाइयों का अनुमान अधिक सरलता से लगा पायेंगे। बाक़ी सब से तो फिर यही कहना होगा कि सहयोगियों के सक्रिय सहयोग के बावजूद हर बार सम्पूर्ण सामग्री जुटाने में कहीं न कही, कोई न कोई कसर रह ही जाती है। कभी किसी भाषा की कहानियो के प्रामाणिक अनुवाद की समस्या सामने आ जाती है, कभी किसी कहानीकार की अनुमति समय पर नहीं मिल पाती और कभी किसी के परिचय अथवा चित्र की प्रतीक्षा बनी रह जाती है।

पंजाबी के वरिष्ठ विचारक एवं कवि डॉ० हरभजनसिंह ने हमारी इन मुश्किलों को बखूबी समझा है: "निश्चित ही आपके इस प्रयास की बहुमूल्य भूमिका है। भारतीय साहित्य की अस्मिता निश्चित करने में ऐसे संग्रहो का योगदान संदेह का विषय नही। यह प्रयास निरंतर बना रहना चाहिए। मैंने आपकी भूमिका देखी है। आपकी परिकल्पना स्तुत्य है। इसे व्यावहारिक रूप देने की राह में अपने ढंग की मुश्किलें हैं जिन्हें दूर करने का सरल उपाय कोई नहीं है। हमें अपनी समस्याओं के साथ ही जीना पड़ेगा।"

वार्षिक चयनिकाओं की दूसरी कड़ी (भारतीय कहानियाँ : 1984) के प्रकाशन के पश्चात् इस चयनिका-क्रम में साहित्यकारों और प्रबुद्ध पाठकों की रुचि और भी बढ़ी है और उन्होंने हमारे इस आयोजन को उदारतापूर्वक नये लेखकों के मध्य तादात्म्यवर्धक, विभिन्न प्रान्तों की संस्कृति की गंध सँजोये पुष्पगुच्छ, आधुनिक कथा-साहित्य की भारतीय धारा को समझने में एक महत्त्वपूर्ण योगदान आदि माना है। हमें प्रसन्नता है कि इन चयनिकाओं को समसामयिक भारतीय कथा-लेखन का प्रतिनिधि माना जा रहा है और विभिन्न रूपो में इनका उपयोग हो रहा है। उदाहरणतया अन्य भाषाओं में वर्ष विशेष की उत्कृष्ट कथा-उपलब्धियों के अनुवाद, दूरदर्शन में कहानी-विषयक धारा-वाहिकों के निर्माण में ये चयनिकाएँ आधार-सामग्री के रूप में उपादेय सिद्ध हो रही हैं। प्रस्तुत हैं कुछ प्रतिक्रियाएँ :

ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित यह शृंखला प्रशंसनीय है। इससे एक ओर जहाँ

नये लेखकों को प्रोत्साहन मिलता है, वहीं दूसरी ओर कहानियों के माध्यम से विभिन्न प्रदेशों के परिवेशों के बारे में जानने का मौका भी। साथ ही विभिन्न भाषाओं के लेखकों के बीच भी एक तादात्म्य स्थापित होता है।

—पारदर्शी (अमृत संदेश)

यह संकलन भाषाओं की कहानियों का एक ऐसा पुष्पगुच्छ है, जो पाठकों को भारत के विभिन्न प्रान्तों की संस्कृति की गंध से महकायेगा। इसमें कहीं बंगाल की मछली की गंध है, कहीं बिहार की दाल-भात का स्वाद।

इस संकलन में उन कहानियों को स्थान दिया गया है, जो साहित्य-प्रेमियों में चर्चित तथा रेखांकित हुई हैं। ये क्षण मात्र में ही पाठकों को अपनी ओर आकर्षित कर लेंगी। भाषा विशेष के साहित्य के सही मूल्यांकन की दिशा में यह संकलन दिशा-ज्ञान देने की क्षमता रखता है। विभिन्न भारतीय भाषाओं की चुनी हुई कहानियों का एक स्थान पर प्राप्त होना अपने आप में एक उपलब्धि है। आधुनिक कथा-साहित्य की भारतीय धारा को समझने में यह संकलन एक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

—पवनकुमार जैन (नवभारत टाइम्स)

इससे तथा पुस्तक के आरंभिक वक्तव्य में संपादक की समीक्षात्मक टिप्पणियों से निश्चय ही भारतीय कहानी की पहचान में सहायता मिलती है।

—रणवीर रांग्रा (आकाशवाणी)

एक समीक्षक बंधु ने प्रश्न उठाया है

हिन्दी अपभ्रंश की जेठी बेटी है। इसकी जो उपेक्षा हो रही है, वह किसी से छिपी नहीं है। आलोच्य कहानी-संग्रह में भी इसके दर्शन होते हैं। जिस जेठी बेटी को सबसे पहले स्थान दिया जाना चाहिए था, वह सबसे बाद में है।

इस संबंध में हमारा निवेदन मात्र इतना है कि रचनाओं का संयोजन अकारादि क्रम में किया गया है। जहाँ तक अपभ्रंश की जेठी बेटी के सम्मान का प्रश्न है, उसके प्रति हमारा आदर-भाव न होता तो हम यह संकलन हिन्दी में ही क्यों प्रस्तुत करते ? हम यह और जोड़ना चाहेंगे कि हमारे मन में हिन्दी के प्रति सम्मान की कमी नहीं, किन्तु, हम यह मानते हैं कि हिन्दी-प्रेम का एक तक़ाज़ा यह भी है कि हम अन्य भारतीय भाषाओं का पूर्ण सम्मान करें। यदि अकारादि क्रम में हिन्दी का स्थान सबसे बाद में न भी होता तो भी हम संभवतः हिन्दी की रचनाएँ अन्त में ही देना पसंद करते।

एक सुझाव यह भी आया है कि चयनकर्ताओं तथा संकलित कहानीकारों के साथ ही अनुवादकों का परिचय भी देना चाहिए। सक्षम अनुवादकों की

विरलता को देखते हुए इस सुझाव की सार्थकता असंदिग्ध है। हम प्रयास करेंगे कि भविष्य में इस ओर ध्यान दे सकें। हमें प्रसन्नता है कि देश के कुशलतम अनुवादकों का सहयोग हमें मिल रहा है जो न केवल अपनी भाषा के विश्वसनीय मर्मज्ञ हैं बल्कि जिनकी हिन्दी मुहावरे पर भी काफ़ी अच्छी पकड़ है।

जहाँ तक बन पड़ता है, हम विवादों से बचने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। कुछ मित्रों ने जानना चाहा है कि क्या हमारा चयन-मण्डल स्थायी है। निवेदन है कि ऐसा नही है। अधिकतम वैविध्य और प्रतिनिधित्व बनाए रखने के लिए या किसी चयनकर्ता की अतिव्यस्तता की मजबूरी को मद्दे-नजर रखते हुए हम चयन-मण्डल मे फेर-बदल कर लेते हैं।

एक सुझाव यह आया है कि हम इन चयनिकाओ को अंग्रेजी में भी प्रकाशित करें ताकि देशी साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ विदेशी पाठको तक भी पहुंचें। यह कार्य अत्यंत समय-साध्य है और इसके लिए पूरा तंत्र तैयार करना होगा। यह आग्रह भी है कि इन्हे अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रकाशित किया जाये। यदि अन्य भाषाओ की प्रमुख सस्थाएँ इस कार्य में रुचि ले तो हम इस ओर अग्रसर होने का प्रयास कर सकते है।

हम पिछले संकलनो की भूमिका मे कहते आये है और यहाँ फिर दोहरा देना चाहेगे कि इन सकलनो मे आने वाली कहानियाँ वर्ष विशेष मे प्रकाशित अपनी भाषा की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियाँ ही है, ऐसा हमारा दावा नहीं है। इन कहानियो को केवल इसी दृष्टि से पढा भी नही जाना चाहिए। कहानियो के चयन को लेकर मतभेद होना स्वाभाविक है। क्या इसे मात्र एक सयोग माना जाये कि मतभेद अधिकतर हिन्दी कहानियो के चयन को लेकर ही उत्पन्न होना है। या यह भी हो सकता है कि हमारी गति मुख्यत: हिन्दी में प्रकाशित टीका-टिप्पणियो तक ही सीमित होने के कारण हमे इस मतभेद की जानकारी होती रहती है। फिर भी, इतना तो है ही कि एकाध अपवाद को छोड़कर अन्य किसी भाषा के साहित्यकार अथवा समीक्षक ने अपनी भाषा का समुचित प्रतिनिधित्व न होने की शिकायत हमसे नही की। वस्तुस्थिति जो भी हो, हम तो केवल यही कहना चाहेंगे कि मतभेद की गुंजाइश पूरी-पूरी है, चाहे वह प्रकट किया जाये या नहीं। हमारे विचार से ऐसी चयनिकाओं की आवश्यकता एवं उपयोगिता इस सबके बावजूद बनी रहती है। इन रचनाओं को सर्वोत्कृष्ट न भी माना जाये तब भी संभवत: इस पर तो सहमत हुआ जा सकता है कि ये अपनी भाषा की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं और इन रचनाओं से समसामयिक भारतीय साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों, विशेषताओं और सीमाओं-संभावनाओं से अवगत होने की सुविधा प्राप्त होती है। यह सुविधा भी कम महत्त्व की नहीं है।

इस चयनिका में संकलित कहानियाँ पढ़ते समय सबसे पहला एहसास तो

यही होता है कि इनमें से अधिकतर सामाजिक सरोकार से सीधी जुड़ी हैं, वे साभिप्राय हैं। ये कहानियाँ केवल कहानी लिखने के लिए नहीं लिखी गयीं, बल्कि इनके पीछे कहानीकार की कोई मंशा है, वह कुछ कहना चाहता है और उसकी बात आज के आम आदमी की ज़िन्दगी से सीधा सम्बन्ध रखती है। इनमें हादसे हैं और नही भी हैं। पर ये उन दुर्घटनाओ की ओर अवश्य संकेत करती हैं जो आज भारतीय मानस मे घटित हो रही है। ये भारतीय समाज मे व्याप्त मिथ्या-डम्बरो, विरोधाभासो और सक्रमणकालीन मूल्य-सकट को बडी तीव्रता के साथ चित्रित करती है। ये आज की ज़िन्दगी के ऐसे दस्तावेज़ है, जो हमे चौंकाकर सोचने पर मजबूर कर देते हैं।

कुछ सपने हमे स्वाधीनता ने दिये, कुछ नेताओ ने, और कुछ हमने स्वयं देखे। वे सपने इन्द्रधनुषी भी हो सकते थे, किन्तु हुए नही। जिस तथाकथित सम्पन्नता की ओर हम क्रमश बढते गये है, या हम हॉक कर ले जाये जा रहे है, वह कोई प्राकृतिक चरागाह नही। कोई ऐसा उद्यान है जहाँ पौधे दूर-दूर से लाकर लगाये गये है, उनके पत्तो का रग नैसर्गिक नही, उनके फलो का स्वाद कडवा है। जैसे हम नही, वे ही हमे खा रहे है। जब कोई जाति या सस्कृति अपनी पहचान खोने लगती है, तब आगे वढते हुए भी वह अपने लक्ष्य से और दूर होती जाती है। वर्तमान भारत की सबसे बडी त्रासदी यही है कि हमने पुरानी खेती तो भूसा बनाकर डाल दी, नए बीज जो थोडे-बहुत रोपे वे हमारी धरती को रास नही आये। अध्यात्म और भावुकता हमारे देश की मिट्टी में, हवा मे घुले हुए है। उन्हे अपने भीतर भरे बिना हमारे फेफडे ठीक-ठीक काम नही करते। जनेऊ पहनकर बर्थडे-केक काटने वाले ब्राह्मण से अधकचरी भारतीयता की जो तुलना की गयी है, वह ध्यान देने योग्य है। बड़े शहर तो फिर भी एक बडी सीमा तक 'इम्म्यून' (सवेदनशून्य) हो चुके है किन्तु गाँव, कस्बे, देहात, छोटे शहर अब भी तडपते हुए, बौखलाते हुए देखे जा सकते हैं। प्राचीन मूल्यो के विघटन और नये मूल्यो के स्थापित न हो सकने के कारण जो रिक्तता पैदा हुई है, उसकी छटपटाहट सकलन की अनेक कहानियो मे विद्यमान है।

दोनो असमिया कहानियाँ असम की खुली हवा मे अधकचरी आधुनिकता के घुलते हुए धुएँ की कडवाहट अपने-अपने ढग से पेश करती हैं। 'आविष्कार' (दीपाली डेका) मे गाँव का एक भोला-भाला किन्तु मेधावी छात्र अरुण ज़िन्दगी को अपने ढग से जीना चाहता है, अपने सपने स्वय बुनना चाहता है, खुली हवा मे साँस लेना चाहता है और अपने ही तरीक़े से कुछ हासिल करना चाहता है, कुछ ऐसा करना चाहता है जो दूसरो के भी काम आये, किन्तु उसे भी अन्ततः साँचे में ढलना पड़ता है। तरक़्क़ी की एक बिल्कुल भिन्न कल्पना करने वाले

भौतिकतावादी समाज में अप्रासंगिक एवं अस्वाभाविक लगने के कारण वह पागल क़रार दे दिया जाता है। पौडर थोपे, सेण्ट लगाये मुखिया की बददिमाग़ बेटी उसे धिक्कारती है—'मूर्ख' ! याद आती है अज्ञेय की एक काव्य-पंक्ति—'इसको भी पंक्ति को दे दो !'

दूसरी असमी कहानी 'ए भव गहन वन' (डॉ० चन्द्र कटकी) में पाठशाला शिक्षक कृष्णमोहन गोस्वामी उन्मुक्त यौनाचार देखकर निश्चय करते हैं कि "लिलिमाई आदि को सिखायेंगे—मानव-शरीर देवता का पवित्र मन्दिर है, इस मन्दिर को पवित्र बनाये रखने का उत्तरदायित्व मनुष्य पर ही है।" परन्तु उनकी आँख खुल जाती है उनके नाम भेजे गये लिलिमाई के पत्र में यह पढ़कर—"अगर ऐसा मौक़ा उन्हें भी चाहिए तो उसके लिए वह तैयार है···।" हमारी भावप्रवण पवित्र लोक-संस्कृति पर आधुनिक देहजीवी सभ्यता के आक्रमण की असह्यता इस कहानी में अनुभव की जा सकती है।

दो शब्दों 'सुख-समृद्धि' का प्रयोग प्रायः साथ-साथ होता आया है। किन्तु ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ कि हमने दोनों को पर्याय मान लिया हो। सुख अपनी जगह है, समृद्धि अपनी जगह। सुख हमने अपरिग्रह में, त्याग में, परोपकार में, यथालाभ संतोष में माना था। समृद्धि तो मात्र एक साधन है। किन्तु आज हमने मान लिया है, या शायद हमसे मनवा लिया गया है कि समृद्धि ही सुख है। सुविधा ही सब कुछ है। पहले भी मादकता कनक में कनक से सौ गुनी अधिक मानी जाती थी, किन्तु उस मादकता को हेय माना जाता था और उसका तिरस्कार होता था। किन्तु आज वह मादकता बहुव्यापी हो गयी है, किन्तु बहुतिरस्कृत नहीं। ख़ुशहाली की खोज ने लोगों को दर-बदर कर दिया है, तोड़ दिये हैं परिवार और सभी स्नेह-सूत्र। 'संसार माया है' का मतलब लोग यह नहीं लगाते कि झूठ है, बल्कि यह लगाते हैं कि अर्थ के बिना जीवन व्यर्थ है। कोई नहीं है सगा-सम्बन्धी पैसे के बिना। मराठी कहानी 'दरार' (वा.गे. केसकर) की अबोध सुमि, जो अपने गाँव की सीमा से आगे कभी गई नहीं, शौक़ में भरकर पति के साथ अपने नव-विवाहित भैया के पास शहर जाने पर इसीलिए तो दुत्कार दी जाती है क्योंकि उसका पति सुखी भले ही हो, समृद्ध नहीं है। आज के समाज में कोई रिश्ता-नाता समृद्धि से बढ़कर नहीं है।

आर्थिक समृद्धि के पीछे दौड़ती संस्कृति के संदर्भ में लखिमी खिलाणी की सिंधी कहानी 'बोलती गुड़िया' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। समृद्धि के उच्च आसन पर आसीन है केवल राम। समृद्धि की दौड़ में केवल राम इतना आगे निकल गया है कि कोसों पीछे छूट गया है पारिवारिक सुख। अपनी ही बच्ची के एक वाक्य से उसकी समृद्धि का सारा नशा काफ़ूर हो जाता है।

इस कहानी के परिप्रेक्ष्य में उद्धृत हैं—'भारतीय कविताएँ : 1985' में

संकलित एक सिंधी कविता की कुछ पंक्तियाँ :

काफ़ी पैसे वाले हैं
लेकिन हाल ही में एक बड़ा हादसा हुआ
जिसमें इनकी याददाश्त खो गयी—
अब इन्हें कुछ भी याद नहीं रहा है
न इतिहास, न परम्परा,
न साहित्य और न संस्कृति,
इन्हें कुछ भी नहीं चाहिए
न अतीत, न भविष्य
न आकाश और न धरती
ये इस भीड़ में इसी पल जीते हैं···

—मोतीलाल जोतवाणी
(डी. दास सिप्पी की शाम)

निठल्लेपन की एक सज़ा है मोटापा। मलयालम कहानी 'कॉलोनी की एक सुबह' (एम. आर. मनोहर वर्मा) के प्रो० जोसफ़ मात्यु अपनी तोंद घटाने के लिए रोज़ सुबह भागने पर विवश हैं और भागते-भागते तमाशा बन जाते हैं।

संस्कार काम्य होते हैं और सुरक्षा-योग्य, किन्तु सभी तो नहीं। हिन्दी कहानी 'अतिथि देवो भव' (अब्दुल बिस्मिल्लाह) एक ऐसे ही विकृत संस्कार पर तीखा प्रहार है। क़स्बे से शहर आने वाले सलमान साहब को लगा था कि 'यहाँ के पढ़े-लिखे लोग प्रगतिशील विचारों के होते हैं, उनमें संकीर्णता नहीं होती। वे धर्मप्राण होते हुए भी एक धारणा से मुक्त होते हैं।' किन्तु शहर आकर उनका मोह-भंग होते देर नहीं लगती।

हिन्दी की दूसरी कहानी 'अहिंसा' (शैलेश मटियानी) अस्पतालों के बारे में है जो खुद बीमार हैं। उन क्रूर हृदयहीन चिकित्सकों के बारे में है जो मरीज़ को क़साई की तरह देखते है, जिन पर पैसा कमाने का नशा इतना सवार है कि उन्हें न तो रोगी की दशा दिखाई देती है न उसकी आर्थिक दशा। उन्हें तो सिर्फ़ अपनी फ़ीस से मतलब होता है, रोगी या उसके परिवार के साथ चाहे कुछ भी गुज़रे।

आज राजनीति में बची है केवल राज की भावना, नीति (जिससे बनती है नैतिकता) से उसका दूर का भी वास्ता नहीं। इस संकलन में दो कहानियाँ हैं राजनीतिक खोखलेपन के बारे में। तमिल कहानी 'राजतंत्र' (ना. पार्थ-सारथी) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की ऊलजलूलता को बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से पेश करती है और 'कुत्ता और पिन्सन' (शान्त रस) देशी राजनीति में व्याप्त

भ्रष्टाचार को बेनक़ाब करती है। देश में स्वाधीनता आने के बाद स्वाधीनता लाने वालों पर क्या बीती, इसका बहुत ही मार्मिक चित्र इस कहानी (कुत्ता और पिन्सन) में प्रस्तुत किया गया है। आज़ादी के लिए क़ुर्बान हो जाने वाले एक देहाती की स्वाभिमानी पत्नी के अनुभवों की यह एक दर्दनाक कहानी है :

'देश स्वतन्त्र हो गया था। पर मुझे जीवन पहले से कठिन लगा। ऐसा लगने लगा कि जीवन रज़ाकारों के वक़्त से भी कठिन हो गया था। लोग काफ़ी बदल गये थे। कोई कहने-सुनने वाला नहीं था। मुझे सब रज़ाकारों जैसे दीखने लगे। सबकी नज़र मुझ पर पड़ी थी। पानी लेने को निकलती तो सब ऐसे देखते मानो फाड़कर खा जायेंगे। मैंने सोचा था कि मैंने बड़े कष्ट उठाए हैं, लोग मुझे सम्मान से देखेंगे, पर यहाँ तो उल्टा हो गया। मेरे गाँव के लोगों का विचार था कि यह अकेली औरत है, इसका कोई नहीं है, देखने-सुनने में अच्छी है, क्यों न एक हाथ आज़माया जाये? इस देश में एक अकेली बेसहारा औरत को जीना नहीं चाहिए। अगर ऐसा हो तो उसे वेश्या बनना पड़ता है। नहीं तो लोग उसे वेश्या बना देते हैं। अगर ऐसे जीने की इच्छा न हो तो मर जाना चाहिए। इसके अलाबा यहाँ रखा ही क्या है?'

कहा जाता है कि पुरुष के भाग्य और नारी के चरित्र को विधाता तक नहीं जानते। त्रियाचरित्र से सब घबराते हैं। परन्तु पुरुषसत्तात्मक समाज में, जैसा कि एक बहुत बड़ी सीमा तक हमारा समाज है, पुरुष का भाग्य भले ही अज्ञेय हो, नारी की नियति तो लगभग सर्वविदित ही है। भारतीय नारी के हाथ में भले ही नारी-मुक्ति आन्दोलन का झण्डा हो, पर उसकी कलाई मे पड़ी ज़ंजीरों की पकड़ कमज़ोर नही हुई है। तमाम नारेबाज़ी, लफ़्फ़ाज़ी, नाटक-नौटंकी के बावजूद आज भी भारतीय समाज मे औसत नारी की स्थिति दोयम दर्जे के नागरिक की ही है। उसे आज भी ज़िन्दगी अपनी तरह से गुज़ारने की सहूलियत नहीं। नारी की मुक्ति-कामना और उसकी परवशता आज की कहानियों का एक मुख्य विषय है। वे कहानियाँ चाहे लेखक लिख रहे हों या लेखिकाएं, अलग-अलग भाषाओं में लिखी जाने के बावजूद इस संग्रह की अनेक कहानियाँ नारी-स्थिति के इस विरोधाभास को बड़ी तीव्रता से व्यक्त करती हैं। इस संदर्भ में कन्नड़ की कहानी 'ज़ुलेखा' (फ़क़ीर मुहम्मद कटवाड़ी) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उदारतावादी कथा-नायक औरत की आज़ादी का दम भरता है और अपने बड़े भाई की बेवा से शादी कर लेता है। लेकिन क्या वह उसे बीवी का हक़ दे पाता है? वह उसे जो नक़ली आज़ादी देता है उससे ऊबकर ज़ुलेखा चीख उठती है :

'आपने कहा था सारे मर्द औरतों के शोषक हैं। अब आप क्या कर रहे हैं? मुझे एक कोने में बिठाकर शहर-भर की लड़कियों के साथ गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। यही आपका संघर्ष है? औरत को सम्मान देने के आपके सारे विचार पाखण्ड हैं।'

यह कहानी एक तमाचा है उन लोगों के मुँह पर, जो नारी-स्वतन्त्रता के गीत तो गाते है किन्तु उन गीतों की धुन स्वयं बनाते है।

ऐसा नही कि नारी का शोषण केवल पुरुष ही करता है। नारी की सबसे बडी शत्रु तो नारी ही है। नारी कभी पुरुष के हाथों की कठपुतली बनकर, कभी मिथ्याभिमानवश, कभी अनजाने मे और कभी निरे भोलेपन के साथ स्वयं नारी पर अत्याचार करती है। गरीब परिवार मे कमाऊ बेटी की स्थिति दुधारू गाय जैसी होती है। उसकी आर्थिक आत्म-निर्भरता उसकी विवशता बन जाती है। कश्मीरी कहानी 'दुधारू गाय' (अमीन कामिल) मे इस कटु सत्य को बडी तीक्ष्णता के साथ दर्शाया गया है

'गाय के सींग नहीं थे। कहते है ऐसी गाय में जो ताक़त सींग उगने में चली जाती है, वह भी दूध देने में लग जाती है। यह गाय जाने क्या जानकर अपनी बछिया को टुकर-टुकर देखती रहती थी। अपनी दुहिता को देखकर शायद उसे अपना बचपन याद आता था। शायद सोचती थी कि इस संसार में सारा प्यार और लगाव लालच पर ही टिका है। दूध के लालच के बिना किसने बाँझ गाय के आगे घास डाली है?'

पुरुष और नारी की विचार-तरगों मे वैषम्य के कारण पुरुष को नारी की उपस्थिति अखर सकती है, किन्तु कालान्तर मे उसकी अनुपस्थिति उसे और भी विकल बना देती है। गुजराती कहानी 'घर' (रवीन्द्र पटेल) मे जब नायक विचारो मे मतभेदो के कारण अपनी पत्नी को तलाक देकर अकेले घर मे लौटता है, तब घर के एक-एक कोने मे, सामान पर, एक-एक कण पर उसकी छाप पाता है, और अपने अधूरेपन से काँप-काँप जाता है।

तेलुगु कहानी 'एक डग' (विविन मूर्ति) का नायक स्वयं को आधुनिक ही नही, अत्याधुनिक विचारो को घोषित करता है और अपनी भावी पत्नी से भी यही अपेक्षा करता है कि वह सब रूढियो और मर्यादाओ को ताक पर रख उन्मुक्ततापूर्वक उससे पत्राचार एव व्यवहार करेगी। लडकी वाले विवश होकर लडकी को लडके की बात मानने की सलाह देते है, क्योंकि उनके अनुसार .

'ठीक है जो। औरत तो जानवर की तरह भाँय-भाँय करती रहती है पर होता वही है जो मंजूरे-मर्द होता है।'

किन्तु ललिता शर्मीली और पुराने विचारो की होने के बावजूद यह ज़िद

ठान लेती है कि वह कठपुतली नहीं बनेगी, चाहे उसकी क़ीमत उसे कुछ भी चुकानी पड़े। वह अपने भावी पति को लिख भेजती है—

'आँखों के सामने से भय को दूर किया जाये तो सारा संसार अपना हो जाता है।'

तेलुगु की दूसरी कहानी 'ऑपरेशन फ़ाल्कन' (अल्लम शेषगिरि राव) एक ऐसी औरत के इर्द-गिर्द घूमती है जो एक खूंख्वार आदमी की हवस का शिकार हो जाती है। व्यंग्य तो यह है कि वह जिस व्यक्ति से प्रेम करती है और जिससे विवाह करना चाहती है, वह उसी दरिन्दे का बेटा है। वह अपने प्रेमी से सवाल करती है कि 'एक बात है। अगर मेरे बच्चा हुआ तो वह तुम्हारा बेटा होगा या तुम्हारा भाई?'

पंजाबी कहानी 'डिफ़ेंस लाइन' (गुरुदेव सिंह रूपाणा) एक युद्धरत सैनिक की कहानी हैं जिसे अगले मोर्चे से बदलकर दूसरी सुरक्षा रेखा पर लगा दिया गया है। रास्ते में उसका गाँव पड़ जाता है और उसे एक रात की छुट्टी मिल जाती है। उसका साथी उसे रम की बोतलें थमाते हुए कहता है :

'अरे सिंह, यह तीसरी डिफ़ेंस लाइन है, फ़ायरिंग ज़्यादा मत करना।'

गोलाबारूद की बौछार से बचकर आया और गोलाबारूद की ज़द में जाने के लिए तैयार एक फ़ौजी वह रात मायके आयी हुई अपनी पत्नी के साथ गुज़ारना चाहता है, लेकिन उसका साला स्थिति भाँपकर चीख पड़ता है—

"यह कंजड़खाना यहाँ नहीं चलने का।" इसी साले ने बहन की विदाई के समय हाथ जोड़कर कहा था कि अब वह हमसे ज़्यादा तुम्हारी है। दीदार सिंह सोचता है—"अगर मेरी ही ज़्यादा है तो मेरी ज़्यादा बनने क्यों नहीं देते।" यह कहानी गाँव, देहात के घरेलू वातावरण को विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत करती है जहाँ संकटकाल में भी, अपवादस्वरूप भी परिस्थितियाँ बदलती नहीं और लड़की को हर दशा में पारिवारिक रीति-रिवाजों का पालन करना होता है।

बाँग्ला कहानी 'प्रथम खण्ड' (सुनील गंगोपाध्याय) की मिली किताबों की बेहद शौक़ीन है, जो ज़ाहिर है उसकी आँखों में सपने जगाती होंगी और घर की चारदीवारी से खींच न जाने कहाँ-कहाँ ले जाती होंगी। किताबें पढ़ते-पढ़ते शरारती किशोरी अचानक बड़ी हो जाती है। वह कालेज में पढ़ना चाहती है, शहर जाना चाहती है। मगर कुछ नहीं होता। होता है सिर्फ़ यह कि उसकी शादी एक ऐसे आदमी से तय हो जाती है जिसकी विशेषता यह थीकि वह सिर्फ़ एक कपड़े में मिली को स्वीकार करने को राज़ी हो गया। यह और बात है कि वह एक विधुर था और उसके दो बच्चे थे। शादी होते ही उन दोनों बच्चों की ज़िम्मेदारी मिली पर आने वाली है। यह है कहानी का एक खण्ड।

लेखक के अनुसार इस कहानी का दूसरा खण्ड भी हो सकता है जिसमे एक दमदार लडका अपने माँ-बाप की दहेज की माँग का विरोध कर मिली से साहस-पूर्वक शादी कर लेता है। किन्तु यह खण्ड लिखने का साहस लेखक ने भीनहीं किया। हालात को देखते हुए यथार्थवादी लेखक होने के नाते वह दूसरा खण्ड लिखना भी तो कैसे !

मराठी की कहानी 'पडोसी (राजेन्द्र बनहट्टी) अन्त तक पाठक का कुतूहल जगाये रखती है। उसके कथानायक के बारे मे कुछ कहना उत्सुक पाठको के साथ अन्याय होगा। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि वह भी स्त्री-पुरुष सबध पर ही आधारित है तथा एक और अकाट्य प्रमाण है इसका कि सब पुरुष बुनियादी तौर पर एक-से होते है।

सिधी कहानी 'स्त्री और पुरुष' (पोपटी हीरानदाणी) मे जो स्त्री आती है वह एक पराधीन बगालन है जिसे उसकी सौतेली माँ ने बेच दिया है। 'वह एक बेसहारा स्त्री थी और उसे एक पुरुष ने घर की चारदीवारी और एक छत का सहारा दिया।' वह उस एहसान का बदला उससे न जाने क्या-क्या काम कराकर सूद समेत वसूल करता था।

क्या ये तमाम कहानियाँ 'वीमेन लिब' के पक्षधरो के नाम एक खुली चुनौती नही है ? क्या यह वही समाज है जो यह मानता है कि जहाँ नारी पूजी जाती है वही देवता वास करते है ? हममे यदि इतना साहस नही है कि नारी को पुरुष के समान सम्मान दे सके तो हम कम से कम अपने चेहरो से नारी-समर्थन के मुखौटे तो उतार देने चाहिए।

इस सग्रह की दो कहानियाँ 'एक मोड' (मनोज दास उडिया) तथा 'कथा एक स्तम्भ की' (सैयद मुस्तफा सिराज बाँग्ला) तर्कातीत विश्वासो ओर असामान्य अनुभूतियो से सबध रखती है और दो कहानियाँ 'हरा लडका' (अजलि खाडवाला गुजराती) तथा 'म्यूटेशन' (गोपिक्कुट्टन मलयालम) वैज्ञानिक विषयो एव मान्यताओ से सबधित है। 'एक मोड' मे लेखक ने यह खोजने का प्रयास किया है कि क्या मृत्यु का पूर्वाभास होता है और यदि होता भी है तो किस रूप मे ?

'कथा एक स्तम्भ की' एक रहस्यमय स्तम्भ के बारे मे है

चौंतीस नम्बर नेशनल हाईवे पर फ़रक्का की ओर जाते हुए हरिमाटी मधू-निया के बाद वायुकोण के आकाश में एक साबूत धूसर स्तम्भ दिखाई पड़ता है। बस-यात्री दबी आवाज में कह उठते है—वो देखो खरजूना का स्तम्भ। वे कपाल और सीने से हाथ छुआते हैं। खरजूना के बाजार में बस रुकते ही कुछ लोग दौड़ कर स्तम्भ के नीचे पैसा रख प्रणाम कर आते हैं।

भारतीय सस्कृति का मूलमन्त्र है 'वसुधैव कुटुम्बक'। भारतीय दर्शन मे हिसा के लिए कोई गुजाइश नही है। वह हमे जीव मात्र से प्रेम करना सिखाता

है और यह मानता है कि बनस्पति तक में अन्य प्राणियो के समान प्राण होते हैं और पेड़-पौधे भी सुख-दुःख, दुलार-तिरस्कार आदि का अनुभव करते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि रात को पेडो को न छेडो, क्योंकि तब वे सोते है। महान भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने इस दार्शनिक अवधारणा पर वैज्ञानिक अन्वेषण की मोहर लगा दी। 'हरा लडका' का मुख्य पात्र तो वृक्षो से इस सीमा तक अभिन्न हो जाता है कि उसे उनके हर्ष-विषाद की अनुभूति होने लगती है। यहाँ तक कि वह स्वय वृक्ष मे परिवर्तित हो जाना चाहता है।

मलयालम कहानी 'म्यूटेशन' (गोपिक्कुट्टन) मे एक प्राकृतिक चमत्कार की वैज्ञानिक व्याख्या है।

उर्दू की कहानियो मे एक कहानी 'सरसो के फूल' (म क. महताब) समसामयिक परिस्थितियो से जुडी प्रेरणादायक कहानी है और दूसरी कहानी 'खुशबू बन के लौटेंगे' (देवेन्द्र इस्सर) एक चिन्तन-परक दार्शनिक कहानी है।

'सरसो के फूल' घोर अँधेरे मे एक उजली किरण की तरह है जो हमे आश्वस्त करती है कि—

'यह धरती है। इसका स्वभाव कभी नहीं बदलता। कन्धार से कौरव तक पर कितनी बार और कितना रक्त बहाया गया होगा। कितनी आग इसे लगाई गई होगी। कितने भाले इसके सीने में गाड़े गये होंगे। किन्तु अब भी इसके सीने में उतने ही सुन्दर सरसो के फूल खिलते है जितने पहले खिला करते थे क्योंकि धरती अपना स्वभाव नही बदलती।'

दूसरी उर्दू कहानी 'खुशबू बन के लौटेंगे' एक हताश व्यक्ति के मन मे उठने वाली विभिन्न तरगों को पकडने की कोशिश है और फलसफे के धरातल पर मुखातिब होती है

'जो शरीर के दमन से दिल की दुनिया में दाखिल होते हैं वे ऋषि बन जाते है और जो दिल की अवहेलना करके बिस्तर-ब-बिस्तर विचरते है वे संवेदन-शून्य···। इस कशमकश में कभी दिल टूटता है कभी जिस्म परास्त होता है।'

कश्मीरी कहानी 'और एक दिन' (रतनलाल शान्त) मे मध्यवर्ग के मनोविज्ञान को बखूबी अकित किया गया है और दिखायी गयी है झूठी हँसी मे सच्चा दर्द छिपाने की कोशिश।

'हाय बेवक़ूफ़। ये जो आज यहाँ बस में तुम्हारा मजाक़ उड़ा कर या यों ही बेवजह हँसे-कूदे जा रहे है, घरों में इनका भी खून जम गया होता है। पर एरियर इनके भी निकले है और हमने सैर की है। जन्म-मरण को धता बता के। फिर तुम ये कैसी बेअक़्ली की बात कर रहे हो ?'

उडिया कहानी 'मोह' (विभूति पट्टनायक) और पजाबी कहानी 'नदिया-किनारे वृक्ष' (मुख्तार गिल) वृद्धावस्था की मनोदशाओ का मार्मिक चित्रण है जिनमे मानवीय सम्बन्धो की सार्थकता को अकित किया गया है। 'मोह'

कहानी में एक बच्चे का मोह दादा के सन्यासोन्मुख मन में जगत के लिए फिर मोह उत्पन्न कर देता है।

पंजाबी कहानी 'नदिया किनारे वृक्ष' में यह दर्शाया गया है कि वृद्धावस्था मे पति-पत्नी के सम्बन्ध, भिन्न रूप में ही सही, और भी गहरे हो जाते है।

पेड-पौधों से ही सम्बन्धित एक और कहानी है—'फूल का गमला' (सुब्र, बालन तमिल)। इस कहानी मे दो भिन्न जीवन शैलियो को चित्रित किया गया है। पुराने साहब ने स्वय लाकर एक गुलाब का पौधा रखवाया था। वह रोज उस गुलाब के पौधे की देखभाल करते जैसे एक बच्चे का पालन-पोषण करते है। उनकी जगह नये साहब आये तो झँझला कर उन्होने कहा 'लो··· इस कूडे-करकट को लेकर आँखों से दूर फेंक दो···कोई ले जाने के लिए कहे तो दे दो। जहाँ देखो वही कीडे-मकोड और कूडा-करकट।' तीसरे कोण पर है दफ्तर का चपरासी रमैया, पौधे की देखभाल जिसके जिम्मे है। उसकी सारी चिन्ता यही है कि इस पौधे को बचाये कैसे। वह उस पर सिगार की राख झडते देखकर तडप जाता है। हार कर उस पौधे को ही वहाँ से उठाकर ले जाता है।

ये दोनों कहानियाँ साक्षी है कि तमाम दूरियो के बावजूद सोच और संवेदन के धरातल पर हम भारतवासी एक-दूसरे से जुड़े हुए है।

हमे पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत चयनिका समसामयिक भारतीय जीवन और भारतीय साहित्य को समझने मे कुछ न कुछ सहायता अवश्य करेगी और विविध भाषाओं मे रचित भारतीय साहित्य की मूलधारा को आत्मसात् करने मे इसकी विनम्र भूमिका उपयोगी मानी जायेगी।

हम प्रयत्नशील है कि आगामी चयनिका (भारतीय कहानियाँ 1986) भी शीघ्र से शीघ्र आप तक पहुँच सके।

हम कृतज्ञ है चयन-मण्डल के सदस्यों के प्रति जिन्होने वर्ष 1985 मे प्रकाशित अपनी भाषा की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ पढी और उनमे से दो का चुनाव किया, सहयोगी लेखकों के प्रति जिन्होने कृपापूर्वक चयनिका मे अपनी कहानी के समावेश की अनुमति दी, उन समस्त स्रोतो के प्रति जहाँ से ये कहानियाँ ली गयी और अनुवादको के प्रति जिन्होने हिन्दी पाठको के लिए इन कहानियों को सुलभ बनाया। साथ ही उन साहित्य-मर्मज्ञो, समीक्षकों और सुधी पाठको के प्रति हम विशेष रूप से आभारी है जिन्होने हमारी इस योजना का स्वागत किया, इसे अपनाया और इसमे सुधार के लिए सुझाव भेजे।

—बालस्वरूप राही
सचिव, भारतीय ज्ञानपीठ

असमी

• दीपाली डेका

• डा. चन्द्र कटकी

(अनुवादक—नबारुण वर्मा)

आविष्कार



दीपाली डेका

आज सुबह से ही पढ़ने में या किसी दूसरे काम में अरुण की तबीयत नहीं लग रही है। पौ फटते ही बिस्तर से उठने पर उसकी नजर सुबह के उस लाल आकाश पर पड़ी थी जो हर सुबह ऊषा-काल में लाल अबीर का खेल खेलता अपने सौन्दर्य और रूप को उजागर कर आदमी का मन हरण करता रहा है। उस ओर देखकर उसकी आँखें स्तब्ध हो गई थीं, यह दुनिया कितनी खूबसूरत है। इतने अत्याचारों, इतनी निर्ममता के बावजूद वह चिरकाल अपने सौन्दर्य को सहेजे वैसी ही चल रही है। भगवान भी कितना सुन्दर कला-शिल्पी और वैज्ञानिक है। दुनिया की कोई भी रचना उसने अकारण नहीं की है। वह जो उगता हुआ लाल सूरज है, पानी है···।

उसके चिन्तन में रुकावट पड़ गयी। कोई चीख रहा था—"अरे अरुण, अरुण, तुझे हो क्या गया है ? पत्थर की मूर्ति की भाँति एकटक क्या देख रहा है ? उधर माँ तुझे चाय पीने के लिए खोज रही है।"

उस आदमी की बातों से तल्लीनता में रुकावट पड़ जाने के कारण उसे अच्छा न लगा। वह बड़बड़ा उठा—भुक्खड़ों का दिन सिर्फ़ खाते-खाते ही जायेगा। इनसे कोई काम होने वाला नहीं है। पेट अगर एक वक़्त ख़ाली रह जाए तो हल्ला मच जाता है।

घर जाने की इच्छा न होते हुए भी वह गया। जाते-जाते वह ख़ुद अपने मन में गुनगुनाता रहा—फँहु दिले जालि, उठा बनमाली···।[1] साथ ही उसे याद हो आया, आजकल तो लोग बरगीत[2]

1. असमिया गीत की एक कड़ी—पौ फट गई ! बनमाली, अब जाग उठो !
2. शंकरदेव माधवदेव-रचित भक्ति-पद।

गाते नहीं, हिन्दी फ़िल्मी गीत ही गाते हैं। हिन्दी फ़िल्मी गीतों के बग़ैर तो अब कहीं कुछ होता ही नहीं। लोगों को न जाने क्या हो गया है !

गुड़ के साथ एक गिलास चाय हाथ में लेकर उसने सोचा—आजकल तो गाँवों के लोग भी गुड़ को 'मिठै' कहने पर नहीं समझते, बिहार और उत्तर प्रदेश से जो-जो नाम देकर सामान यहाँ भेजते हैं, उन्हीं नामों का इस्तेमाल लोगों को अच्छा लगता है। असम के लोग अखिल भारतीय बनते जा रहे हैं, पर भारत के दूसरे स्थानों में असम का मतलब है जंगल; रुपये कमाने का सुनहला अड्डा। यहाँ आकर किसी को आंचलिक भाषा सीखने की ज़रूरत नहीं। वे अपने प्रान्त की बोली यहाँ चलाते रहें तो यहाँ के स्थायी निवासी उनसे झुककर, टूटी-फूटी ही सही, वही बोली सीखकर बोलने की कोशिश करेंगे। बात तो ठीक ही है, भाषा सीखने में भला दोष कहाँ है ? तिस पर कहते हैं कि हमीं लोग घोर जातीयतावादी हैं।

पढ़ना शुरू करने के लिए उसने पहले भूगोल की किताब खोल ली। कक्षा में भूगोल लेने वाले लड़के उसके समेत दो ही हैं। दूसरों ने ज़्यादा नम्बर पाने की आशा से संस्कृत ली है। माँ-बाप, मास्टर सबकी इच्छा यही है कि परीक्षा में नम्बर ज़्यादा आयें। कक्षा के शिक्षक के यह कहने पर उसने इस तरह से जवाब दिया था—"सर, संस्कृत लेने पर सुबह संस्कृत में समाचार सुनने की सुविधा होती है ज़रूर, पर ईश्वर ने इस संसार में जो पानी, मिट्टी, आकाश दिये हैं, उनके बारे में भी जानना चाहें तो हर्ज क्या है ? पुरानी किताबें आदि तो बाद में भी पढ़ी जा सकती हैं।..."

—"इसकी बातें तो बड़ी-बड़ी हैं।" सर ने गुस्से से कहा। कक्षा का दूसरा हमउम्र लड़का बोला—"सर, वह तो ऐसा ही है, कितनी ही बातें दूसरों से मिलती नहीं। कुछ ऊटपटाँग भी है।..."

उसकी आखिरी बात पर अरुण को इतना गुस्सा चढ़ आया कि यह कक्षा है, इस बात को भूलकर एक ही छलाँग में उस लड़के के पास जाकर उसे मारने के लिए आस्तीनें चढ़ा लीं। क्षण-भर में हो-हल्ला मच गया। मास्टर ने देखा, मुसीबत आ गयी। कुछ ही देर में स्कूल-भर में यह बात फैल गयी कि नवीं कक्षा में कोई बड़ा गोलमाल हो गया है। पढ़ाने में जुटे शिक्षक लोग वहाँ पहुँचे, हेड मास्टर भी आये। फिर कुछ देर बाद अरुण को हेड मास्टर के कमरे में ले जाकर उससे जवाब तलब किया जाने लगा।

अरुण गाँव के ही क्यों, दूसरे सभी लड़कों से कुछ अलग क़िस्म का था। उसके स्वभाव में थी, एक ज़िद और एकाग्रता की मनोभावना, साथ ही सहनशीलता भी। वह खेतिहर का लड़का था जो हमेशा किसी न किसी नये सोच-विचार में डूबा रहता। शस्य और प्रकृति को बचपन से ही मुक्त रूप से वह पाता रहा था

तथा वैसे ही उन्हें अपनाता भी रहा था। इसी कारण स्वाधीन विचारधारा के कारण बोल-चाल में वह आडम्बरहीन तथा स्पष्टवादी बन गया था। प्रधान शिक्षक की जिरह शुरू हुई—"तू अपने 'सर' की बात सुनना तो दूर, उनसे ज़बान लड़ाकर फिर मार-पीट करने क्यों गया था ?"—"सर, सर के साथ तो मैंने ज़बान नहीं लड़ाई थी। सर कह रहे थे संस्कृत के बारे में और मैं कह रहा था भूगोल के बारे में। मुझे तो वही अच्छा लगता है। और सच कहूँ तो मैं सर के साथ अमृत-मंथन ही कर रहा था।"

—"क्या कहा, क्या कहा ?"···एक साथ कई जने बोल उठे। किसी ने कहा—"भला इसकी हिम्मत तो देखिए !" कोई बोला—"पागल है !" सबके ऐसे हमलों से कोई कम कलेजे का लड़का होता तो रो ही पड़ता। मगर अरुण तो जन्म से ही अलग धातु का बना था। ज़रा भी डरे या विस्मित हुए बग़ैर उसने निर्भीकता से कहा—"हाँ, ठीक ही कह रहा हूँ। किसी विषय की अच्छाई या सचाई के बारे में जानने के लिए कभी-कभी लोगों में तर्क-वितर्क तो होता ही है। और वितर्क का मतलब झगड़ा करना या मज़ाक़ उड़ाना नहीं है। वह कभी-कभी अच्छा जवाब भी देता है, आप लोग सबमें सिर्फ़ बुरा ही क्यों देखते हैं ?"

—"भला इस नाचीज़ की ढिठाई तो देखिए !" इतिहास पढ़ानेवाले 'सर' बोल उठे—"अमृत-मंथन करने के लिए तुझे पिछली बार कितने नम्बर मिले थे ? सौ में से पचीस। मैंने ही अंक बढ़ा दिये थे।"

—"इतिहास मुझे बुरा लगता है। दुनिया के सुविधाभोगी बदमाशों की चर्चा ही उसमें ज़्यादा रहती है। राजे-महाराजे भला हैं कौन ? एक-एक डाकूदल के सरदार ही न ?"

इस बार सबको हँसी आ गयी।

—"यह पंडित बनेगा।"

—"यह बड़ा भारी चोर-उचक्का बनेगा।"

यह सब सुनकर अरुण ने लापरवाही से कहा—"मैं पंडित और चोर बनूँगा ? सच बात कहने वाला चोर होता है ? जो नोटों को कंठस्थ करवाना ही शिक्षा कहती है, उस मंडली में मैं नहीं हूँ।"

स्कूल के गणित-शिक्षक ने ही उस बार उसे बचाया था। उन्होंने हेड मास्टर से विनती की—"सर, उसे छोड़ दें, वह कुछ दूसरी ही तरह का है।"

फिर भी हेड मास्टर का गुस्सा शान्त नहीं हुआ। सज़ा के तौर पर उसे एक महीने के लिए स्कूल से निकाल दिया गया।

हेड मास्टर द्वारा उस आदेश के जारी किए जाने के पहले अरुण ने गणित-शिक्षक हरेश्वर को नमस्कार कर कहा—"सर, सभी सर आपकी तरह नहीं होते, मुझे माफ़ कर दें।" और किसी की तरफ़ देखे बिना वह घर की ओर चल पड़ा।

हरेश्वर मास्टर को मन में बड़ा बुरा लगा। जंगल के बीच पड़े हुए सोने के टुकड़े-जैसा अरुण इस भीतरी गाँव का सबसे होनहार छात्र था। बातों में स्पष्टवादी होने पर भी उसका मन और उसकी प्रतिभा अतुलनीय थे। आज मानो झुंड-भर बावले कुत्ते उसे काट-फाड़ कर चिथड़े-चिथड़े कर खा डालना चाहते थे।

लगभग घंटे-भर स्कूल में रहने के बाद अरुण के घर पहुँचने पर हरेश्वर मास्टर को पता चला, अरुण खाना खाकर कहीं निकल गया है। उनकी छाती धड़क उठी, मन आशंकित हो उठा। अरुण किस ओर जा सकता है, इसका पता लगा कर ज़रा भी देर किये बग़ैर वह नदी की तरफ़ निकल गये। घाट तक पहुँचने के पहले ही बाँसुरी की धुन में एक करुण गीत की ध्वनि उनके कानों में आयी। आनन्दी दास[1] का वह गीत—

जीवने मोर सन्धिया ह'ल, समनीया,
जीवने मोर सन्धिया ह'ल।
सिपारे ये कोनोबाइ माते अ' रिङियाइ
याबरे समये ह'ल।...
(जीवन की मेरी संध्या आ गयी साथी,
जीवन की मेरी संध्या आयी!
उस पार कोई पुकार रहा
जाने की बेला आयी।...)

ओह, गीत की धुन और कथा कैसी करुणा भरी है! कौन बजा रहा है बाँसुरी में? हरेश्वर मास्टर ने दूर से ही देखा—पानी में एक कदम्ब के पेड़ के नीचे एक छोटी-सी नाव बँधी है। उस पर आराम से लेटा हुआ अरुण सब-कुछ भूला-सा आकाश की ओर नज़र टिकाये एकान्त मन से बाँसुरी बजा रहा है।

मास्टर की आँखों से आँसू निकलना चाहते थे। वह एक गाँव के ग़रीब आदमी के बेटे थे। गणित में वह अच्छे थे। अच्छी तरह से पास भी किया था। बहुत-कुछ सोचा करते थे। ट्राम्बे, ह्यूस्टन, केप, केनेडी आदि के बारे में सोच-कर अच्छा लगता था, मन भी उड़ता रहता था। मगर उसके बाद पैसे के अभाव के कारण वह पढ़ नहीं पाये। अपनी ज़मीन-जायदाद बेचकर ही वह गाँव के स्कूल की यह नौकरी जुटा पाये थे। इस क्षण वह प्रार्थना कर रहे थे—भगवान, अरुण के साथ ऐसा न हो! वह सुविधा से वंचित न हो! इंसान और दुनिया की भलाई के लिए वह भी कुछ बने!

अरुण तब भी बाँसुरी में तल्लीनता से धुन बजाये जा रहा था। देखने पर

---

1. असम के प्रख्यात गीतकार, 'बन कोंवर' के रूप में प्रसिद्ध।

इस क्षण वह दुनिया के सबसे सुखी इंसान-सा लग रहा था। एक अँगोछा और एक अधमैली गंजी पहने था।

हरेश्वर मास्टर ने अरुण को ज़्यादा परेशान करना नहीं चाहा। पर अरुण ने 'सर' को देख लिया। उसका बाँसुरी बजाना रुक गया। नाव से तुरन्त छलाँग लगाकर वह तट पर आ गया। बोला—"सर!" उसकी आवाज़ में विनय का स्वर था। अरुण हरेश्वर मास्टर की इज़्ज़त करता था, कुछ समीप जाकर कहने लगा—"सर, क्या घाट पर किसी की खोज में आये हैं?"

मास्टर ने सिर हिलाकर कहा—"नहीं···तुझे।" फिर क्षण-भर रुक कर थूक निगल कहने लगे—"कोई विषय तुझे नापसंद हो सकता है, मगर उसी से कोई एक ही विषय के लिए रुका नहीं रहता। किसी भी तरीक़े से उसे जीत लेता है। तू भी वही कर। आगे चलकर जो विषय पसन्द हो, उसे ही चुन लेना। जो अच्छा न लगे, उसे छोड़ देने से ही बस हो जायेगा।"

हरेश्वर मास्टर की बातें अरुण के भेजे में कितनी घुसीं पता नहीं, परन्तु उसने सिर खुजलाते हुए कहा—"ठीक है सर। चलिए, मुझे भी खेत में जाना है। पिताजी की तबीयत ज़्यादा ठीक नहीं है।"

घाट से गाँव में जाने की राह कच्ची थी। दोनों ओर जंगल थे। दोनों आगे-पीछे होकर चल पड़े। घर पहुँचकर अरुण बैलों को खोलकर खेत की ओर निकल गया। तब भी वह कोई धुन गुनगुना रहा था।

अरुण तल्लीनता से खेत में हल जोतता रहा। बारिश की बूँदों से शरीर भीग रहा था। उस जेठ की गरमी में बारिश अच्छी ही लग रही थी। बीच-बीच में बादल गरज रहे थे। बैल हल चलाते-चलाते रुक-रुक जाते थे। अरुण भी मंथर हो जाता। मिट्टी और बारिश के मेल से उसके मन में एक दूसरा ही रूपान्तर हो रहा था। बारिश की बूँदों से ढँकी धरती उसे एक रत्न-भंडार जैसी ही लग रही थी। नन्हीं-नन्हीं सफ़ेद बूँदें मोतियों की भाँति, उसके चारों ओर छिटक रही थीं। बारिश के बीच वह निर्लिप्त था। हल चलाने वाले दूसरे किसान हल चलाना छोड़ पेड़ों के नीचे या जापी के नीचे बारिश के थमने की प्रतीक्षा कर रहे थे। अरुण मानो सब-कुछ भूल चुका था।

बारिश थम गयी। खेत के दूसरे सिरे से मानो कोई पुकार रहा था—अ··· रु···ण! आवाज़ माँ की थी। उस बारिश में घर न पहुँचने या कुछ विपत्ति आदि होने की आशंका से वह खेत तक आ पहुँची थी। हल चलाना छोड़कर अरुण माँ के पास आया। उसके पैर घुटने तक कीचड़ से सने थे। माँ चीख़कर बोली—"तेरे साथ के लड़के स्कूल से लौटकर लावा भुनाई-सी किताबें पढ़ रहे हैं और तू इतनी बारिश में आकर हल चलाने में जुटा है! चल, पिताजी बुला रहे हैं···।"

"बारिश में भीगने की मेरी आदत है। जा, मुझे कुछ नहीं होगा। बारिश

में भीगते ही बीमार पड़ जाते हैं शहरी लोग ! गाँव के लोग तो बारिश के साथ ही काम किया करते हैं।"

—"मगर क्या उसी से···।"

"कुछ भी नहीं होगा। तू जा। मैं और कुछ देर हल चला लूँ। और सुन, हो सके तो कटोरी-भर गर्म चाय धन के हाथ भेज देना।"

अरुण फिर हल चलाने में जुट गया। अरुण की माँ माकण ने मन-ही-मन सोचा—सब कहते हैं, लड़का पढ़ने में तेज़ है। अच्छी तरह पढ़-लिख ले तो वह एक नामी-गिरामी आदमी बन सकता है। मगर उसका तौर-तरीक़ा तो समझना ही मुश्किल है। जो उसे पसन्द आता है, वही करता है। बाप भी कहता है—भला इतनी फ़िक्र क्यों ? भगवान् की मर्जी होगी तो मेरा लड़का हाकिम-मुन्सिफ़ बनेगा। बाप के हाकिम-मुन्सिफ़ कहने पर अरुण को ग़ुस्सा चढ़ आता है। कहता है—पिताजी तो हाकिम-मुन्सिफ़ के ही ज़माने में रह रहे हैं। एक और दुनिया है, उसका पता ही नहीं।

अरुण सोचता, पिता के साथ बहस करने में कोई फ़ायदा नहीं। वह ठहरे किसान। इतने अन्दरूनी पिछड़े गाँव के लोग हाकिम-मुन्सिफ़ को बड़े आदमी न मानेंगे तो क्या मानेंगे ? कभी गाँव के नवीन मंडल[1] को ही लोग ज़िले का बड़ा साहब समझते थे और कहते भी थे। कहते हैं कि ऐसा कोई भी काम न था जिसे नवीन मंडल कर न सके। रुपये-पैसे वाला बनकर वह शहर में चला गया। उसे मरे अरसा बीत गया। मगर उसका बेटा 'जैसा बाप वैसा बेटा' बना है। चतुराई में बिलकुल सियार है। बाप की भाँति वह मंडल की नौकरी नहीं करता। शासक पार्टी में रहकर वह मंडल और हाकिम को भी नाकों चने चबवाता रहा है।

माकण सोचती, क्या अरुण भी नवीन मंडल के बेटे जैसा ही होगा ! अगर वैसा हुआ तो बड़ी बुरी बात होगी। लोग कहते हैं, वह दलाल है। जो राजा होता है, उसी का वह भक्त बन जाता है। चाहे वह महारानी हो या हितेश्वर शइकिया[2] ही हो।

धन गर्म चाय ले आया। पीकर अरुण को कुछ गर्मी मिली। उसने सोचा, शाम ढलने तक हल चलायेगा और घर जाकर एक एलजेब्रा का सवाल हल करेगा। मगर एलजेब्रा की याद आते ही उसका मन अस्थिर हो उठा। वह जल्दी-जल्दी घर पहुँचा। लगातार दो दिन तक उसने एलजेब्रा के साथ मग़ज़पच्ची की। आखिर सही हल निकाल लेने पर बड़ी तृप्ति से हँसता हुआ जब वह आँगन में आया, बाप ने कहा—"तू दो दिन स्कूल गया नहीं। हरेश्वर मास्टर ने तुझे, जैसे भी हो, जाने के लिए कहा है।"

---

1. पटवारी—ज़मीन की माप-जोख करने वाला।
2. असम के एक मुख्यमंत्री।

—"ठीक है, जाऊँगा," कहकर वह हल-बैल ले खेत को चल पड़ा। जाते हुए अरुण को देख बाप ने माँ से कहा—"अरी, यह पढ़ने में तेज़ है, मगर देख रही हो न इसकी मति-गति? दो दिन से हिसाब ही करता रहा, और अब स्कूल जाने की बात कहने पर, जाऊँगा कहकर हल ले खेत चला गया। उसके न जाने से भी तो काम चल जाता।…"

माँ के चेहरे पर चिन्ता की रेखा उभर आयी। "सुनती हूँ। उसे संस्कृत या कोई और विषय पसन्द नहीं। एक विषय पसन्द न हो तो क्या लोग पढ़ते नहीं? भला इसे लेकर अब किया क्या जाये?"

—"रहने दें, उस पर ज़बर्दस्ती न करें। दूसरे लड़कों की भाँति वह बीड़ी-गाँजा पीकर तो घूमता नहीं फिरता। डेका-चां[1] में बैठकर अड्डा भी नहीं जमाता। उसके जैसा दूसरा कोई लड़का नहीं, हरेश्वर मास्टर हमेशा कहा करते हैं।"

"रहने दो अपने हरेश्वर मास्टर की बात। खुद तो तेज़ होते हुए भी गाँव के ही स्कूल में रह गये।"

—"ऐसा न कहें, समझे न? मूर्ख होने पर भी मैं सारी बातें समझती हूँ। हरेश्वर मास्टर के बारे में अरुण हमेशा कहा करता है कि 'सर' अगर असम के न होकर दूसरे किसी राज्य के होते तब देखते। आसमान में राकेट उड़ाते होते। 'सर' की क़िस्मत बुरी है। असमिया बनकर उन्होंने जन्म लिया है, तिस पर ग़रीब असमिया के गाँव में। मिट्टी का सोना मिट्टी में ही पड़ा रह गया।"

अरुण हल चला रहा था। उसकी नज़र हल की सीर पर थी। मिट्टी कोमल गीली होकर पानी के साथ एकाकार होती जा रही थी। बैल किसी तरह की परेशानी के बग़ैर काम करते जा रहे थे। कीचड़ और पानी की तरफ़ देखता हुआ वह सोच रहा था—इन्सान की ज़िन्दगी की, पेड़-पौधों की, पशु-पक्षियों की बात। बड़ी प्यारी इस मिट्टी का निरन्तर साथ देने वाले पवन, पानी और शक्ति के प्रवाह का जनक कहाँ रहता है? इस महाजगत का अन्त कहाँ है? उसे चीखकर पूछने की इच्छा हुई। मगर पूछे तो किससे? महाजगत के उस अदृश्य प्राणमय शक्ति के उद्‌गम को अपने कीचड़-सने हाथ जोड़कर प्रणाम कर उसने मन ही मन कहा—ओ मेरी जन्मदायिनी धरती, ओ मेरे विश्व-ब्रह्माण्ड के नक्षत्र-पुंज, तुम्हें मेरे इस नन्हें-से हृदय का नमस्कार! तुम्हारी इस महासृष्टि के रहस्य का पथ मुझे एक बार जानने देकर कृतार्थ करना, नहीं तो यह ज़िन्दगी पहेली ही बनी रहकर मिट्टी में मिल जायेगी।

बैलों से हटकर हाथ जोड़े अरुण कब तक यह सब सोचता रहा, भूल ही गया

---

1. जनजातीय अंचलों में तरुणों के लिए बनाया गया मचान-घर।

था। मगर उसके मन को बड़ा अच्छा लग रहा था। स्कूली बच्चों की ज़बान से सीखे हुए एक विदेशी गीत की कड़ी वह बार-बार गाने लगा था—"के सारा··· सारा···कहाँ से आया, कहाँ है जाना, पता नहीं।" गीत की धुन को दुहराते-दुहराते एक बार उसने देखा, बैल उससे काफ़ी दूर निकल गये हैं। अब उसे गुस्सा आ गया। बैलों को छिकुनी से मार कर उसने फिर हल चलाने में मन लगाया।

न जाने क्यों, अरुण का स्कूल जाने का उत्साह बिलकुल ख़त्म हो गया। उसके ऐसे आचरण से माँ-बाप को बड़ा दुःख हुआ। माँ माकण ने तरस खाकर कहा—"क़िस्मत में हो तब न? हलवाहे का बेटा हलवाहा न होकर और होगा ही क्या?"

बाप ने ग़ुस्से से कहा—"बेटे का दिमाग़ आसमान पर चढ़ा दिया था न, अब मिला न मज़ा! हल जोतकर खेती कर मुझे खिलाने आया है? आजकल कम से कम बी. ए. पास कर लेने पर ब्लॉक में ही कोई न कोई नौकरी मिल जाती है। वह नहीं हुआ, स्वतन्त्र आजीविका से कमायेगा! अब वही मिट्टी को कुरेदता रह।···"

अरुण के ऐसे आचरण से सबसे ज़्यादा दुःखी हुए हरेश्वर मास्टर। उन्होंने उसे कितना समझाया। मगर अरुण वही एक बात दुहरा देता—"होगा सर, खाने लायक उपजाने को वह ज़मीन है। पिताजी की मदद हो जायेगी। और सर, असमिया लोगों के खाने बिना मरने का उदाहरण बहुत कम है। दूसरे लोग हमारे हिस्से का ही छीन-झपटकर खा रहे हैं।"

हरेश्वर मास्टर थक गये। भला वह उसे कैसे समझायें कि ज्ञान-पिपासा का द्वार स्कूल-कॉलेज की शिक्षा ने काफ़ी समीप ला दिया है। जो शिक्षा पानी है या लेनी है उसे उचित उम्र में अगर ले नहीं लिया जाये, तो तुम उससे भी ज़्यादा ज्ञान-अन्वेषण के अधिकारी बने हो, यह बात भला कैसे समझा पाओगे?

हरेश्वर मास्टर ऐसी ही बातें कहकर अरुण को समझाया करते थे। पर अरुण के दिमाग़ में तो उस समय कीड़े घुस गये थे। या अपनी ज्ञान-अन्वेषण की तृष्णा को लेकर शायद वह ख़ुद अपने ऊपर अंहकार की भावना रखता था और शायद उसी कारण वह व्याकुल हो जिस मार्ग का पता पाना चाहता था, ज्ञानी जन के बार-बार दिखलाने पर भी वह अंधे-जैसा देख नहीं पाता था।

आख़िर हरेश्वर मास्टर को भी ग़ुस्सा आ गया। जो होना है, होता रहे, मानकर स्कूल में वह अध्यापन करते गये। मगर उनके हृदय को एक करुण वेदना बार-बार कचोटती रही कि एक होनहार कुछ बनने वाला है, ऐसी सम्भावना भरे प्रसुप्त सूर्य की आभा उदय होने के पहले ही अस्त हो गयी। हो सकता है कि उसके लिए उत्तरदायी समाज, राष्ट्र या लोग हों। कभी अरुण की

अरुणाभा, उसके गाँव को, उस अंचल को या पूरे देश को आलोकित करती। बड़े अभिमान से वह कह सकते, खुली छत के इसी स्कूल से हमारा अरुण पढ़कर निकला है। उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा विकसित होकर आनन्द वितरण करती। हरेश्वर मास्टर बड़े हताश हो गये। उसके बाद उन्होंने अरुण की खोज-ख़बर लेना भी छोड़ दिया, अरुण भी उनकी ख़बर नहीं लेता था। लोग कहा करते, वह अब एक अच्छा खेतिहर है, और फ़ुरसत के समय वह एक कमरे में दरवाज़े खिड़कियाँ बन्द कर कुछ परीक्षण किया करता है। कभी-कभी आधी रात को कमरे में किसी चीज़ को तोड़ने की आवाज़ से अरुण के माँ-बाप की नींद टूट जाती।

अरुण के ऐसे व्यवहार से उसका बाप लम्बी साँसें लेता और कभी-कभी रात को उठकर कहा करता—"अरे, अब तू सो क्यों नही रहता? वह सब दिन में करते रहना।" अरुण के आचरण से वह बड़ा निराश हो गया था। कभी-कभी इस बात पर उसे अपने आप पर धिक्कार जगने लगता कि अगर शिक्षा-दीक्षा लेकर नगर-शहर में रहकर वह कोई अच्छी-सी नौकरी करता तो अरुण जैसे लड़के को कुछ अलग ढंग से देख-रेख कर शिक्षा दी जा सकती। पर अब यह सब सोच-विचार करने से फ़ायदा ही क्या?

हरेश्वर मास्टर ने सुना था, आजकल अरुण अपने कमरे में किसी को घुसने नहीं देता है। निकलने पर या घुमने पर ताला लगा देता है। कहता है, उसमें कुछ ज़रूरी चीज़ें रहती हैं। सुनकर उनके मन में कौतूहल हुआ।

अरुण के कमरे में घुसने का अधिकार किसी को न था। अब उसका वैसा कोई संगी-साथी नहीं रहा, घमने-फिरने का भी समय नहीं रहा है। उसके साथी लड़के स्कूल पासकर कॉलेज में पहुंच गये। स्कूल फ़ाइनल के दिन अरुण के माँ-बाप ने आँसू पोंछे थे और हरेश्वर मास्टर अकेले एक कमरे में बैठे लम्बी साँसें भरते आकाश की ओर उदास दृष्टि से देखते रहे थे। वह बार-बार अरुण की ही बातें सोच रहे थे। मगर अरुण निर्विकार था। दुनिया में मानो कुछ भी नया नहीं हुआ, कुछ भी नया नहीं होता। मानव की गति का जीवन नाभ का क्रम-विकास मानो एक ठहरी हुई बड़ी-सी चट्टान हो। पर ऐसी बात तो नहीं कि जब खुशी में भरकर उस पर चोट की जाए, उसे लातों से मारा जाए या उसे ठोकर मारी जाए तो भी वह एक ही जैसी ठहरी रहेगी। समय का विशाल परि-वर्तन सूरज के उदय और अस्त के बीच जीवन को उरेहता जाता है, तभी तो इंसान बरसाती नदी के प्रवाह-सा बन जाता है। जीवन एक ही जगह ठहरा नहीं रहता, ठहरे रहना उसे पसन्द नहीं, चाहे या न चाहे, उसे मंज़िल की तरफ़ जाना ही होता है। अरुण के साथी लड़के भी इधर-उधर जीवन की गति अदल-बदलकर आगे बढ़ गये। सिर्फ़ अरुण अपने खेत और उस कमरे को केन्द्र बनाकर रह गया।

एक दिन उसके बाप ने देखा कि कई दिनों से अरुण के चेहरे पर दाढ़ी बढ़ आयी है। आँखें लाल हैं। कई दिनों से मानो सोया नहीं है और मुँह से न जाने क्या-क्या अपने आप बकता रहता है।

उसका सिर चकरा गया। माकण को बुलाकर अरुण को ज़बर्दस्ती बिस्तर पर लिटा दिया ज़रूर मगर वह लेटना चाहता ही न था। उठ-उठकर बैठ जाता। डॉक्टर ने बताया—"उसका दिमाग़ फिर गया है।" सुनकर हरेश्वर मास्टर ने आँसू बहाये।

कुछ दिन बाद अरुण चंगा हुआ। फिर वह गाने लगा—'के सारा···सारा···'वह फिर ख़ुशी-ख़ुशी हल जोतने लगा। माँ-बाप भी वह बात अब भूल से गये कि कभी इसी अरुण को लेकर उन लोगों ने बड़ी-बड़ी आशाएँ की थीं। मानो हमेशा उनका घर हल और खेत से ही बँधा था और बँधा रहना ही मानो नियम था।

उसके बाद अचानक एक दिन अरुण ने बाप से कहा—"पिताजी, मैं दिल्ली जाऊँगा।"

—"क्यों ?" बाप विस्मय से स्तब्ध रह गया। "भला वहाँ जाकर तू करेगा क्या ? क्या वहाँ हल जोतेगा ?" उसने ग़ुस्से से कहा।

मगर अरुण के चेहरे पर हँसी थी। उसने हँसकर घर के अन्दर से एक कॉपी निकालकर दिखायी। उसमें प्रचण्ड बाढ़ के पानी को रोकने के लिए कम ख़र्च में बाँध बनाने के बारे में कुछ बातें लिखी थीं। बाप के लिए तो वह सब अनबूझ पहेली थी। वह विस्मय से अरुण के चेहरे की ओर देखता हुआ बोला—"भला तू कब से इंजीनियर बना है ? बाढ़ को रोकना चाहता है ! ब्रह्मपुत्र के साथ खेल-तमाशा करना चाहता है। तेरे दिमाग़ में क्या आ घुसा है तू ही जाने !"

बाप की बात सुनकर अरुण ने कहा—"पिताजी, दुनिया के तमाम लोगों की ख़्वाहिश होती है ताजमहल देखने की। पर उस ताजमहल को यमुना के कराल ग्रास से बचाये रखने वाली दीवार को देखने के लिए भला कितने लोग जाते हैं ? सैकड़ों सालों से किस शक्ति के बल पर उस दीवार ने बिना टूटे-फूटे ताजमहल को दमकाये रखा है ? यमुना की छाती पर प्रतिबिम्बित उस ताजमहल का अज्ञात निर्माता किस विश्वविद्यालय से आया, कौन जानता है ? और हॉलैंड की ज़मीन सागर-तल से नीची है। पुराने ज़माने में किसी के द्वारा कच्ची मिट्टी और कंकड़-बालू से बनायी उस दीवार के कारण उसकी ज़मीन को सुनते हैं कि समुद्र का प्रवाह भी हिला नहीं पाया है। तब फिर पिताजी, इंसान कर न सके ऐसा काम दुनिया में क्या है ? असम में चूना-पत्थर की कमी नहीं, यहाँ सीमेण्ट का अभाव नहीं होना चाहिए।" अरुण की बातें बाप को असहनीय लगीं। उसने सोचा, अरुण के दिमाग़ में कीड़े घुस गये हैं। ओह, भगवान्, उसे शान्ति से रहने

दो। अब वह बाँध बनाकर बड़े लोहित ब्रह्मपुत्र को रोककर असम की जनता की रक्षा करने निकला है। मगर उसकी रक्षा कौन करेगा? ब्रह्मपुत्र की जलधारा को रोकने पर वह जलधारा किधर जायेगी? सागर में? या फरक्का नाम से पानी को मोड़ने वाली उस दूसरी ओर? तब तो यह अंचल मरुभूमि बन जायेगा। साल-दर-साल भले ही इसकी बाढ़ असम को धो ले जाये, फिर भी यह नदी असम की जनता की बड़े प्यार की है, बड़ी अपनी है।

—"तू जा नहीं सकता अरुण! वह सब अनजान जगह है। वहाँ तुझे कौन पता देगा। तेरी योजना कोई मानने वाला है नहीं।"

—"नहीं, मैं जाऊँगा ज़रूर।"

बाप समझ गया, उसे रोकने से कोई फ़ायदा होने वाला नहीं है। अरुण दिल्ली पहुँचा। मगर अब वह अपनी विचार-धारा किसे बताये, किसे सुनाये, किसे दिखाये? लाल क़िले के पास बैठ, आगरे में यमुना के किनारे ताजमहल की उस दीवार के ऊपर बैठ वह सोचता रहा, उस विज्ञानी को नमस्कार किया। पर अपने आविष्कार की बात बता सके, ऐसे किसी को वह ढूंढ़ नहीं पाया। सब वहाँ ताजमहल को ऐसे देख रहे थे, मानो सिनेमा देख रहे हों। बरसात की उस काल-भयंकरी यमुना की धारा की बात मानो किसी के मन में एक बार नहीं आ रही थी, न आयेगी। ब्रह्मपुत्र की अपेक्षा यमुना छोटी होने पर भी उस दीवार के कलाकार से उसी क्षण आमने-सामने बैठकर उसे बात करने की इच्छा हुई। पर कहाँ? यमुना का पानी तो बात नहीं कर सकता।

बड़े हताश भाव से घर का लड़का घर ही वापस आ गया। घर लौटकर वह लगभग सात दिन चुपचाप सोया रहा। लेटे-लेटे वह क्या सोचा करता था, उसने किसी से बताया नहीं। ये सब बातें बता सके, ऐसा कोई संगी-साथी उसका था नहीं। दुनिया में मानो वह बड़ा अकेला जन्मा था। ऐसी निस्संगता से उसे कुछ तकलीफ़ हुई, उससे उसका दिल हाहाकार कर उठा, अपनी उस कॉपी को उसे जला डालने की इच्छा हुई।

क्या ज़रूरत है इन बातों पर सोच-विचार करने की? इन सारी बातों के सोचने-विचारने पर भी तुम्हें कौन सहयोग देगा? नही, नहीं, बड़ी लोहित-ब्रह्मपुत्र कभी असमिया जनों की दुश्मन नहीं। हज़ारों सालों का असमिया का इतिहास लोहित जानती है। इस लोहित को बड़े सम्मान के साथ अपने जीवन में स्थान देना ही होगा। बरसात से भरी लोहित के उन्मत्त यौवन ने—जो प्रलयंकर बरसात ले आयी है, उसे हिम्मत से रोकने की कला की जानकारी चाहिए।

अरुण सोच रहा था, इसके लिए धीरज की ज़रूरत है। अच्छा काम काफ़ी साधना के बाद आदमी शायद एक ही बार कर पाता है। उसके लिए बड़ी तपस्या की ज़रूरत होती है, तकलीफ़ उठानी पड़ती है। अगर ऐसा न हो तो जीवन का

उद्देश्य ही मिट्टी में बिखर-बिखर जाये।

कुछ दिन बाद अरुण बाहर निकला। दरवाज़ा खोलकर बाहर देखा : जन्म के दिन से ही जिसे देखता आ रहा है, वही एक ही पृथ्वी। चारों ओर तेज़ धूप, मानो सब कुछ लीलना चाहती है। दो-चार कौए आँगन के पेड़ पर बैठे चीख़-पुकार मचाये हुए हैं। न जाने क्यों अरुण को कुछ बुरा-सा लग गया। एक ढेला उठाकर कौओं की ओर फेंकते ही कौए उड़ भागे। ये बड़े चतुर हैं। अरुण सोचने लगा और अपने आप हँस पड़ा। नाराज़ी, गुस्सा—नहीं, नहीं ज़िन्दगी में इनको बढ़ावा देने से काम नहीं चलेगा। ऐसा होने पर तो ज़िन्दगी मरुभूमि बन जायेगी। इस मिट्टी में इस समाज में, इसी घर-परिवार में, ज़िन्दगी की रफ़्तार को आनन्द और खोज के बीच से आगे बढ़ा ले जाना होगा। ज़िन्दगी को आनन्द देने के लिए प्रकृति ने बहुत-कुछ दिया है, उन सबको अपनाने की कला जाननी होती है।

अरुण हल लेकर खेत की ओर जाने के लिए निकला। कुछ गुनगुनाता हुआ खेत में पहुँचकर वह हल जोतने की तैयारी कर ही रहा था, तभी उसकी नज़र पड़ी, गाँव के मुखिया की लड़की मीना सड़क से आ रही है। अरुण को पता था कि उसने सिनेमा-अभिनेत्री मीनाकुमारी के अनुकरण में अपना नाम मीनाकुमारी बरुआ कर लिया था। शायद वह कॉलेज से आ रही थी। लाइन बस से वह कॉलेज आया-जाया करती है।

वैसे पढ़ने में वह उतनी तेज नहीं थी। मगर आजकल वह बी. ए. में पढ़ रही है। दूर से ही अरुण को देख मानो उसका अहंकार कुछ बढ़-सा गया। उसने मन-ही-मन सोचा, पगला हल जोत रहा है।

उस लड़की की मनोभावना का पता अरुण को न था। पता लगाने की ज़रूरत भी न थी, मगर उस क्षण में वह अपने मन की बात मीना को बताने के लिए वह कुछ विकल-सा हो उठा। चिरगम्भीर, अचंचल, चिन्ताग्रस्त अरुण के मन को मानो उम्र की आँधी ने झकझोर दिया। सीटी बजाता हुआ वह गा उठा—

तोमाले चाओँते जपना दिओँते
बिन्धिले अखँया हुले
तोमार मनेगले मोरे मने गले
कि करिब कलिता कुले।[1]......

हल जोतना छोड़कर अरुण रुक गया। लेलाइ मुखिया की वह बेटी तो बड़ी खूबसूरत हो उठी है। बचपन में जिसके नाक-मुँह से नेटा फिचकुर निकला

1. असम के बिहू गीत की एक कड़ी। मतलब है—हे प्यारी, तुम्हारी ओर देखते हुए दरवाज़ा बन्द करने में दिल में खुरदरा कांटा चुभ गया। तुम्हारा मन हो जाये, मेरा भी मन हो जाये। फिर कलिता कुल वाले क्या कर लेंगे।

करता था, उसने चेहरे पर पाउडर भी लगा रखा है। कोई बढ़िया-सी ख़ुशबू भी हवा में तिरती आ रही है। विलायती सेंट है शायद। तब तो यह काफ़ी ऊँचे चढ़ गयी है। क्यों न हो, कॉलेज में पढ़ती है न।

अरुण उसकी ओर देखता रहा, सीटी बजाता बिहू गीत गाता ही रहा। अरुण की उस नज़र से मीना कुमारी पहले तो दंग रह गयी, उसके बाद उसकी दृष्टि में उसे अश्लीलता दिखाई पड़ी। मन-ही-मन उसे डर भी लगने लगा था कि वह पागल अब न जाने क्या कर बैठे। अकेले में इस सड़क पर अगर वह कुछ कर डाले तो क्या होगा? इस भावना से कोई मानो चारों ओर से पुकार उठा—मरेगी, मरेगी, सावधान, सावधान! अरे भैया! यह भला इस तरह से क्या देख रहा है? और अगर इसका दिमाग़ फिर गया है तो इसके माँ-बाप इसे पागलखाने में क्यों नहीं भिजवा देते?

उसका घर थोड़ी दूर था। अब यहाँ से तो वह वापस भी नहीं जा सकती। उसने दिल को मज़बूत बना लिया। फिर अरुण की ओर बिना देखे, उसके पास से ही तिरछी होकर निकल जाते समय कहती गयी—इन मूर्खों के भला कौन मुँह लगे? ठीक से लगा दूंगी।

मूर्ख! मूर्ख! मीनाकुमारी की ज़बान से निकले उस एक शब्द ने मानो उसके दिमाग़ में हथौड़ा चला दिया। वह कॉलेज में पढ़ नहीं पाया, इसीलिए मूर्ख है! उन सबके सामान्य जीवन-यापन के चिन्तन के साथ उसके विचार का मेल नहीं, इसी कारण वह मूर्ख हो गया। लेलाइ मुखिया की यह लड़की भी उसे ऐसा कहने की हिम्मत कर सकी है। हालांकि एक दिन तो ऐसा भी था…। लगा, उसका सिर चकरा रहा है। ज़बान से उस आनन्द-भरे गीत की धुन मानो कहीं छिटककर बिखर गयी। जिस मिट्टी और कीचड़ को वह अब तक प्यार करता आ रहा था, आज उसे वह न जाने कैसी लगने लगी। वह कीचड़ पर ही बैठ गया।

सप्ताह-भर बाद अरुण का बाप अरुण को शहर के मानसिक चिकित्सक के पास ले गया। गाँवों में भी आजकल रिक्शे चलने लगे हैं। रिक्शे की घण्टी की आवाज़ कानों में पड़ते ही पढ़ने की मेज़ पर से सिर को बिना उठाये लेलाइ मुखिया की बेटी मीना कुमारी ने सिर्फ़ क्षण-भर के लिए सोचा—तो पगले को उसका बाप डॉक्टर के यहाँ ले जा रहा है। हाँ, और कुछ दिन पहले ही भेजना ज़्यादा अच्छा होता!

(अनु०—नबारुण वर्मा)

ए भव गहन वन[1]

□

डॉ० चन्द्र कटकी

"स्साले···की औलाद !" अध्यापक कृष्णजीवन गोस्वामी चौंक उठे। सवेरे दस बजे शान्त, शुद्ध, पवित्र होकर वह घर से निकले थे। मगर बैंक के दरवाज़े के पास पहुँचते ही उन्हें यह बीभत्स बोली सुननी पड़ी।

उन्होंने मुड़कर देखा। उस वाक्य के साथ जुड़े और दस-बारह भद्दी गालियाँ बकने के साथ-साथ जिस लड़के ने अपने एक हमउम्र लड़के के मुँह पर ज़ोरदार घूँसा जड़ दिया था, वह उन्हीं के कॉलेज का छात्र था, परमेश। अनदेखे का भाव बनाकर अध्यापक कृष्ण-जीवन तेज़ी से आगे बढ़ गए और स्टेट बैंक के बरामदे की एक कुर्सी पर बैठ गए। अपनी पंजाबी कमीज़ के दो बटन खोल उसके अन्दर दाहिना हाथ घुसेड़कर उन्होंने अपने जनेऊ को एक बार छुआ। फिर दाहिने कान की ललरी को तीन बार छूकर 'श्रीविष्णु' उच्चारण किया। मन कुछ हलका-सा लगा। कल्पना नाम की असिस्टेंट को चैक थमाकर वह फिर बरामदे में आकर कुर्सी पर बैठ गए। सोचने लगे, देश तो जहन्नुम में गया ही, लड़के भी जहन्नुम में जा रहे हैं। देश में सिर्फ़ आर्थिक या राजनीतिक नाश ही नहीं हुआ है, सांस्कृतिक और सामाजिक नाश भी हुआ है।

लोग अब हैवानियत करने से कतराते नहीं। कृष्णजीवन के विचार से, लोगों में आध्यात्मिक बोध का अभाव ही इन सारी गड़बड़ियों के मूल में है। अगर खाने-पहनने सोने भर में ही लोगों का सारा सोच-विचार समा जाये तो भला इंसान इंसान बनेगा भी तो कैसे ? आज के लोगों में कहीं इंसानियत का कुछ शेष रह गया है ? देश तो गया ही। लोगों के दिमाग़ में विभिन्न प्रकार के विचार

---

1. 'यह संसार घना वन है !' शंकरदेव के बरगीत की एक पंक्ति।

चिन्तन, आदर्श आ घुसे हैं। लोग नास्तिक हो गये हैं। कुछ भी नहीं रहा, बिलकुल कुछ भी नहीं रहा अब तो। इंसान का सब-कुछ ख़त्म हो गया है।

'सर, रक़म ले लीजिए! कल्पना गोस्वामी नाम की उस लड़की की आवाज़ से ही अपने चिन्तन-जगत में वह लौट पाए।

"देना माँ" रक़म को कमीज़ की जेब में डालकर वह कॉलेज की ओर चल पड़े।

कृष्णजीवन गोस्वामी! स्थानीय कॉलेज के एकमात्र प्राध्यापक। संस्कृत और असमिया दोनों विषयों में एम० ए० होने के बावजूद वह असमिया विभाग में ही अध्यापन करते हैं। सात्त्विक, सदाचारी और धर्मप्राण व्यक्ति के रूप में उनकी ख्याति है। देव-द्विज-ईश्वर के प्रति उनकी अचल भक्ति है। भारतीय अध्यात्मवाद के बारे में उनका गहरा ज्ञान है। प्राचीन भारतीय साहित्य, दर्शन, वेद-वेदान्त से उनका गम्भीर परिचय है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से वह सम्प्रति 'वैदिक युग की नारी और अध्यात्म-साधना' विषय पर शोध करने में जुटे हैं।

अध्यापक कृष्णजीवन गोस्वामी के लिए कृष्ण ही जीवन हैं सबके समस्त भूतों के। इसी कारण कृष्ण या विष्णु का स्मरण किये बग़ैर वह कोई बात नहीं करते, कोई काम नहीं करते। कक्षा में पढ़ाने के लिए भी उन्होंने भक्ति-साहित्य या प्राचीन साहित्य ही चुन लिया है। उन विषयों को पढ़ाने का स्वाद ही अलग है। उस दिन उन्हें कक्षा में **"दधि-मंथन"**[1] पढ़ाना था। ऐसा कुछ कभी पढ़ाना होता तो वह आमतौर पर पैरों से चप्पलें उतार प्लेटफ़ार्म के ऊपर खड़े होकर पढ़ाया करते। कृष्ण-सम्बन्धी विषय पढ़ाना हो तो सात्त्विकता-सम्मत भाव से रहना चाहिए। कृष्ण-चिन्तन कितना मधुर है। 'दधि-मंथन' का बालकृष्ण कितना महान, पर कितना कमनीय है, सरल है।

समूची कक्षा स्तब्ध-सी कृष्ण जीवन सर की आवृत्ति सुन रही थी—

दिनेक यशोदा नन्द जाया।
आपुनि मथन्त दधि गैया॥
कृष्णर शैशव लीलाक स्मरि
कृष्ण-गीत गावन्त सुन्दरी
क्षौम वस्त्र पिन्धि दिव्य काछे।
कठित मेखला बान्धि आछे
पुत्र स्नेहे स्रवे दुयो स्तन
आजोरन्ते लरे घने घन॥
(एक दिन यशोदा नन्द-जाया
स्वयं वहाँ मथती मनभाया॥

1. शंकरदेव-रचित 'कीर्तन घोष' का एक कीर्तन पद।

कृष्ण शैशव लीला कर स्मरण
सुन्दरी कृष्ण गीत करती गायन ।।
दिव्य साज क्षौम वस्त्र कर परिधान ।
कमर में कर मेखला बन्धन ।।
पुत्र-स्नेह से स्रवते दोनों स्तन ।
मथानी खींचने में हिलते घन घन ।।)

—"सर, यह समझ में नहीं आया।" विनम्र भाव से एक लड़के ने आवाज़ दी—"आख़िरी दोनों पंक्तियां ज़रा व्याख्या कर समझा दें।"

यह सवाल गुजमणि बरा ने किया था। लड़का उनका जाना-पहचाना है। जहाँ तक हो सके, सहज-सरल बनाकर उन्होंने समझा दिया। लड़के-लड़कियों के सामने यशोदा की मातृमूर्ति को सजीव करने हेतु उन्होने उन पंक्तियों की सहज व्याख्या प्रस्तुत कर दी। उसके बाद उन्होंने आगे आवृत्ति करना शुरू किया—

देखन्त उथलि दुग्ध परे ।
पुत्र एरि············ ।।
(देखा गिर रहा दूध उफन
पुत्र को तज············ ।।)

—"सर, पहले की दो पंक्तियाँ ठीक से समझ में नहीं आयीं!"—कुइन और रेहाना की आवाज़ थी।

कृष्णजीवन ज़रा उखड़ से गये। उन्हें नीचा दिखाने के लिए ये सवाल हैं या सहज भाव से न समझ पाने के कारण सवाल किया गया है, वह तय नहीं कर सके। दोनों लड़कियों की आँखों में किसी तरह की दुष्टता की कोई निशानी उनकी नजर में नही आयी। तभी कृष्णजीवन को कटन कॉलेज[1] में संस्कृत के अध्यापक चटर्जी द्वारा पढ़ाई हुई 'कालिदास के काव्य में नारी-सौन्दर्य' की याद हो आई। पार्वती के स्तनों के वर्णन में उस अमर कवि ने तिहत्तर श्लोक खर्च कर डाले हैं। कृष्णजीवन ने कोई भाव नही दिखाया। पर पहले से भी खुलकर वर्णन करते हुए विषय को समझाने की कोशिश की। पुत्र-स्नेह के फलस्वरूप ही किस तरह से यशोदा के स्तनों से दूध चू रहा था! ऐसा वर्णन सहजिया कवि की कविताओं में भी मिलता है।

साथ ही उन्होंने कहा—"नारी के यौवन-मन्दिर के सुनहले कलश के वर्णन में, उनकी प्रशंसा में युग-युगान्त से कविगण मुखर रहे हैं। हालांकि हर जीव की मादा के शरीर में यह 'मे मेंरी ग्लैंड' रहता ही है। उससे बहने वाले रस से

1. गुवाहाटी का प्रसिद्ध कालेज

संतान पुष्ट होती है। भगवान की कैसी विचित्र लीला है! धरती पर उतरते ही जीवन को इस अमृत में मुँह डालने को मिल जाता है। महापुरुष[1] कविवर ने भी चराचर जगत् के कारण अमृत-निस्यन्दी स्तन का स्पर्श प्रदान किया है।

उसी दिन शाम को—

अध्यापक कृष्णजीवन बरामदे में बैठे अपने शोध के काग़ज़-पत्रों में व्यस्त थे। उन काग़ज़-पत्रों से हटकर उनकी नज़र कभी-कभी सड़क पर भी चली जाती थी। डाकिया लड़का माणिक एक ज़रूरी किताब 'वीमेन इन एनस्येंट इंडिया' का पार्सल लाने वाला है। उन्होंने मेज़ पर पचहत्तर रुपये रख लिये थे।

कृष्णजीवन की श्रीमती नन्दिनी अपने बच्चों के साथ एक शादी में गयी थीं।

"बाबूजी, कुछ मिलेगा?"

अध्यापक कृष्णजीवन ने सिर उठाकर देखा। एक भिखारिन थी। तरुणी-सी इस विधवा भिखारिन को देखकर उन्हें बड़ा बुरा लगा। ग़रीबी और वैधव्य इन दोनों ने मिलकर उसे असहाय बना डाला है। उसके कपड़े फटे थे, जगह-जगह पैबन्द लगे थे। हाथ में अमूल का एक ख़ाली डिब्बा और बाँस का एक फट्टा। असमिया भिखारिन का जो सामान्य रूप होता है, वही।

कृष्णजीवन ने जेब में हाथ डाल पहले एक दस पैसे का, फिर कुछ सोचकर एक और दस पैसे का सिक्का निकाला। दोनों सिक्कों को मुट्ठी में लिये वह भिखारिन के पास पहुँचे। पैसे लेकर भिखारिन ने दाहिना हाथ सिर से लगाया। और उसी क्षण अध्यापक कृष्णजीवन गोस्वामी की आँखें स्तब्ध रह गयीं।

खट से एक आवाज़ हुई।

भिखारिन ने सिक्कों को डिब्बे में डाल दिया। फिर एक बार उसने दाहिने हाथ को नमस्कार की मुद्रा में अपने सिर से लगाया। कृष्णजीवन की आँखें फिर स्तब्ध रह गयीं।

भिखारिन का ब्लाउज़ दाहिनी छाती के ऊपर फटा हुआ था। उस फटे हिस्से से छाती का अधिकांश भाग दीख रहा था। नमस्कार के लिए हाथ को ज़बर्दस्ती ऊपर करने पर फटे हुए हिस्से से मानो पूरी छाती बाहर निकल आना चाहती थी।

कृष्णजीवन को बड़ा दुःख हुआ। जवानी बीतने से पहले ही बेचारी का सिन्दूर पुँछ गया। दरिद्रता और वैधव्य ने उसे इंसान की कोटि से नीचे गिरा दिया है। अपनी छाती तक को ढँकने के लिए उसमें ब्लाउज़ या वैसी ही कोई कमीज़-कुरती लेने का सामर्थ्य नहीं रहा है। हालाँकि उसी छाती में शिशु के लिए अमृत रहता है। वह क्षण-भर उस औरत की तरफ़ देखते रह गए।

---

1. महापुरुष शंकरदेव

वह मुड़कर बाहरी दरवाजे तक गयी ही थी, तभी कृष्णजीवन ने उसे पुकारा, "अरी, ज़रा ठहर जाओ, ठहरो ! सुनो !" भिखारिन लौटकर घर के चबूतरे के पास खड़ी हो गयी। "क्या पाँच रुपये में एक ब्लाउज़ आ जाता है ?"

उसने कोई जवाब नहीं दिया।

कृष्णजीवन ने फिर पूछा—"तुम्हारे शरीर के लायक एक ब्लाउज़ क्या पाँच रुपये में मिलता है ?"

—"पाँच रुपये में कहाँ मिलता है ? दस-ग्यारह हो, तभी। अगर है तो ठकुराइन जी का फटा-वटा एक दे दें।"

कृष्णजीवन ने पार्सल छुड़ाने के लिए रखी रक़म में से दस रुपये उसके हाथ में देकर कहा—"इन रुपयों से तुम एक ब्लाउज़ खरीद लेना। तुम असमिया हो, मुसीबत में पड़कर भिखारिन बनी हो। मगर ज़रा लाज-शरम की भी खबर रखना।"

नोट को हाथ से कुछ देर सहलाती हुई वह रुकी रही और दाहिने हाथ से सलाम कर धीरे-धीरे बाहरी दरवाज़े की ओर चल पड़ी। देखें न देखें जैसे भाव से देखते ही कृष्णजीवन की नज़र पड़ी, उसके शरीर से जवानी जाने के लिए कसमसा रही है। जवानी का जो कुछ बचा हुआ है वह भी छाती की उसी जगह सिमट आया है जिसे वह फटा ब्लाउज़ ढँक नहीं पा रहा है।

वह फिर गेट से मुड़कर लौट आयी। धीमी आवाज़ में उसने कहा—"कभी ज़रूरत हो तो कहिएगा। आना हो तो आऊँगी।"

"मुझे फिर ज़रूरत कैसी ? नहीं, नहीं, कृष्ण प्रभु की कृपा से तुम दो बेला खा-पीकर चलती रहो।"

शाम को नन्दिनी ने दूर से ही देखा कि माणिक डाकिया पार्सल वापस लिए जा रहा है। गेट के पास ही कृष्णजीवन चिन्तित खड़े थे।

—"क्या हुआ ? देख रही हूँ कि पार्सल को तुमने लौटा दिया !"

"आज तो छुड़ा नहीं पाया। दस रुपये घट गए। कल डाकखाने से ही ले आऊँगा, उससे कह दिया है।"

—"क्यों ? क़ीमत तो पचहत्तर रुपये ही थी न ? मैं तो पूरे पचहत्तर रुपये ही दे गयी थी।"

—"दिए तो थे, मगर उसमें से मुझे एक भिखारिन को दस रुपये देने पड़ गए। उसकी कितनी बुरी हालत थी। अगर तुम देख लेतीं तो उसके शरीर से फटे ब्लाउज़ को ही उतार देतीं। वह इतनी ग़रीब है कि···।"

नन्दिनी जानती है—सिर्फ़ लड़कों को पढ़ाने और कृष्ण-चिन्तन के अलावा इन्होंने कुछ भी सीखा नहीं। इस व्यक्ति को लेकर हमेशा दिक़्क़त है। बिलकुल भोले की भाँति कभी-कभी ऐसा काम कर डालते हैं कि उसे उन पर तरस ही खाना

पड़ता है। खैर, दोनों बच्चों शान्तनु और जाह्नवी को खेलने के लिए बाहर भेजकर उसने पति कृष्णजीवन को जो कुछ बताया, उसका सार है—वास्तव में वह भिखारिन बड़ी बदजात और मतलबी औरत है। उसने जान-बूझकर, बड़ी चतुराई से ब्लाउज के उस हिस्से को फाड़ लिया है जिससे उसका स्तन सबकी नजर में पड़े। स्तन दिखलाकर भीख माँगते फिरना एक व्यापारिक चतुराई ही है। ऐसी औरतें यह जानती हैं कि मर्दों की कमज़ोरी कहाँ है, और इसी कारण ऐसी चतुराई अपना लेती हैं। आधुनिक सभ्यता के अभिघात में पड़कर सभी लोग एक तरह के 'सेक्स ऑबसेशन' या 'सेक्स न्यूरोसिस' से पीड़ित रहते हैं। ऐसे 'न्यूरोरिकों' के लिए ऐसे दृश्य बड़े मनोग्राही होते हैं। फिर इस औरत का बाहरी रूप ही भिखारिन का है, असल में वह···।

कृष्णजीवन चीख़ पड़े—"बस-बस, और ज्यादा न कहो!" उन्हें ऐसा लगा कि वह दौड़ लगाकर उस औरत के हाथ से दस रुपये का वह नोट छीन लायें और नन्दिनी के हाथ में थमाकर उससे माफ़ी माँग लें।

जो नारी हमारी वन्दनीया है, जो सनातन माता है, उसी का भला ऐसा अधःपतन क्यों? उस दिन उन्हें भोजन करने की इच्छा नहीं हुई। रात को उन्होंने तीन बार कृष्ण शतनाम का पाठ किया, एक बार गीता के एकादश अध्याय का धीमे लहजे में पाठ किया। रात को उन्हें अच्छी नींद नहीं आयी। पत्नी नन्दिनी भला उनके बारे में क्या सोच रही है? उन पर कोई सन्देह करने की गुंजाइश है या नहीं, आदि चिन्ताओं ने उन्हें व्यथित कर डाला।

दूसरे दिन—

डाकखाने से किताब छुड़ाकर उन्होंने खोलकर देखा। पुराने ज़माने में भारतीय नारियाँ कैसी आदर्शवती, कैसी चरित्रवती होती थीं। कभी इसी भारतीय समाज में गार्गी, मैत्रेयी, आत्रेयी का जन्म और विकास सम्भव हो सका था। किताब में बड़ी दिलचस्प शैली में इनका वर्णन था। उन्हें किताब बड़ी अच्छी लगी।

उन्होंने विषय पर गहराई से सोचा। पुराने जमाने में तो पुरुष भी महान होते थे। महान पुरुष ही समाज में महीयसी नारी को जन्म दे सकते हैं। उन्होंने सोचा, अपने शोध-ग्रन्थ में वह इस बात का उल्लेख करेंगे। उस दिन कॉलिज में जाते समय भी वह किताब को साथ लेते गये। एक बजकर चालीस मिनट से दो बजकर बीस मिनट तक एक घण्टा उनका फ्री है। उस समय वह किताब पढ़ी जायेगी।

कॉलिज जाने की सड़क कुछ निर्जन-सी है। बीच में लकड़ी का एक छोटा-सा पुल है। उस पुल के सिरे पर किसी ने एक बछड़े को लम्बी रस्सी से डिगरा दे रखा था। एक ओर बँधा हुआ वह बछड़ा सड़क के दूसरी ओर चर रहा था, इस कारण डिगरे की वह रस्सी सड़क के बीचों-बीच पड़ी थी। अध्यापक कृष्ण-

जीवन गाय-बछड़े की रस्सी को लाँघ जाने जैसा काम नहीं कर सकते थे। "यत्र जीव, तत्र शिव"[1] वेदान्त डिंडिम ग्रन्थ में भी कहा गया है—"जीवो ब्रह्मैव नापर: ।" जीव ही ब्रह्म है और कुछ नहीं। जीवात्मा को लाँघ जाने का मतलब है, परमात्मा का भी अपमान। इसी कारण वह हमेशा एक किनारे होकर चलते हैं या डिगरे की रस्सी को उठाकर नीचे से निकल जाते हैं।

उस बछड़े के डिगरे की रस्सी को बिना लाँघे निकल जाने के लिए किनारे हटते-हटते पुल की ढलान तक उतर कर पार जाने की कोशिश उन्होंने की। अचानक पुल के नीचे की ओर उनकी नज़र गयी। पुल के नीचे की ढलान पर टिके हुए दो आदमी हाथापाई करते हुए झगड़ रहे थे। उन दोनों को क्या हुआ है, देखने के लिए वह ढलान से नीचे उतरने लगे, तभी अचानक उनके शरीर के रोयें सिहर कर खड़े हो गये। उन दोनों को उन्होंने पहचान लिया। एक था, रेब ठीकेदार का बड़ा लड़का मइना और दूसरी थी सफीकुल दर्ज़ी की लड़की लिलिमाइ। दोनों इस दुनिया को भूले हुए थे।

लगभग दौड़ते हुए वह टीचर्स कॉमन रूम में पहुँचे। उनको पसीना आने लगा था, गला सूख गया था और छाती एक अव्यक्त वेदना से धड़क रही थी। कॉमन-रूम के चपरासी बुधीन से एक गिलास पानी माँगकर उन्होंने पिया। बेसिन में हाथ-मुँह धोया। घण्टी बजने में पाँच मिनट थे। कक्षा में पहुँचते ही उनके उस दु:स्वप्न का दृश्य मन से हट जायेगा, वह सोच रहे थे।

घण्टी बजी। बाहर किसी तरह का भावान्तर दिखलाये बग़ैर वह स्वाभाविक रूप से ही कक्षा में गये। रजिस्टर लिया। बही को बन्द किया। पिछले तीन सप्ताह से यह कक्षा लगी ही न थी। बन्द, आधी छुट्टी और छुट्टी में ही दिन निकल गए थे। उन्होंनें पूछा—"पहले हमने कहाँ छोड़ा था ?"

विनय ने खड़े होकर कहा—"पिछली बार नवकान्त बरुआ[2] के बारे में बताया था, आज उनकी कविता 'इयात नदी-आछिल'[3] पढ़नी है।

अध्यापक कृष्णजीवन ने पढ़ाना शुरू किया।

देखिछो नदीर ढले बलात्कार करा पथारक
येन कोनो गर्भवती शस्यर सन्तान

(देख रहा उस मैदान को, जिस पर नदी की बाढ़ ने बलात्कार किया है, जैसे कोई गर्भवती शस्य की हो सन्तान।)

उन्होंने किताब बन्द कर दी। आज के इस करुण अनुभव-बिद्ध मानस से

---

1. जितने जीव हैं सभी शिव हैं।
2. असमिया के आधुनिक कवि।
3. 'यहाँ नदी थी।'



यौन-प्रतीक वाली कोई कविता वह पढ़ा नहीं सकते। अगर दूसरा दिन होता तो साहित्य में यौन-प्रतीक सम्बन्धी एक तत्त्वपूर्ण भाषण ही दे डालते आज ? आज तो ऐसा हो नहीं सकता। जाने दें। "तबीयत अच्छी नहीं लग रही है"—कहकर वह कक्षा को छुट्टी दे निकल आये। पन्द्रह मिनट पुस्तकालय में बैठे। फिर पन्द्रह मिनट वाइस-प्रिंसिपल के साथ रहे। एक बेचैनी, एक अस्थिरता। देश के लड़के-लड़कियाँ बरबाद हो रहे हैं। भावी पीढ़ी के बारे में क्या हम कोई आशा कर सकते हैं ? और वह खुद नितान्त पापी हैं। नहीं तो क्या ऐसा दृश्य उनकी आँखों के आगे पड़ता ?

परम क्लेश और आत्मग्लानि के बीच किसी तरह दो पीरियड उन्होंने पढ़ाए। कॉलिज से चलने के पहले वह अध्यक्ष के कमरे में गये। कॉलिज में सिर्फ़ एक ही आदमी है, जिससे मन के सुख-दुख की चर्चा की जा सकती है—और वह है अध्यक्ष महन्त।

महन्त कृष्णजीवन से सिर्फ़ दो ही साल बड़े होंगे। मगर उनके भाव-चिन्तन काफ़ी हद तक कृष्णजीवन से मिलते हैं। जहाँ तक हो सके, शालीनता से सजाकर सड़क पर की उस घटना को उन्होंने अध्यक्ष महन्त से बताया।

महन्त भी विस्मित हुए। कहा—' दुनिया से अब यौन-नैतिकता विलुप्त हो गयी। आधुनिक युग के युवक-युवतियों के मानस से यौन-नैतिकता, सामाजिक शालीनता बिलकुल ग़ायब हो गयी हैं। इंसान की इंसानियत मिट चुकी है। बात-चीत में, काम-काज में, पोशाक-पहनावे में सिर्फ़ अमेरिकी रंग-ढंग भर गया है। हिन्दी सिनेमा, सैक्स मैगज़ीन, क्राइम-थ्रिलर, सेक्स से भरपूर मॉर्निंग शो, लूप-निरोध के वरदान से यौन-नैतिकता अब दूर भाग चुकी है। इस दुनिया में पुराने मूल्य महारानी के दिनों के सिक्कों की भाँति ही अचल हो गये हैं।

"मगर असमिया लड़के-लड़कियों की ऐसी हिम्मत होना बड़े दुःख की बात है। भला ये यहाँ तक पहुँच कैसे गए ?" अध्यक्ष महन्त ने आगे कहा—"फिर भी इन्हें पंकिल मार्ग से हमी को हटा लाना है। शिक्षक होने के नाते ऐसी स्थिति में इनको कल्याण का मार्ग दिखाना हमारा ही कर्तव्य है। किसी देश के युवक-युवती अगर सच्चे न हों, तो क्या उस देश का कोई भविष्य रह पाता है ?"

कृष्णजीवन ने इस बात की सराहना की। महन्त ने जरूरी बात ही कही है। वे कोशिश करेंगे। खुद ही कोशिश करेंगे वह। इन लड़के-लड़कियों का सही मार्ग-दर्शन करना उनके-जैसे हजारों शिक्षकों का ही कर्त्तव्य है। उनके निस्पृह बने रहने से काम नहीं चलेगा।

घर लौटने के मार्ग में वही पुल आता है। उनका मन फिर मचल गया। देखें न देखें, सोचते हुए उन्होंने पुल के नीचे की ढलान पर एक बार नज़र डाली। वहाँ बकरी का एक बच्चा उदास मन से घास चर रहा था। शाम का सूरज मानो

लकड़ी के उस पुल को हाथ से छू-छूकर निकला जा रहा था। आसमान साफ़ था। नीचे की वह नदी भी उदास-सी, सूखी थी। कहीं कोई न था।

सब-कुछ सुन्दर, खुला और शान्त था। मगर बेचैनी तो थी कृष्णजीवन के दिल-दिमाग़ में। उनका मन जो चाहता है, वह तो इस दुनिया में है नहीं। वह भला रह क्यों नहीं सकता? प्रभु कृष्ण पाप-अधर्म को ख़ुद बढ़ा लेते हैं, फिर अपने हाथ से उसका दमन भी करते हैं।

सड़क पर वह सोचते गये। वास्तव में आजकल शिक्षक बनकर निस्संग रहने के दिन नहीं हैं। लड़के-लड़कियों को सिखाना होगा।

कृष्णजीवन को याद आया, अध्यापक-जीवन के प्रारम्भ में गुवाहाटी में एक बार वह अम्बिका गिरी[1] से मिले थे। आशीर्वाद देने के साथ-साथ अम्बिका गिरी ने उनसे कहा था—"जब मास्टर बने हो, तो एक बात याद रखना! यह तुम लोगों का देश है। इसके लड़के-लड़कियों को विविध बातें सिखलाकर इंसान बनने का उत्तरदायित्व भी तुम्हीं लोगों पर है। सिर्फ़ परीक्षा पास करने के लिए कुछ सवाल-जवाब सिखला-भर देने से ही तुम लोगों का उत्तरदायित्व ख़त्म नहीं होता।"

कृष्णजीवन सिखायेंगे, ज़रूर सिखायेंगे। आध्यात्मिक आधार जो थोड़ा-सा उन्हें मिल पाया है, उसे ही वह बच्चों को प्रदान करेंगे। रेब ठीकेदार के लड़के मइना को, सफ़ीकुल दर्ज़ी की बेटी लिलिमाइ को वह अपने यहाँ बुला लायेंगे। पाप से ही नफ़रत करनी चाहिए, पापी से नहीं। दुनिया के सभी महापुरुषों ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रभाव पहले पापियों और दुरात्माओं पर ही दिखाया था। प्रभु बुद्ध ने, प्रभु ईसा मसीह ने, भगवान कृष्ण ने, हज़रत मुहम्मद, कबीर, नानक—सभी ने यही सिखाया है। उन्होंने हाथ ऊपर उठाकर भगवान की करुणा हेतु प्रार्थना की। भगवान ज़रूर उनकी मदद करेगा।

लिलिमाइ आदि को वह सिखायेंगे—मानव-शरीर देवता का पवित्र मन्दिर है, इस मन्दिर को पवित्र बनाये रखने का उत्तरदायित्व मनुष्य पर ही है। पढ़ने के कमरे की मेज़ पर उन्होंने उसी नयी किताब को लगा दिया। उन्हें बड़ी गरमी का अनुभव हुआ। नहा लेना ही ठीक रहेगा। कृष्णजीवन ने अपनी सफ़ेद कमीज़ के बटन खोलने के लिए हाथ बढ़ाया ही था, तभी उनकी इकलौती बेटी जाह्नवी दौड़ती आयी।

—"पिताजी, पिताजी, लिलि दीदी यह चिट्ठी दे गयी थी। लीजिये!"

—"कौन लिलि, किस लिलि दीदी ने…?"

---

1. अम्बिका गिरी रायचौधुरी—असमिया के प्रख्यात विद्रोही कवि तथा देश-प्रेमी चिन्तक।

—"क्यों ? वह जो सफ़ीकुल दादा की बेटी है, जो शर्ट-पैण्ट पहने आया-जाया करती है।"

अध्यापक कृष्णजीवन भौचक रह गये। लिलि को भला क्या लिखना है उनके नाम ?

फिर भी उन्होंने पत्र खोला। एक बार नहीं, दो बार, तीन बार उन्होंने पत्र पढ़ा।

लिलि के पत्र का सार यह था कि दोपहर की उस घटना के बारे में उसे अफ़सोस है। असल में दोष उसका है नहीं। दोष मइना का ही है। तिस पर बाप सफ़ीकुल दर्ज़ी की मौत के बाद उनका घर चलना···।

लिलि का कातर अनुरोध था, कृष्णजीवन जैसे किसी के सामने उस बात को प्रकट न करें। साथ ही एक बात और—अगर ऐसा मौक़ा उन्हें भी चाहिए, तो उसके लिए भी वह तैयार है···।

अध्यापक कृष्णजीवन के चारों ओर की दुनिया चक्कर लगाने लगी थी। घर-बार, मेज़-चबूतरा, किताबों की रेक-आलमारी, सड़क के लाइट-पोस्ट, बुलू के घर के सामने का सेमल का पेड़, बुबुल के घर के सामने का कृष्णचूड़ा पेड़—सब-कुछ घूम रहे थे। उनके अपने घर की दीवारें काँपती हुई ढही जा रही थीं।

और इनके बीच सात साल की भोली-भाली जाह्नवी परम विस्मय से पिता की आँखों की तरफ़ देखती हुई स्तब्ध-सी खड़ी थी। जाह्नवी को खींचकर उन्होंने अपनी छाती से लगा लिया और अपने अनजाने में ही 'नन्दिनी, नन्दिनी !' कहकर आर्तनाद कर उठे।

पति की बेतहाशा चीख़-पुकार सुनकर अन्दर के बरामदे में ऊन बुनती नन्दिनी ऊन और कपड़े को थप् से फेंक कर दौड़ी आयी। उसने देखा, वेदी की ओर सिर झुकाये कृष्णजीवन ज़मीन पर पड़े हुए हैं। उनके पास ही उन्हीं की तरह वेदी की ओर सिर झुकाये जाह्नवी भी पड़ी है। और उसी क्षण लगभग रुलाई के स्वर में कृष्णजीवन की ज़बान से रुक-रुक कर टूटे लहज़े में निकल रहा है—

ए भव गहन बन अति मोह पाशे छन्न[1]
ताते हामु हरिणा बेड़ाई।···
फन्दिलो मायार पाशे···।

(अनु०—नवारुण वर्मा)

---

1. यह संसार गहन वन है। बड़े मोह-पाश में बँधे हम हिरण इसमें चक्कर लगाया करते हैं। बन्दी हम माया के पाश से···

उड़िया

• मनोज दास

• विभूति पट्टनायक

(अनुवादक—शंकरलाल पुरोहित)

एक मोड़



मनोज दास

सुमंत बाबू को बहुत अच्छी लग रही थीं वर्षा की वे बौछारें। वह मन ही मन कह रहे थे—धरती पर जब भी वर्षा हो इसी तरह, धीमी-धीमी बौछारें ही हों।

हालांकि जवानी के दिनों में वह कई बार मूसलाधार वर्षा की भी परवाह किये बिना विनोदिनी के घर गये हैं। उन्हें कम से कम एक बार की बात तो याद है। जान-बूझकर छाता नहीं लिया। वह चाहकर भीगे थे विनोदिनी से चाय का कप और एक कप ही सहानुभूति पाने के लोभ में। मगर अचानक वहाँ पहुँचे, तो मिला धक्का। विनोदिनी युवा कंट्राक्टर समीर से बातें कर रही थी। सुमंत के आने पर वह सिटपिटा गई थी। आज पचास वर्ष बाद सुमंत स्वयं को धिक्कार रहे हैं—अरे बुद्धू सिटपिटा नहीं गई, खीझ उठी थी। क्योंकि तब तक वह समीर को प्रेम करने में काफ़ी आगे जा चुकी थी। बाद में उससे विवाह किया।

याद नहीं, समीर और विनोदिनी उससे अधिक सुखी हुए या नहीं। मगर इतना पता है आखिरी बार जब वह समीर से मिले थे, जीवन-संग्राम में पराजित वह कंट्राक्टर उन्हें किसी बूढ़े प्रेत की तरह लगा था। हालांकि विनोदिनी सदा की तरह हँसमुख थी तब भी।

समीर की मृत्यु की ख़बर मिली तो सुमंत ने सांत्वना-पत्र भेजा था। उसके किसी उत्तर की आशा न थी। मगर छह महीने बाद उत्तर ही नहीं मिला, साथ में था निमंत्रण। विनोदिनी पिता के घर लौट रही है। आशा है, सुमंत से भेंट होगी।

सुमंत ने मन ही मन कहा—अब और भेंट-मुलाक़ात में क्या रखा है! मगर अजीब बात है, वह निमंत्रण उन्हें क्रमशः आकृष्ट करता गया। अतः आज उन्होंने खुशी में भर पुराना रास्ता पकड़ा है।

उस छोटे-से शहर से दूर-दूर छिटक पड़े सुमंत के अधिकांश मित्र उन्हीं की तरह वहाँ लौट आये थे—कोई व्यापार करने, कोई नौकरी में लम्बे समय तक इधर-उधर घूमने के बाद। सबसे अधिक गपोड़ी सुमंत बाबू को ख़ूब ख़ुशी हो रही थी। लेकिन वह ख़ुशी बार-बार शोक-लहर में समाप्त हो जाती, क्योंकि एक-एक कर लोग अचानक खिसकते जा रहे थे ऊपर।

कुछ ही दूर, शहर के केन्द्र में दिख रहा है किशोर का मकान। छाता ऊपर कर सुमंत ने उधर देखा। फाटक पर अभी भी किशोर का नाम लिखा है। वह शायद कुछ और दिन वैसे झूलता रहे। क्रमश: धुँधला पड़ता जायेगा। अचानक एक दिन उत्तराधिकारी को लगेगा—"सच तो। इसके यहाँ अब और झूलने की ज़रूरत भी क्या है?" फिर नेम-प्लेट हट जाएगी, सदा के लिए।

किशोर के जाने से पहले सुमंत के एक घनिष्ठ मित्र गोप बाबू जा चुके हैं। दोनों के बीच में गुज़र गए हैं बसंत, घनिष्ठ न हों तो भी मित्र तो थे ही।

बीच में वर्षा कुछ अधिक भारी हो जाती है। पर वह समझ नहीं पाये। क्योंकि एक गूढ़ रहस्य के गर्भ में प्रवेश कर एक मूल्यवान् तथ्य की खोज में लगे हैं। एक के बाद एक परलोक जानेवाले सभी मित्रों से उनकी ख़ूब बातें हुई हैं—मरने के ठीक पहले। आसन्नप्राय मृत्यु के कुछ सार्वजनिक लक्षण उनमें दिखे? ऐसी कोई बात या उनका आचरण याद है जो सबमें स्फुरित हुआ था? उनमें हरेक अपनी चेतना में किसी न किसी स्तर पर क्या आसन्न मृत्यु की बात नहीं जानता होगा? उस ज्ञान का क्या कोई स्थूल परिप्रकाश नहीं हुआ होगा? या सबके मामले में कोई इकसार घटना नहीं हुई होगी?

छाते पर हल्की बौछारें उनके दिमाग़ के अंदर की क्रिया को और तेज़ कर रही हैं।

किशोर से ही वह अपनी मानसिक जाँच-पड़ताल शुरू करने लगे। अन्तिम भेंट के समय किशोर से किस विषय पर चर्चा हुई थी? तुरन्त सारी बातें याद आ गईं। उस दिन किशोर कहने लगा—"सुमंत! एक मज़ेदार बात सुनी है? तेरी-मेरी तरह के दो बूढ़े बैठकर रास्ते की ओर देख रहे थे। एक युवक वहाँ एक युवती का पीछा कर रहा था। पहले बूढ़े ने दूसरे से पूछा—'याद है, हम भी जवानी में ऐसे ही पीछा किया करते थे!' दूसरे बूढ़े ने जवाब दिया—'कैसे पीछा करते थे इतना तो याद है, पर क्यों करते थे सो याद नहीं आता।'

सुमंत हँस पड़ा तो किशोर ने कहा—"समझे, यह सफ़ेद झूठ है। मुझे तो इस उम्र में भी उसी तरह पीछा करने की इच्छा होती है। अच्छा सुमंत, तुम्हारे मन में नहीं होती?"

"उम्र जब थी तब तो पीछा नहीं किया। अब वैसी लालसा आयेगी भी कहाँ से?"

किशोर सुमंत की बात मानने से इंकार कर सिर हिला रहा था। कहा—"नहीं सुमंत ! तेरी कैफ़ियत मेरी खुल्लमखुल्ला स्वीकारोक्ति के समकक्ष नहीं हुई। तू बात टाल रहा है।"

स्वीकारोक्ति की थी गोपी बाबू ने भी "समझे, सुमंत !" उन्होंने कहा था—"कुछ दिन से एक भय घेरे है मुझे। कोई अपरिचित आदमी मेरी ओर देखता है तो मुझे लगता है वह मुझसे घटा न पूछ ले।"

सुमंत ने हँसकर समझाया था—"गोपी ! यह बेकार की बात है। बचपन में तुम गणित में निहायत गधे थे। याद है ? वही आतंक दबा हुआ था।"

"मेरे आतंक के लिए उत्तरदायी हैं कापालिक की तरह वह गणित-शिक्षक। भले आदमी को भी वह मारने लगते।"

"वह ख़ुद ही मर गए होंगे। गोपी···तुम···।"

गोपी बाबू ने उत्तेजित होकर कहा—"उस भले आदमी ने अजीबो-ग़रीब सवाल पूछ कर मुझे कम हैरान किया ? बोले—सत्रह को साढ़े तीन से गुणा करो। वास्तविक जीवन में मुझे कभी एक बार भी सत्रह को साढ़े तीन से गुणा करने की ज़रूरत नहीं पड़ी।"

—"शांति-शांति ! गोपी ! आजकल गणित की परिभाषा ही बदल गई। उस दिन हमारे छोटे नाती ने पूछा—बाबा, दो और दो मिलकर कितने होते हैं ? मैंने कहा—चार। वह हँस कर बोला—यह कोई ज़रूरी नहीं। मैं और लिली मिल कर दो हुए। मान लो, हमारे सामने दो संदेश की मिठाइयाँ रखीं। रखोगे तो ? पर हम दो और वे संदेश दो—मिल कर क्या चार हो जायेंगे ? नहीं होंगे। और कारणों की बात छोड़ो। हम तो दोनों तुरन्त उनको खा लेंगे। फिर दो के दो ही रहे।"

"संदेश ? चल सुमंत, संदेश खाया जाये। मेरे लड़के के घर पर तो नाश्ता कहने से पावरोटी या आमलेट और चाय। ज़माना हो गया संदेश-समोसा खाये।"

दोनों मित्र चले गये एक छोटी-सी दुकान में। बैठ कर नाश्ता किया। गोपी बाबू के खाने की मात्रा देख सुमंत को ताज्जुब हुआ।

अगले दिन गोपी बाबू बाथरूम में फिसल कर चल बसे।

"अरे सुमंत बाबू ! बाथरूम में गिरकर मरा गोपी ? उसमें न अक़्ल थी और न कभी हुई। मैंने अपने नाती-पोतों को कह दिया है, मेरे मरने का समय आया देखो तो साफ़-सुथरी सेज पर सुला देना। आखिरी साँस छूटने से पहले फूलों के गुलदस्ते लाकर सजा देना। साँस टूटने के बाद फूलों की महक थोड़े ही ली जा सकेगी ?" बसंत बाबू ने कहा था।

"मौत कैसे, कब, किस तरीक़े से आयेगी, इस बात को क्या आप पहले ही बता सकेंगे ?"

"क्यों नहीं ? आजकल जीवन और मृत्यु में कोई ख़ास तारतम्य तो नहीं दिखता। हमारे आगे जितने लोग आवा-जाही कर रहे हैं—कोई नवाब की तरह चल रहा है, तो कोई ग़ुलाम की तरह। सोचो तो सही—सिर्फ़ कुछ वर्ष बाद इनमें कोई नहीं होगा। अर्थात् निकट भविष्य के किसी बिंदु से इन पर निगाह डालें तो लगेगा ये सब मर चुके हैं। सिर्फ़ चलना-फिरना और बातचीत कर रहे हैं। जैसे कि कोई मृत अभिनेता-अभिनेत्री सिनेमा के पर्दे पर प्रेम और झगड़ा-फ़साद करते हैं।"

"बात तो ज़ोरदार कह डाली!" सुमंत ने बधाई के लहजे में कहा।

—"भई, तुम्हें बात ज़ोरदार लगी। मगर यही बात जब मैंने पत्नी से कही, कि हम दोनों मृत हैं, सिर्फ़ जी-भर रहे हैं, तो उसने जाकर बेटे से कहा—मेरा दिमाग़ ख़राब हो गया है। उनकी गतानुगतिक धारणा में है कि जो मृत है वह जीवित नहीं है। सब कितने बचकाने हैं! असल बात है कि सब मृत हैं—कह सकते हो, भावी-मृत हैं। जो होना ध्रुव है, तो वह मान लो, हो ही चुका है। ऐसा मानने में ग़लती कहाँ रही ?"

विदा के समय बसंत ने कविराज की तरह निदान बताते हुए कहा—

"आपको अपने दृष्टिकोण का रहस्य खोलकर कह दिया है। इस दृष्टिकोण का विकास कीजिए। देखना, अनेक दुख-चिंता सब खुद ही कम हो जाएँगे! वे सब मूल्यहीन लगेंगे।"

बस! इसके बाद पन्द्रह दिन तक बुखार चढ़ा। बसंत बाबू ने धूमधाम से परलोक की यात्रा की। मरने से पहले दूध की तरह सफ़ेद जगमग करता बिस्तर लगा दिया गया था। सुगंधित फूलों से कोठरी महक रही थी। मृत बसंत बाबू तब सुमंत को जीवन्त दिखे थे।

वर्षा थमी या नहीं, यह पता करने के लिए सुमंत ने छाता ऊपर की ओर किया। लेकिन सामने दिख गया विनोदिनी का घर।

अब हालाँकि विनोदिनी बूढ़ी हो चुकी है। वह खुद भी बूढ़े हो गए हैं, विनोदिनी से मिलने आ रहे हैं सुमंत बाबू। उन्हें बसंत बाबू का दर्शन बेचैनी और चैन दोनों की अनुभूति दे रहा है। विनोदिनी के इस प्रत्याशित मधुर व्यवहार का मूल्य क्या है—अगर वे स्वयं और विनोदिनी दोनों ही मृत हैं ?

क्या कहेगी विनोदिनी ? कि थोड़ा-सा प्रेम कर बैठी थी ? सचमुच अगर प्रेम करती थी, आज क्या उसकी स्वीकारोक्ति देगी ? सभी मित्रों ने मेरे आगे कुछ न कुछ स्वीकारोक्ति की है। फिर विनोदिनी भला क्यों नहीं करेगी ?

सुमंत अचानक रुक गये। कुछ क्षण पहले वह जिसके बारे में सोच रहे थे—मृत्यु पथगामी मित्रों के व्यवहार में सार्वजनिक लक्षण क्या थे, इस बात का अता-पता पा गये। सब स्वीकारोक्ति के लिए उत्सुक थे और स्वीकारोक्ति सुनाने के

लिए उन्हें ही चुना था।

अर्थात् उनसे इन लोगों की बात-चीत थी उनकी मृत्यु का पूर्व लक्षण।

विनोदिनी भी बात-चीत करेगी। स्वीकारोक्ति करेगी। और फिर मरेगी।

वर्षा थम गई है। सुमंत ने खट् के साथ छाता बन्द किया। वर्षों पहले स्कूल ड्रिल में एक्सरसाइज़ के समय किये हुए एबाउटर्न को दुहरा कर एक मोड़ लिया। एक संभ्रात वृद्ध को इस तरह व्यवहार करते देख दो-चार बटोही वहाँ अचम्भा करने लगे।

अपने कमरे में आरामकुर्सी पर बैठ सुमंत ने मन-ही-मन विनोदिनी से उस दिन कहा—

"जान-बूझकर तुम्हें कैसे मृत्यु के क़रीब लाता, बोलो तो!"

(अनु०—शंकरलाल पुरोहित)

मोह



विभूति पट्टनायक

उन्होंने मन ही मन एक तरह से तय कर लिया था कि छोटी बेटी इतिश्री के विवाह के बाद हरिद्वार चले जाएँगे। अब और सांसारिक जंजाल, माया-मोह में नहीं रह सकेंगे।

दुनिया को पैंसठ वर्ष में खूब देखा, भोगा और सहा। अब यहाँ रहने को और मन करना घसीटे जाना होगा।

इसके अलावा हर की पैड़ी के साथ उनका अलिखित अनुबंध भी था। ग्यारह वर्ष पहले पत्नी सरस्वती को लेकर वह ऋषिकेश गए थे। तभी हर की पैड़ी पहली बार देखी। पहले ही दर्शन में प्रेम। हरिद्वार में ही तो पुण्यतोया गंगा का धरावतरण। और हर की पैड़ी पर ही उसका उच्छ्वसित जल-कल्लोल।

संध्या समय सरस्वती की गंगा आरती देखते समय उन्होंने चुपके से हर की पैड़ी से कहा था—कभी न लौटने के लिए दुबारा यहाँ तुम्हारे पास आऊँगा। वादा करता हूँ।

नरोत्तम ने एक बार सरस्वती से भी मन की बात खोलकर कही थी।

सुन कर वह हँस पड़ी।

परिहास में कहा—"मछली का टुकड़ा न हो तो भात गले से नहीं उतरता, और तुम हर की पैड़ी पर बैठ कर मछलियों को आटे की गोलियाँ खिलाओगे! सब फ़ालतू बातें हैं—"

सरस्वती आज नहीं है।

चार वर्ष पहले उसकी मृत देह को श्मशान में दाह कर आने के बाद उन्होंने मांसाहार छोड़ दिया।

बड़ी बहू ने दबे स्वर में कहा था—"हूँ, पिताजी का श्मशान-बैराग देख लो। कल मछली बिना भात गले से उतर सकेगा?"

लेकिन नरोत्तम को कोई तकलीफ़ नहीं हुई। उलटे आमिषी गंध के प्रति ही एक तरह की वितृष्णा हो गयी। दुनिया ही उन्हें

आमिषी-आमिषी लगी। हाथ-पाँव बाँध अपने को दुनिया से अलग कर लेने की बात सोच ही रहे थे कि लगा, जैसे हर की पैड़ी हाथ हिलाकर बुला रही है।

इतिश्री उनका अन्तिम दायित्व था।

इस वर्ष खूब मज़े में उसका विवाह भी सम्पन्न हो गया। वर के लिए दौड़ना नहीं पड़ा। खुद ही उसने चुनकर इस बोझ से मुक्त कर दिया उनको।

एडवोकेट नरोत्तम दास के पाँवों से सांसारिक बंधन की साँकल ढीली होती गई। उन्हें लगा, जैसे वह अब मुक्त आदमी हैं। कचहरी जाना, पैसों के लिए मुवक्किलों के पीछे दौड़ना—अब इन सबमें उन्हें कोई खास रुचि नहीं रही। अपने को समझाया—अब और मुड़कर देखने की ज़रूरत नहीं। मुड़कर देखेंगे तो जीवन चला जाएगा। ऋषिकेश नहीं जा पाएँगे वह कभी।

जीवन में कोई ग्लानि या निस्संगता भुलाने के लिए नरोत्तम संसार-त्यागी नहीं बने। न पत्नी के जाने के बाद वैराग्य आया है। सरस्वती से बिछड़ने पर उन्हें गहरी चोट लगी। लेकिन क्या करते, वह जिस रोग से गई, उसकी कोई दवा रूस-अमेरिका तक में नहीं निकली।

वह हरिद्वार में हर की पैड़ी की ओर खिंच रहे हैं। वादा था। चुपचाप, अकेले कहा था, भेंट होगी अन्तिम दिनों में।

अन्तिम दिन तो आ गए।

सारा भारत घूम चुके हैं। अमेरिका, फ्रांस, इंग्लैंड भी हो आये हैं। पर हरिद्वार-गंगा तट जैसी शांत, तृप्ति देने वाली जगह कहीं नहीं मिली।

उनके अवचेतन में गंगाधार सदा कलकल-छलछल करती बह रही है, पिछले ग्यारह वर्ष से। जीवन की पगडंडी पर कभी ठोकर खाने पर मन-ही-मन कहते—बस, अब चलेंगे हरिद्वार-ऋषिकेश···शिवानन्दजी के आश्रम···।

शिवानन्द आश्रम में उस बार भेंट हो गयी एक युवक संन्यासी से, उड़िया-भाषी। वेदांत पढ़ने गये थे, फिर नहीं लौटे। हालाँकि कहकर बधाई थी। आश्रम में रहना चाहें तो व्यवस्था करने का वचन भी दिया था। दिव्य जीवन की खोज में उनके-जैसे कई संसार-त्यागी वहाँ संन्यास लेकर रह रहे हैं। वह क्यों नहीं रह सकेंगे?

मगर नरोत्तम चाह कर भी ग्यारह वर्ष में हरद्वार नहीं जा सके।

ठोकर खाकर अपने आप उठकर खड़े हुए हैं। धूल झाड़-पोंछ ली। फिर जटिल जीवन के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर कमर सीधी कर काला कोट पहन लिया।

रास्ता बहुत-बहुत लम्बा, आशा बलवान, पाँव थक जाने पर भी रास्ता समाप्त नहीं होता : सब-कुछ पा लेने के बाद भी और कुछ पाने की आशा पंचेन्द्रियों को उत्तेजित कर देती है।

इन्द्रियों के सुख से मिली यह उत्तेजना ही तो जीवन है।

मगर अचानक एक दिन जो देखा, हरिद्वार उन्हें याद आ गया।

बड़ा पोता बनू आकर कहने लगा—"बाबा! राकेश शर्मा आज महाकाश में प्रवेश करेंगे। टी.वी. पर सीधे दिखाया जायेगा। आप देखेंगे?" बनू सोलह का ही हुआ है।

बनू के मुंह से राजेश खन्ना का नाम तो कई बार सुना है। पर इस बार यह कोई नया ही नाम था। कोर्ट-कचहरी के काम में रात-दिन डूबे रहना पड़ता है। शाम को बच्चे टी.वी. से चिपके होते, वह तब मुवक्किलों के काग़ज़-पत्रों में उलझे रहते।

अतः विस्मय से पूछा—"यह राकेश शर्मा कोई नया फ़िल्म-स्टार है?"

"ना-ना। वो तो फ़र्स्ट इंडियन स्पेसमैन, कोस्मोनॉट है। दो और सोवियत कोस्मोनॉट के साथ सोयुज महाकाश यान में बैठकर महाकाश में यात्रा करेंगे। टी.वी. पर डाइरेक्ट टेलीकास्ट होगा। आप देखोगे?"

बनू के स्वर में उत्तेजित आवेग झनझना रहा था। नरोत्तम के मन में भी पोते की बात कुछ क्षण के लिए संक्रमित हुई।

उल्लसित होकर उन्होंने कहा—"ज़रूर···ज़रूर···ज़रूर!"

और उन्होंने सारा दृश्य देखा भी।

तीनों महाकाश-यात्रियों को लेकर सोयुज रूस की धरती से महाशून्य की ओर तीर की तरह छूटा, टी.वी. के दर्शकों के हृदय की धड़कनें बढ़ गईं···अज्ञात आवेग की उत्तेजना, आँखों में उल्लास की चमक। पृथ्वी का वायुमंडल पार कर कोई भारतीय महाशून्य में प्रवेश कर गया, एक अविश्वसनीय जैसी बात। कोई उस आनंद को अपने अंदर नहीं रख पाता···सिर्फ़ नरोत्तम चुप रहे।

राकेश शर्मा की महाकाश-यात्रा ने नरोत्तम को विचारों के एक और सागर में डाल दिया। मन ही मन हाथ-पाँव फैलाये अनंत सागर में तैरते रहे। फिर एक बार हर की पैड़ी पावन-सलिला गंगा का कल-निनाद सुनने लगे, मन में आये उद्वेलन ने उन्हें अस्थिर कर दिया।

एक राकेश शर्मा महाकाश-यान में चढ़कर पृथ्वी का वायुमंडल भेद महाशून्य में चला गया। इस विचार के बाद वह अपने आगे स्वयं अपराधी हो उठे। अपनी पंचेंद्रिय की दुनिया छोड़ अतीन्द्रिय जगत् में प्रवेश करने की बात थी। संसार की मोह-माया तोड़कर आध्यात्मिक जगत् के अन्वेषण में जाना था, राकेश शर्मा गए, और वह आज भी वहीं खड़े हैं।

भावों में डूबे सिर झुकाए वह वहाँ से उठकर चले आए। मन ही मन स्वयं को धिक्कारने लगे—नरोत्तम! तू सदा नराधम ही रहेगा। कभी हरद्वार गंगा-तट का सूर्योदय या सूर्यास्त नहीं देख सकेगा। तेरे मरने के बाद कंधे पर लादकर लोग "राम नाम सत्य है" कहते हुए ले जाकर फूंक आएँगे। और तू कभी जीव

पर राम नाम नहीं ले सकेगा।

मन ही मन पूछने लगे—क्या आकर्षण रहा है तेरे लिए ? किसके लिए तू यह माया तोड़ गंगा-तट पर नहीं जा रहा ? दोनों बेटों, दोनों बेटियों को देख लिया तेरी स्त्री ने उन्हें जन्म देते समय कितना कष्ट झेला ! उन्हें आदमी बनाने में कितना [illegible]-दर्द सहा। मरने के बाद ? महीने दो महीने तो माँ-माँ करते रहे। फिर ? माँ के टँगे फ़ोटो पर झूलती फूलों की माला कब से सूखकर झूल रही है··· फूल बदलने की है किसी को फ़ुरसत ? और तेरे मरने के महीने भर बाद वह याद रखेंगे ?

सरस्वती पहले चली गई। उसी ने आँखों में अँगुली देकर समझा दिया—संसार में सब कितना अनित्य है, फिर भी वह समझ क्यों नहीं पाते ?

नहीं···नहीं···नहीं···।

बस। और अब नहीं। अब उठना होगा। पिता का कर्तव्य निभा दिया। अपने सुख-संतोष के लिए जिन्हें संसार में लाए, उनके प्रति कर्तव्य पूरा हो गया। अब तो पतितपावनी गंगा की जल-धार बुला रही है। बहुत घुट लिए—अब और नहीं।

मरने के बाद स्वर्ग या नरक—इस चिन्ता में नरोत्तम कभी नहीं पड़े। तर्कवादी उनके मन को कभी स्वर्ग की कल्पना से उल्लसित नहीं किया—और न कभी नरक के भय ने आतंकित किया। वह तो इस जीवन में ज़रा-सी शांति चाहते हैं। परिपूर्ण तृप्ति की इच्छा नहीं है। कभी पत्नी का सौन्दर्य, बेटे-बेटियों के कृतित्व को देखकर खूब शांति मिलती थी।

अब वे बातें सोचकर ही क्लांति लगती है। इस शहर की धूल, धुआँ, ऊँची इमारतों से घिरा कोलाहल, उन्हें उदास कर देता है। थोड़ी-सी खुली हवा, ज़रा-सा निर्बाध जीवन का स्निग्ध-कोमल स्पर्श मिल पाता।

हर की पैड़ी जादूगर की तरह उन्हें इशारा कर रही है। अपने अंदर एक मधुर उचाट का अनुभव हो रहा है। नींद में सपना देखने की तरह स्वगतोक्ति करने लगे—तो अब की माया-मोह तोड़कर चले जाना ही होगा !

शिवानंद ने आश्रम के उन्ही सन्यासी को पत्र लिखा। उत्तर आया। राकेश शर्मा ने महाकाश से पृथ्वी के फ़ोटो खींचे थे। उन्होंने अपनी छोटी-सी दुनिया का मोह छोड़ हरद्वार का टिकट बनवाया।

घर पर सब जानते हैं, वह हरद्वार जा रहे हैं। पर वह संसार-त्यागी बन रहे हैं, यह कोई नहीं जानता।

बनू कहता है—"बाबा ! तीर्थ से लौटते समय मेरे लिए एक क्रिकेट का बैट लाना। डैडी ने जो दिए थे, पुराने हो गए।"

नरोत्तम ने अपने लाड़ले पोते की बात सुन हाँ-हूँ कर टाल दी।

पहले आमिष छोड़ा, तब कुछ अटपटा-सा लगा था। पैंसठ वर्ष की उम्र में इस घर-बार को छोड़ जाने की बात पर कष्ट हो रहा था। मगर सरस्वती की बात, हर की पैंड़ी का दृश्य—ये सब सोच मन के कष्ट को ऊना कर रहे थे।

अपने परिवार के औरों की बात सोच वह मन ही मन कहने लगे—बाबू रे, भैया रे! औरों के कंधों पर चढ़ श्मशान जाने से पहले मैं अपने पाँवों से चल हर की पैंड़ी जा रहा हूँ। मुझे और न खोजना! तुम लोगों के साथ सारा हिसाब करके जा रहा हूँ। मुझसे किसी को कुछ नहीं पाना है।

इसके बाद नरोत्तम कुछ दिन खूब हँसमुख, प्रफुल्ल-चित्त दिखते रहे। चेहरे पर एक अलौकिक आभा फूटती लगी। कुछ को लगा—बूढ़े को अपनी जवानी फिर मिल रही है।

काला कोट अब और नहीं पहनेंगे। मुक़दमे नहीं लड़ेंगे। सुनकर मुवक्किल अचंभे से भर गए। नरोत्तम ने समझा दिया—"मैं वकालत नहीं करूँगा।" लोगों ने बहुत कहा, पर मना कर दिया—"सिर्फ़ भगवान के सिवा किसी को माईलार्ड नहीं कह सकूँगा मैं, अब।"

शराब पुरानी होने पर नशा और गहरा होता है, वकील अनुभवी पुराना होने पर उसके भाव बढ़ जाते हैं। नरोत्तमदास के जैसे अनुभवी वकील को छोड़ने पर मुवक्किल राज़ी ही नहीं हो रहे। फ़ीस बढ़ाई जा सकती है। मगर नरोत्तम अपनी बात पर दृढ़ हैं।

कुछ ने तो कहा—"वकील साहब के दिमाग़ का पेच ढीला हो रहा है। वरना घर-आई लक्ष्मी को कोई ठोकर मारता है?"

नरोत्तम के कानों में सारी बातें आतीं। सुनकर वह हँस देते। कोई मंतव्य नहीं देते। स्वार्थी लोगों की भीड़ से खुद को दूर कर लेने का संकल्प और दृढ़ हो जाता। हरिद्वार जाने की बात याद आते ही आँखें चमक से भर जातीं।

जाने का दिन क़रीब आ गया। अचानक अंदर रोना-चीखना सुन वह चौंक गए।

बार-बार मना करने पर भी बनू स्कूटर लेकर अपने दोस्त के यहाँ गया था। लौटते समय तेज़ी से जा रही जीप से टकरा गया।

बनू ऐक्सीडेंट के बाद ऑपरेशन थियेटर में। घर में कुहराम मच गया। नरोत्तम तो सुनते ही एकदम टूट गए। रोने की कोशिश कर भी नहीं रो सके। बदहवास से साइकिल लेकर दौड़े अस्पताल की ओर।

बनू के बायें पैर पर से जीप गुज़री थी। डॉक्टरों ने पैर का वह भाग काट दिया। बनू अचेत बेड पर लेटा था। नाक में ऑक्सीजन की नली। खून देने के लिए हाथ में एक जगह नली लगाई गई थी। वह दृश्य देख संसार-बैरागी मन अचानक दुख में भर गया। आँसू उतर आये।

होश न आने तक बनू के पास बैठे रहे। भूख-प्यास सब ग़ायब। पोते के लिए इतना गहरा आकर्षण। पत्नी या बेटों के लिए भी कभी ऐसा तो नहीं हुआ।

तेरह घंटे बाद बनू को होश आया।

नरोत्तम को देख एकदम क्षीण स्वर में कहा—"बाबा ! मेरे एक पांव पर चक्का चढ़ गया। दूसरा बिलकुल ठीक है।"

बनू ठहरा राकेश शर्मा के ज़माने का बच्चा ! महाशून्य का आदमी, इस धरती का माटी-गारा पाँवों में नहीं लगाना चाहता।

पोते की बात सुन नरोत्तम छलछला आये।

उन्हें उसी रात की गाड़ी से दिल्ली जाना था। वहाँ से जाते हरिद्वार। ट्रेन चली गई। छुक्-छुक् तो उन्हें सुनाई पड़ रही थी गाड़ी की। मगर ट्रेन पकड़ने की कोई ललक अन्दर नहीं रह गई थी। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की तरह बनू का आकर्षण उन्हें बाँधे रहा।

अगले दिन बनू ने पूछा—"बाबा ! आप कब जायेंगे तीर्थ ? मैं तो क्रिकेट खेल न सकूंगा। बैट लाने की ज़रूरत नहीं। पकड़ पर चलने के लिए एक अच्छी-सी बेंत की लकड़ी लेते आना।"

धीरे से कहा—"बलि को पाताल में दबाये रखने के लिए विष्णु का एक पाँव ही काफी था। एक पांव बहुत है। इंद्रियातीत जगत में जाने के शौकिया सुख के बजाय तेरे पास रहने में आनंद है—मैं तीर्थ नहीं जा सकूंगा।

नरोत्तम की बात सुन बनू को यों ही हँसी आ गई।

(अनु०—शंकरलाल पुरोहित)

उर्दू

• म. क. महताब
• देवेन्द्र इस्सर
(अनुवादक—लेखक)

सरसों के फूल

□

म. के. महताब

बलविन्दर में रुचि का कारण यह नहीं था कि सादगी और भोलेपन के शिखर को छूती हुई यह लम्बी-सी लड़की बहुत ही सुन्दर थी। ऐसी अनार रंग, लम्बे केशों और खुली-खुली आँखों वाली जवान लड़कियाँ पंजाब के देहात में अक्सर मिल जाती हैं, किन्तु जिस बात ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया था, वह बलविन्दर की सादगी और खुलदिली थी। हलके पियाज़ी सलवार-कमीज़ वाली इस लड़की को, जिसने काले चमड़े का थैला बग़ल में दाब रखा था, यह अहसास ही नहीं था कि उस-जैसी सुन्दर युवती को एक अनजान पुरुष से यों खुलेआम बात नहीं करनी चाहिए थी।

सायंकाल के साये लम्बे होते जा रहे थे। फ़ीरोज़पुर से मोगा जाने वाली बस तैयार खड़ी थी। मैं जल्दी से टिकट लेकर बस में आ बैठा था। यह बस छूट जाती तो रात मोगा पहुँचने का कोई और साधन नहीं था। हालात ठीक न होने के कारण आखिरी बस सायं साढ़े छह बजे छूटती थी और मैंने मोगा में अपने मित्र रामसिंह को सूचना भेज रखी थी कि मैं बुधवार रात आठ बजे तक उसके यहाँ पहुँच जाऊँगा। यदि यह बस निकल जाती तो रामसिंह को बहुत परेशानी होती। संभव है, वह सोचने लगता कि मैं किसी दुर्घटना में मारा गया हूँ। कहीं पकड़ा गया हूँ या किसी बंदूक़धारी आतंकवादी की गोली का निशाना बन गया हूँ जो उन दिनों इधर खुले-बन्दों घूमते फिरते थे।

यही सोचकर मुझे बस की सीट पर एक तरह से शान्ति-सी हुई। हालाँकि इस जल्दबाज़ी और हड़बड़ाहट में मुझे ध्यान नहीं आया कि मेरी जेब खाली हो गई है और इस ओर मेरा ध्यान बलविन्दर ने दिलाया जो कह रही थी :

"श्रीमान जी, आप अपना पर्स बाहर भूल आये हैं।"

मैंने निगाह उठाकर उस लड़की की ओर देखा जिसके चेहरे से उष्णता की किरणें फूट रही थीं और जिसके मृग नैन मेरे शरीर पर छाये हुए थे। घबराहट में मैं समझ नहीं पाया कि यह पंजाबी सुन्दरी मुझसे क्या कहना चाहती है। "शायद आप अपना पर्स बाहर टिकट की खिड़की पर भूल आये हैं!" उसने बात दोहराई। वह मेरे ऊपर झुकी खड़ी थी और उसकी लम्बी चोटी के आख़िरी सिरे के खुले बाल मेरी गर्दन को छूने से मेरे शरीर में एक सनसनाहट-सी हो रही थी। मैं एकदम उठकर अपनी जेबें टटोलने लगा। निश्चित ही मेरा बटुआ कहीं नहीं था। मैं बस के दरवाज़े की ओर बढ़ रहा था कि बलविन्दर ने मुझे रोक लिया।

"चिन्ता न करें, मैं आपका पर्स ले आई हूँ!" और उसने अपने चमड़े के थैले में से मेरा पर्स निकाल कर मुझे थमा दिया। मैं इस लड़की के अहसान-तले दबा जा रहा था। मेरे पास शब्द नहीं थे कि मैं उसका धन्यवाद कर सकूँ और सबसे बढ़कर यह कि मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि सभ्याचार के तौर पर एक पिछड़े सीमांत क्षेत्र में मेरी भेंट एक ऐसी हँसमुख और खुले स्वभाव की लड़की से भी हो सकती है जो एक अनजान यात्री से यों खुल कर बात कर रही थी मानो उसे बहुत दिनों से जानती हो। मैंने उसे अपने साथ वाली सीट पर बैठने का निमंत्रण दिया जो उसने झट कबूल कर लिया। उसने अपना छोटा-सा अटैची सीट के नीचे डाल दिया और सलाइयाँ निकाल कर कुछ बुनने लगी।

मैं उसे बता रहा था कि मेरी यह भूल एक मानसिक भय के कारण थी। मैं अपने समाचार-पत्र की ओर से इस सरहदी क्षेत्र का भ्रमण करके अपने अनुभव की रिपोर्ट भेजने के लिए इधर आया था। मुझे बताया गया था कि दिन ढल जाने के पश्चात् इधर सब वीरानी हो जाती है। प्रशासन मुंह फेर लेता है। असामाजिक तत्व खुल खेलते हैं और यदि आख़िरी बस निकल जाये, तो यात्री का प्रभु ही मालिक होगा। इसीलिए मैं निकट के एक गाँव से ताँगा लेकर भागा-भागा आया था कि कहीं आख़िरी बस निकल न जाये।

बलविन्दर मेरी चिन्ता का अनुभव करके धीमी-सी मुस्कान के साथ बोली—

"ऐसी चिन्ता की तो कोई बात नहीं है। आप बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग और कनाट प्लेस की ऊँची-ऊँची जगमगाती इमारतों में बैठने वाले यों ही देहात के अँधेरों से घबराते हैं।" वह आँखें झुकाए स्वेटर बुनती जा रही थी।

बलविन्दर मोगा शहर के निकट एक गाँव की रहने वाली थी। फ़ीरोज़पुर के गवर्नमेण्ट हायर सेकण्डरी स्कूल में इतिहास की अध्यापिका थी। वह सलाइयाँ बुन रही थी और मैं मन ही मन में अपनी यात्रा के दूसरे चरण की रिपोर्ट का ताना-बाना बना रहा था। इस दौरान हम एक-दूसरे से परिचित होने के लिए छोटे-

छोटे बोलो का सहारा ले रहे थे।

बाहर सर्दी बढ़ गई थी। खिडकियों के शीशे बन्द कर दिये गए थे। अँधेरा बढ़ता जा रहा था और मेरे दिमाग़ में पंजाब की उन खूनी दुर्घटनाओं की याद आ रही थी जब अँधेरी रातों में बसों को रोक कर बेगुनाह यात्रियों को गोली मार दी जाती थी। सामान लूट लिया जाता था। बस के अन्दर बम फेंक दिया जाता था। उन निर्दोष यात्रियों पर क्या बीतती होगी ? उसी प्रकार अब भी कोई हमारी बस का अपहरण करके इसे खेतों में ले जाये तो हम पर क्या बीतेगी ? यह सोच कर मैं डर से कांप उठा और सीट की पीठ से पीठ लगाकर आँखें बन्द कर लीं।

"आप डर रहे हैं ! कहाँ जाएँगे आप ?" उसने पूछा।

"मोगा में अपने एक मित्र के यहाँ जाऊँगा। क्या इस समय कोई ताँगा-रिक्शा मिल जायेगा ?"

"आप हमारे यहाँ ही क्यों नहीं ठहर जाते ? हमारा गाँव सड़क पर ही मोगा से दो किलोमीटर पहले है। प्रातः चले जाइयेगा।"

"परन्तु मेरा मित्र प्रतीक्षा कर रहा होगा।"

"हम उसे किसी नौकर के हाथ खबर भेज देंगे।"

मधुर वाणी वाली इस लड़की ने यह निमन्त्रण इतनी सहृदयता और स्वाभाविकता से दिया था कि मैं इन्कार नहीं कर सका। हम मोगा से कुछ पहले ही बस से उतर गए। कड़ाके का जाड़ा पड रहा था। हवा के थपेड़ों से चेहरा सुन्न हुआ जाता था। गर्म सूट से शरीर का कोई बचाव नहीं हो पा रहा था। घर पहुँच कर जान में जान आई। बलविन्दर ने मेरे लिए एक कमरे में बिस्तर लगवा दिया। वहाँ दो कुर्सियाँ, एक छोटी मेज़ और पानी का एक जग रखा था। मैं कम्बल और रज़ाई में दुबक कर बैठ गया तब दिन-भर की थकान और सर्दी से कुछ राहत मिली।

परन्तु कुछ ही देर के पश्चात् मुझे यों लगा मानो मैं मकड़ी के किसी सुन्दर जाले में फँस गया हूँ। दीवार से बिजली का एक बड़ा बल्ब लटक रहा था किन्तु उसका प्रकाश बहुत धीमा था। अकस्मात दरवाजा खुला। एक खूब लम्बा-ऊँचा मोटा-ताज़ा पंजाबी सरदार काली दाढ़ी, लाल भभूका चेहरा, आँखें तनी हुईं, लम्बे-चौड़े हाथ-पाँव, सफ़ेद पगड़ी और रंगीन चादर पहने दरवाज़े को धकेलता हुआ अन्दर आया। उसकी क़द-काठी देखकर एक बार तो मैं दहल गया। उसके दो घूँसे मुझे शून्य कर देने के लिए काफ़ी थे। मैं भयभीत होकर रजाई समेटे ही पलंग पर खड़ा हो गया और कांपने लगा।

वह डरावना-सा व्यक्ति बलविन्दर का बड़ा भाई सुरजीत था। उसने जब आगे बढ़कर मुझसे ज़ोरों से हाथ मिलाया तो मानो मेरा बाज़ू ही कन्धे से उखड़

गया। फिर उसने अपनी चादर की डब में से शराब की बोतल निकाल कर ज़ोर से तिपाई पर रख दी। वह कह रहा था—

"आप बाबू लोग गाँव की असली शराब तो पियेंगे नहीं, इसलिए मैं अंग्रेजी शराब लेता आया हूँ। साथ नमकीन मूंगफली लेंगे या मूली-टमाटर का सलाद मँगवा दूं ?"

सुरजीत ने अलमारी में से दो गिलास भी निकाल कर तिपाई पर रख दिए और कड़क से बोतल की सील तोड़कर शराब गिलासों में उँडेल दी।

"रुको सरदार जी, रुको ! मेरे लिए मत डालो—मैं नहीं पीता।"

"यह कैसे हो सकता है ? आजकल कौन नहीं पीता ? फिर अखबार वाले तो सुना है, ज़हर भी पी जाते हैं। बोलो, पानी डालूं या साफ़ी ही पियोगे ?"

"सरदार जी, मुझे अपने बाप की क़सम है, मैंने कभी शराब नहीं पी।" मैंने परेशान होकर कहा।

"अच्छा, पहले कभी नहीं पी तो आज पियो। यहाँ रात को इतने कड़ाके का जाड़ा पड़ता है कि तुम्हारा खून जम जायेगा। प्रातः बिस्तर में तुम्हारा शव ही मिलेगा और पुलिस वाले हमें पकड़ कर ले जायेंगे कि हमने एक बाबू का अपहरण करके उसे मार डाला है। वाहे गुरु बोलो और गिलास उठाओ !"

"मेरे सिर पर हाथ रखकर कसम खाओ !" मैंने अपनी मरी हुई मुर्गी जैसा हाथ सुरजीत के सिर पर रख दिया। फिर उसने मेरे गिलास वाली रम भी अपने गिलास में डाल ली और बोला—"तो आओ भरे गिलास से खाली गिलास टकरा कर दोस्ती का परण लो !" मैंने गिलास उठा लिया। सुरजीत ने दो ही घूंट में अपना गिलास ख़ाली कर दिया और कहने लगा—

"गर्म दूध तो लोगे ?"

"हाँ, हाँ !" मैंने इस मुसीबत से छुटकारा पाने के लिए कहा। सुरजीत बोतल-गिलास, मूँगफली वहीं छोड़कर दूध लेने चला गया। मैं अपने हाथ को घुटनों में सहलाता हुआ सोच रहा था कि मैं शेर की कछार में आज कहाँ फँस गया ! जब यह आदमी आधी बोतल चढ़ा जायेगा तो मुझे धरती पर पटक-पटक कर मेरा कचूमर निकाल देगा। सिखों को जितना क्रोध है वह सब मुझ पर उतर जायेगा। मैंने कैसा पागलपन किया था ! मुझे अपने मित्र रामसिंह के यहाँ ही जाना चाहिए था। मुझे वहाँ बैठकर इस सीमांत क्षेत्र की स्थिति का कैसा चित्रण करना था। परन्तु अब मैं स्वयं ही इस ख़तरनाक स्थिति में फँस गया था। बलविन्दर की कहीं आवाज़ तक सुनाई नहीं देती थी और सुबह होने तक न जाने क्या हो जाए।

सुरजीत ने, जिसकी आँखें सुर्ख़ हो रही थीं, दूध का गिलास तिपाई पर रख

दिया। मुझे डर था कि मेरे दूध पीते-पीते वह सारी बोतल चढ़ा जायेगा। फिर मुझे गालियाँ देगा या पीटने लगेगा। मैंने उससे कहा—

"सुरजीत, मैंने तुम्हारी बात नहीं मानी। अब तुम मेरी बात मानो और मेरे साथ एक गिलास दूध पियो!"

"हमारा सीना बहुत चौड़ा है बाऊजी। हम तुम्हें निराश नहीं करेंगे।"

हम बातें कर रहे थे। वह दूध में ही थोड़ी-थोड़ी रम मिला कर पिये जा रहा था। वह शाम को चार घंटे ट्रैक्टर चला कर आया था। बहुत थका हुआ था और उसके कथनानुसार रम थकावट दूर कर देती है। घर लौटते ही बलविन्दर ने उसे बताया था कि दिल्ली शहर का एक पत्रकार बाबू उनके यहाँ ठहरा है और सुरजीत को उसकी कुछ आव-भगत करनी होगी। "यदि मुझे पहले से पता होता तो मैं अवश्य ही मछली और पनीर के पकौड़े शहर से ले कर आता!" वह कह रहा था—"बाऊजी! तुम लोग इधर का क्या हाल लिखने आये हो? तुम इन झगड़ों का फ़ैसला दिल्ली में बैठ कर ही क्यों नहीं कर लेते? यह मारा-मारी भी उधर ही कर लिया करो। समाचार-पत्र बेचने के लिए कहीं से समाचार मिल जायेंगे। क्यों हमें भी परेशान करते हो और स्वयं भी परेशान होते हो। यहाँ तो मेहनत से ट्रैक्टर चलाने के पश्चात् रम पीकर फिर कम्बल तान कर सोने को मन चाहता है।"

इतने में दरवाज़ा खुला। हँसती-मुसकाती बलविन्दर, उसकी छोटी बहिन, छोटा भाई और पिता एक हँसता-खेलता परिवार मेरे कमरे में आ गया। वे लोग मुझसे यों बातें कर रहे थे मानो दिल्ली का कोई महान व्यक्ति उनके घर पर आ गया हो। और बलविन्दर की छोटी बहिन इन्दर मेरे आगे-पीछे यों घूम रही थी मानो देखना चाहती हो कि क्या पत्रकारों के कोई दुम भी लगी होती है।

खाना तैयार था। वे सब मुझे खाने पर बुलाने के लिए आये थे। साग-सब्जियाँ, दर्जनों अण्डों के भारी आमलेट, पनीर, शहद, अचार, मुरब्बे, मक्खन, फल जो कुछ भी उनके यहाँ था उन्होंने मेज़ पर लाकर रख दिया था। मैं विवश-सा होकर बलविन्दर को देख रहा था जो अपने मोतियों-जैसे उजले दाँत गुलाबी होठों में छिपाने की कोशिश करते हुए आँखों से बोल रही थी—'सुनाओ मित्र, कैसे फँसे?'

बलविन्दर के पिता दयासिंह मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए मुझसे कह रहे थे—

"काका, यह समाचार-पत्र रोज क्यों छपते हैं?"

"रोज का अख़बार तो रोज ही छपना चाहिए सरदार जी, कल का अखबार तो रद्दी हो जाता है।"

"मगर कभी तो बन्द होने चाहिए। इधर लोग बहुत तंग होते हैं।"

मैं दयासिंह की बातों में छिपी तीखी तंज़ को खूब समझ रहा था।

रात मेरे लिए उसी कमरे में अति आरामदेह बिस्तर लगा दिया गया था। नर्म गद्दे, मखमल का लिहाफ़, मानो किसी पीर-मुर्शद की सेवा की जा रही हो।

कुछ समय पश्चात् बलविन्दर जिसने रात्रि का पहनावा पहन रखा था, खुले केशों में कंघा उड़सा हुआ था, मेरे लिए दूध लेकर आई। "मेरी जान लेने की ठानी है क्या?" मैंने दूध की ओर देखकर हँसते हुए कहा।

"आपने स्वयं ही तो अपने समाचार-पत्र में लिखा है कि इधर हर व्यक्ति की जान खतरे में है।" उसने गाउन की जेब में से वह अखबार निकाल कर दिखाते हुए कहा जो मैंने उसे बस में पढ़ने के लिए दिया था। और वह दूध का गड़वा तिपाई पर रखकर हँसती हुई दरवाज़े की ओर भाग गई। उसके लम्बे काले केश उसकी कमर पर यों लहरा रहे थे मानो समुद्र की लहरें किनारे की ओर बढ़ी चली आ रही हों।

मैं लिहाफ़ में बैठा अखबार में छपे अपने डिस्पैच को याद कर रहा था, जिसमें मैंने लिखा था कि इधर स्थिति बहुत ही विस्फोटक है, लोगों को जीवन पर विश्वास नहीं रहा। कोई व्यक्ति दूसरे से बात नहीं करता। यात्रा करना भी बहुत बड़ा खतरा बन गया है। बस या गाड़ी में लोग बुत बने बैठे रहते हैं। धड़का लगा रहता है कि अभी कोई व्यक्ति उठकर स्टेनगन से गोली चलाने लगेगा। पता नहीं, किस जगह किसका खून हो जाये। केवल पुलिस का पहरा क्या कर सकता है, इत्यादि। और कुछ लोगों के इण्टरव्यू।

प्रातः नाश्ता करके मैं पहली बस से लुधियाना के लिए चल दिया। बलविन्दर भी मेरे संग चलने को तैयार हो गई। उसे स्कूल के काम से वहाँ जाना था। उसकी माँ ने कहा—"जवान लड़की है अकेले कहाँ जायेगी! बाबूजी के साथ ही चली जाना। शाम तक लौट आएगी।"

बस में हम दोनों साथ-साथ बैठे थे। सड़क के दोनों ओर गेहूँ और सरसों के खेत फैले हुए थे। सूर्य निकल आया था। धूप के प्रकाश में मानो खेत जाग उठे थे। खिड़कियों के शीशों पर जमा कोहरा पानी की लकीरें बनकर पिघलने लगा था। बाहर का दृश्य और भी प्रत्यक्ष होता जा रहा था। बलविन्दर मुझसे सटी बैठी थी। भयानक सर्दी के कारण उसकी नाक लाल हो रही थी। उसके शरीर की उष्णता से मेरे वस्त्रों के भीतर की हवा तुषार बनकर मेरे शरीर पर रेंग रही थी। मैंने कहा, "बलविन्दर! बाहर का दृश्य कितना मनमोहक है! सरसों के फूल कितने सुन्दर हैं—मानो वसन्त को किसी ने धरती पर बिठा दिया हो। मैं तो यह सोच कर आया था कि इधर खेत उजाड़ होंगे, गलियाँ सूनी हो गई होंगी। भूमि से लहू के फ़व्वारे छूट रहे होंगे।"

और इतिहास की वह अध्यापिका उत्तर दे रही थी—

"यह धरती है। इसका स्वभाव कभी नहीं बदलता ! कन्धार के कुरुक्षेत्र तक पर कितनी बार और कितना रक्त बहाया गया होगा। कितनी आग इसे लगाई गई होगी। कितने भाले इसके सीने में गाड़े गये होंगे। किन्तु अब भी इसके सीने से उतने ही सुन्दर सरसों के फूल खिलते हैं जितने पहले खिला करते थे। क्योंकि धरती अपना स्वभाव कभी नहीं बदलती।" "मनुष्यता की तरह !"—मैंने कहा। और बलविन्दर मेरी ओर यों देख रही थी, मानो उसे ज्ञान हो गया हो कि मैं अपने दौरे के बारे में अगला लेख क्या लिखने वाला हूँ।

खुशबू बन के लौटेंगे

□

देवेन्द्र इस्सर

—**शायद** तुम्हे कैंसर है।—डॉक्टर ने कहा।

(मौन)

—यह 'वार्ट' कब से है?

—करीब 35 वर्ष से।

—पहले भी इतना बडा था?

—नही।

—और इसका रग?

—मालूम नही।

—अभी तो यह बाहर की तरफ बढ रहा है, इसकी जडे अन्दर भी गहरी होती जाएँगी ··फिर···!

(मौन)

—मृत्यु भी हो सकती है।

—ऑपरेशन जल्दी हो जाएगा। 'बाय्यपसी' भी करा लो··· इसी महीने!

मै चला आया। यदि यह कैंसर ही है तो मुझे मौत के दहाने तक ले जाने के लिए इसे अभी 5-7 वर्ष लगेगे। और तब तक मै पचपन सत्तावन वर्ष का हो जाऊँगा और इससे अधिक जिन्दा रहने की न मेरी इच्छा है और न ही मुझे पसन्द है। अगर इलाज हो भी गया तो कितनी आयु बढ़ेगी? यही 5-7 वर्ष···। और शायद मृत्यु फिर भी कैंसर से ही होगी, यदि इस दौरान कोई हादसा न हो गया तो इतने वर्ष तो अस्पतालों के चक्कर काटते और रोग के निदान-चिकित्सा मे ही कट जायेगे। क्यों न ये वर्ष कुछ होश में और कुछ जुनून मे गुजार दूं। सुना आपने, फ़ैज़ का एक शेर है:

जुनूं में जो भी गुज़री ब-कार गुज़री है,
यूं तो ख़राबी दिल पै हज़ार गुज़री है।

चिन्ता है तो मुझे उस कैंसर की, जिसकी जड़ें तो बाहर हैं लेकिन फैल रहा है मेरी रूह के अन्दर···कितने वर्षों से। इस कैंसर से हर रोज़ मुझे छोटी-छोटी मौतें मिलती हैं लेकिन 'वे' कहते हैं कि इससे बड़ी और अन्तिम मृत्यु नहीं होगी। अधिक-से-अधिक तुम्हारी रूह गहना जायेगी। मैं इन छोटी-छोटी मौतों से डरता हूँ, इसलिए इस लम्हा यदि बड़ी और अन्तिम मौत भी हो जाए तो मुझे कोई ग़म नहीं होगा···और विचित्र बात यही है कि जब भी वे मुझे दुआ देती हैं तो यही कि तुझ पर मौत पड़े। शायद इसीलिए मैंने मृत्यु को कई बार, कई प्रकार से, कई कोणों से सोचा है कि वह अब शरीर के हनन का नहीं, आत्मा की मुक्ति का मसला बन गया है। मैं अपने अहसास को बचाना चाहता हूं, जिस्म अपना रास्ता स्वयं ढूँढ़ लेगा।

जब मैं पाँच वर्ष का था तो एक दिन नौकर आया। मैं सो रहा था।

—माँ बुला रही है···उसने कहा।

—सोने दो, बड़ी नींद आ रही है···मैंने कहा और करवट बदल ली।

—नहीं, माँ जल्दी बुला रही है।

—सुबह मिल लूँगा।

(शायद यह सुबह कभी न आयेगी।) उसने मुझे ज़बरदस्ती गोद में उठा लिया और नीचे ले आया। मैं रोता जाता और उसके कन्धे पर वार करता जाता। माँ कमरे में लेटी हुई थी। नीचे फ़र्श पर बैठे चारपाई के साथ लगे पिता माँ का हाथ पकड़े बैठे थे—मौसी, नाना, मामा, भाई और कई लोग कमरे में मौजूद थे। माँ ने मुझे बुलाया। मैं उसके वक्ष पर सिर रखकर सो गया। शायद उसने मेरी पीठ थपथपाई थी, आशीष दिया था···माँ नहीं रही थी।

मुझे माँ के बारे में कुछ याद नहीं···बस एक चेहरा, कुछ-कुछ सहमा-सहमा सा। जब हम मकान में दाख़िल हुए थे, घर का ताला टूटा हुआ था। कमरों में सब सन्दूक़, अलमारियाँ और ड्रॉअर खुले हुए थे···।

उनका सामान बाहर बिखरा पड़ा था। फ़र्श पर रेशमी, मलमल, किमख़ाब, रंग-बिरंगे वस्त्र। साड़ियाँ बिखरी पड़ी थीं। चोर आए थे। माँ कह रही थी। तुम्हारे पास इतने सुन्दर-सुन्दर कपड़े हैं। तुम पहनतीं क्यों नहीं···मैं कह रहा था। वह सफ़ेद गाढ़ा क्यों पहनती हो? वह मुस्करा दी थी। भय की काली छाया उड़ गई थी।

जब तू बड़ा हो जाएगा तो सब समझ जाएगा।

मैं बड़ा कब हूँगा?

मेरा जन्म 14 अगस्त को हुआ था। 14-15 अगस्त की रात को देश आज़ाद हो गया था···मेरे जन्म के 19 वर्ष बाद। इस लिहाज़ से मैं भी अपने को उन बच्चों में से समझता हूँ जिनका ज़िक्र सुलेमान रूशदी ने अपनी पुस्तक 'मिडनाइट

चिल्ड्रन' में किया है।

माँ शायद मैट्रिक पास थी या आठवीं (1933 की बात है।) और मुझे याद आया वह चेहरा जिसने 5 वर्ष की आयु में ही हिन्दी, उर्दू, पंजाबी और अंग्रेज़ी पढ़ाना शुरू कर दिया था। और दी स्पर्श की संवेदना और दिया प्यार का शऊर।

तुम्हारी माँ तो रण्डी थी रण्डी··· कंजरी। उसने कहा था कई बार।

जैसे वह सड़-सड़कर मरी है, तू भी उसी तरह सड़-सड़ कर मरेगा।

मुझे एक घटना याद आ रही थी। दो पत्रकार बातचीत कर रहे थे। एक ने दूसरे से कहा कि यदि तुम्हारे सामने इदी अमीन बैठा हो और मैं तुम्हें बन्दूक दे दूँ तो तुम क्या करोगे ? दूसरे पत्रकार ने उत्तर दिया कि मैं वह बन्दूक इदी अमीन को दे दूँगा और कहूँगा—लो, यह तुम्हारा हथियार है ! मेरा हथियार तो प्यार है !

नफ़रत का केवल एक रंग होता है—स्याह। और प्यार के रंग हैं हजार। मैंने लिखा—प्रत्येक व्यक्ति, जब किसी दूसरे व्यक्ति के सम्पर्क में आता है तो वह उससे कुछ लेता है और कुछ देता भी है। मुझे तुम्हारी ज़िन्दगी से कई बार उधार लेना पड़ा है, और बारहा मिली है घिसी-पिटी पुरानी करेन्सी और खोटे सिक्के, लेकिन मेरा यही प्रयत्न रहा है कि यदि मैं ब्याज नहीं दे सकता तो कम-से-कम मूल को ही नयी करेन्सी और चमकते-खनकते सिक्कों में लौटा दूँ। मेरी ज़िन्दगी और लेखन के बीच लेन-देन का यही तरीक़ा रहा है। और तुम्हारे और मेरे बीच भी यही तरीक़ा चलता रहेगा। (उसने कोई जवाब नहीं दिया।)

मेरे मस्तिष्क में यह सब-कुछ क्यों गड्डमड्ड हो रहा है ?

—कुछ गड़बड़ नहीं, बरखुरदार, तुम 'इडीपस कॉम्प्लेक्स' के शिकार हो—'मदर फिक्सेशन', 'इन्फ़ेण्ट सेक्चुएलिटी' यानी 'इन्फ़ेण्टाइल सेक्स्यूलिज़्म'।

—गुरुदेव ! उपचार ?

—बिलकुल सहज और सरल। माँ को भूल जाओ। उसकी हर याद को, हर बिम्ब को मिटा दो। सब ठीक हो जाएगा।

मैं माँ को नहीं भूल सका।

मैं तेज़ी से बाहर की ओर भागा···इसका उपचार है अपने भीतर जीवित माँ की हत्या कर दो, एक बच्चे से 'ग्रो' करके वयस्क हो जाओ ! इस बच्चे की भी हत्या कर दो। हर उस चीज़ को, जिसका सम्बन्ध तुम्हारी माँ से है, तुम्हारे बचपन से है, उसे नष्ट कर दो !

मैंने फ्रॉयड की ओर भयभीत दृष्टि से देखा—क्या अब मैं किसी भी औरत से 'नॉर्मल' सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता ?

लेकिन फ्रॉयड की मृत्यु हो चुकी थी। कितना समय बीत गया। मैं न अपनी

माँ से अलग हो सका और न ही अपने अन्दर के बच्चे को ही पीछे छोड़ सका। अपनी माँ की नाभिडोर से बँधा और अपने बच्चे को गोद में उठाए कोई कितना लम्बा सफ़र तै कर सकता है! लेकिन प्रश्न यह था—उस बच्चे का क्या होगा?

उस केवमैन का क्या होगा?

क्या कोई सभ्यता अपने आदिम पुरुष के शव पर विकसित हो सकती है? जब हमारा आदिम पुरुष मर जाता है तो दूसरे सब मनुष्यों से हमारे सब रिश्ते छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

मैंने अपनी डायरी में लिखा—

"मैं कब से सफ़र मैं हूँ, एक अन्तहीन यात्रा। मैं जंगल में पैदा हुआ था। वहीं बड़ा हुआ—युवा, सुन्दर और संवेदनशील। वहीं मेरी मृत्यु हो गयी। और जब मैंने दोबारा जन्म लिया, वयस्क हुआ तो मैंने एक जंगल बनाया। लेकिन यह वह जंगल नहीं था जिसमें मैं युवा, सुन्दर और संवेदनशील हुआ था। बल्कि वह जंगल था, जिसमें जवाँमर्द बेचेहरा और संवेदनशून्य हो गया…।"

तुम जहाँ पैदा हुए हो उस धरती से, उस नगर से, उस गाँव से, उस जंगल से प्रवास कर सकते हो। लेकिन अपने भीतर से उस धरती को, उस नगर को, उस जंगल को निष्कासित नहीं कर सकते। लेकिन मेरी सभ्यता, मेरा समाज, मेरा राज्य, मेरा धर्म, मेरी शिक्षा, मेरी अर्थ-व्यवस्था, रोज़गार, रिश्तेदार, पत्नी, बच्चे मुझे एक घेरे में बन्द करके मेरे अन्दर के इस भूत को निकालने के लिए मुझे प्रतिदिन प्रताड़ित करते रहते हैं। लेकिन यह भूत या परछाईं मेरे अन्दर से नहीं निकलती। वे लोहे के गर्म चिमटों से मेरे शरीर को दाग़ देते हैं। भूत छटपटाकर रह जाता है, लेकिन निकलता नहीं। मैं उसे मार नहीं सकता। वे उसे निकाल नहीं सकते और कोई उसे अपना नहीं सकता।

यह मेरी ट्रेजिडी है या मेरी नियति, कह नहीं सकता।

इसी पाँच और पचास वर्ष के दौरान 15 वर्ष की आयु में मुझे किसी ने अपने शरीर द्वारा मेरे शरीर की चेतना दी। बात कितनी साधारण थी!

मैं नहाने जा रही हूँ। मेरे कपड़ों का ध्यान रखना!

चबालाट नदी के किनारे उसने धीरे-धीरे एक ख़ास अन्दाज़ में अपने कपड़े उतारने शुरू किए। हर कपड़े की हर हरकत पर उसका शरीर थिरकता, वह मुस्कराती बालों को झटका देती…दोपट्टा, सलवार, कमीज, अँगिया और 'कुछ भी नहीं'। शायद उन दिनों 'कुछ भी नहीं' का ही रिवाज़ था। मैं हैरत से उस बदन को देख रहा था—ख़ूबसूरत, सुडौल, थिरकता हुआ, मुंहज़ोर घोड़े की तरह बेक़ाबू होता हुआ।

तुम भी नहा लो। पानी बड़ा ठण्डा है!—उसने अचानक कहा और एक छींट पानी का मेरे मुँह पर फेंक दिया।

लेकिन तुम्हारे कपड़े !

अपने कपड़ों के नीचे रख दो। उसने बड़ी सादगी से कहा। वह पानी में थी। मैं पानी में था। सूरज धीरे-धीरे उग रहा था। दूर पहाड़ियों के पीछे से उसकी लाल सुनहरी किरणें उसके सँवलाए-गदराए बदन से फिसल कर पानी की लहरों पर तैर रही थीं। पानी की आईना-लहरें, सूरज की सतरंगी किरणें, बदन पर बुदबुदाती शबनमी बूँदें, थिरकते अंगों के नृत्य के पार्श्व में बहते पानी का गीत। "मेरी पीठ को ज़रा धो दो। मैल छूट जाए···मेरे हाथ नहीं पहुँचते"—उसने कहा था। और मेरी उँगलियों ने पहली बार आँच महसूस की थी। आँच इतनी शीतल और राहतबख़्श भी हो सकती है, मुझे मालूम नहीं था। यह स्वप्न था या सम्मोहन !

कितने वर्ष बीत गए, इस दृश्य और शरीर की बेदारी को ! हुस्न की एक हैरतकुन तस्वीर पर मैंने लिखा था : नदी नहाकर दिग्वसना ही / तट पर आई / जलपरी-सी चन्द्रमुखी ने बाल फैलाये / चाँद हरण को बादल आये / मैले तट पर / पाँव थे उसके / फूल खिले हों / जैसे कमल के / गीले नेत्र-अंजन / अलके-स्वर्ण-सी काया सूर्य-बिम्ब पर / एक पेड़ की छाया / नीली धूप में बदन सलौना / अनिल/ अलौकिक चाँदी सोना/जलकण के दर्पण के पीछे/सात रंग थे इन्द्रधनुष के।

यह कविता थी या क्या···लेकिन बदन के स्पर्श और रंग और हरकत का अहसास···उफ़, आज भी जब कोई खूबसूरत बदन देखता हूँ तो उँगलियों में हल्की आँच उठने लगती है और उस बदन से परे उगते हुए सूर्य का दृश्य, बहते हुए पानी का गीत देखना-सुनता हूँ तो प्रकाश पानी में बदल जाता है और फिर वही सम्मोहन।

और एक बार फिर मैं बदन के नॉर्मल संसर्ग में असफल हो जाता हूँ। बदन बर्फ़ की सिल पर जम जाता है और आँच शीतल।

हे ईश्वर ! क्यों तुम बदन के सूर्य को उगने और गिरते हुए पानी के गीत को बहने से रोक नहीं देते ?

बचपन के पाँच वर्ष तो होश आने से पूर्व नीम-होशी में ही गुज़र गए। करीब अर्द्ध शताब्दी तक मैंने जीवन को चेतन रूप से जिया है। एक-दो वर्षों में मैं 55 का हो जाऊँगा। और फिर मैं जिन्दगी के पूरे जिस्म को अपनी उँगलियों से छुऊँगा। उसके प्रत्येक इरोजीनिक ज़ोन का स्पर्श करूँगा कि मुझ में वह सिहरन होती है कि नहीं जो 40 वर्ष पूर्व पैदा हुई थी।

लेकिन मेरे और दूसरे शरीर के बीच यह फ़ासला फैलता जा रहा है। फैलता जाएगा जब तक किसी जिस्म के पीछे सूरज नहीं उगता, जब तक कोई बदन नदी की लहरों में नहीं डूबता।

पाँच सितारों वाले होटलों के बन्द कमरों में सिमटे 'फ़्लश' बिस्तरों पर

लिपटते जिस्मों और खुले नीले आकाश के तारों की छाँव में असीम रेत पर फिसलते जिस्मों में शायद यही अन्तर है। एक-दूसरे से आलिंगनबद्ध शरीरों में कितना फ़ासला होता है, इसकी पैमाइश नहीं हो सकती।

कुछ वर्ष पूर्व मैं एक स्टेशन पर गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था। यहाँ से दूसरी गाड़ी पकड़नी थी। मैं जिस बैंच पर बैठा था, उसी पर एक महिला भी बैठी थी, सीधी-सादी, पुस्तक पढ़ने में मग्न। देखा पुस्तक थी—नीना ओ' नील और जार्ज ओ' नील की—'शिफ़्टिंग गीयर्ज़'—कुछ वर्ष पूर्व इस पुस्तक को पढ़ने का मुझे भी अवसर मिला था। मैंने पूछ लिया—"कैसी लगी यह पुस्तक ?" "अच्छी है"—उत्तर मिला। फिर चन्द एक बातों के बाद बोली—"मैंने इस पुस्तक को पढ़ने से पहले ही ज़िन्दगी का 'गीयर' बदल लिया था, लेकिन जब दोबारा गीयर बदलने की कोशिश की तो गाड़ी पटरी से उतर चुकी थी।"

—मतलब ?

—मैं परित्यक्ता हूँ।

—ओह ! मैंने सहानुभूति प्रकट की।

—इसमें अफ़सोस की कोई बात नहीं। वह मुस्कराई।

—लेकिन···।

—वास्तव में मैं 'विमेन लिब' का शिकार हो गयी थी।

—आपको खेद है ! क्या आप पुरुष से मुक्त नहीं होना चाहतीं···आपके भारतीय संस्कार···मैं भाषण के मूड में था।

—प्रश्न पुरुष से मुक्ति या नारी से मुक्ति का नहीं। प्रश्न उन संस्कारों और फेण्टेसी से मुक्ति का है जो मुक्ति के नाम पर परस्पर रिश्तों को तोड़ते हैं।

अब वह बोल रही थी :

—विवाह करना, बच्चे होना ही काफ़ी नहीं—यह सही है। लेकिन स्वतंत्र व्यवसाय या नौकरी भी तुम्हें मुक्त नहीं करती। समाज में स्टेटस या शक्ति भी निरर्थक है···यदि तुम दूसरे मनुष्यों से अलग हो जाते हो···तो तुम्हारे अपने जीवन का भी अर्थ नहीं रहता।

—लेकिन स्वतंत्र होने का अहसास आपको फ़ुलफ़िल नहीं करता ! आपके पास अपना पैसा है जैसे चाहे खर्च करें, सोशल सर्किल है। शरीर और मन स्वतंत्र हैं। पैसा, स्टेटस···आज़ादी, कुछ भी तुम्हारे मन की 'तनहाई' को नहीं भर सकता। हर चीज़ का महत्त्व दूसरी चीज़ों से उसके रिश्ते ही बनता है।

फिर उसने जो कुछ कहा, वह था : हर आदमी अपनी गहरी संवेदना और कल्पना की उड़ान में तनहा होता है, सही है; लेकिन मनुष्य का दूसरे मनुष्य से एक रिश्ता होता है—दर्द का रिश्ता। और यह रिश्ता अकेले व्यक्ति का नहीं, दो व्यक्तियों का परस्पर अनुभव है। लोग बरसों से एक-दूसरे के साथ रह रहे होते

हैं। शरीर का कोई फ़ासला नहीं होता। लेकिन फिर भी यह एन्काउण्टर नहीं होता। इसलिए कि वे अपनी प्रतिरक्षा के लिए धारण किए हुए कवच और हेल्मेट को उतार फेंकने में असमर्थ हैं। उन्हें यह भय रहता है कि नग्न मन के साथ वे सुरक्षित नहीं। यदि कोई व्यक्ति यह विश्वास किसी दूसरे को दे सकता है कि वह उसकी कल्पना और संवेदना में दखल लेने का जोखिम उठाने के लिए तैयार है तो एन्काउण्टर पैदा होता है और हम चिन्ता, भय और आशंका से मुक्त हो जाते हैं। सेक्स या शरीर-अशरीर का कोई प्रश्न नहीं।

बिन्दु 'पैरा-सेक्सुअल' अनुभव है···सम्पूर्ण व्यक्ति के अनुभव का···शरीर का नग्न होना या करना कोई दुश्कर कार्य नहीं। हम एक-दूसरे से अपने शरीर 'शेयर' कर सकते हैं लेकिन फ़ेण्टेसी नहीं। स्वप्न, भय, जुनून, कामना। हम डरते शरीर से नहीं, दिल से डरते हैं।

—लेकिन इसके विपरीत भी हो सकता है, मैंने कहा—यानी ?

—आपका रिश्ता है मन का लेकिन शरीर का रिश्ता नहीं। क्योंकि आप समझते हैं कि दोस्ती या 'इण्टीमेसी' में स्त्री को स्त्री के रूप में और पुरुष को पुरुष के रूप में लेना एक प्रकार का सस्तापन है।

वह खिलखिलाकर हँसी।

—हाँ ! स्त्री-पुरुष का रिश्ता काम-विहीन भी हो सकता है और कामपूर्ण भी। लेकिन मेरे विचार में स्त्री-पुरुष की दोस्ती में भी यौन का कुछ न कुछ अंश, कोई न कोई रूप अवश्य होता है···शायद यह बहुत 'पर्सनल' होता है। हर व्यक्ति की दुनिया में कितना कुछ है जो शायद वह अपने अन्तरंग मित्रों के सिवा किसी से 'शेयर' नहीं कर सकता—फिर भी कुछ ऐसा रह जाता है जो वह उनसे भी 'शेयर' नहीं कर सकता, सिवाय अपने। लेकिन स्थिति तब रहस्यपूर्ण और गम्भीर हो जाती है जब वह, यह जो शेष बचा रहता है, अपने से भी 'शेयर' करने से डरता है।

वर्षों बाद मैंने महसूस किया कि शरीर से परे भी कई रंग होते हैं, कई आवाज़ें होती हैं, कई खुशबुएँ होती हैं।

मैं शरीर से परे, ऊपर या अलग नहीं हूँ। लेकिन शरीर महज़ बिस्तर नहीं। शरीर एक छोटा-सा गाँव भी है और विशाल शहर भी। शरीर हिमगिरि भी है और ज्वालामुखी भी। शान्त झील भी, पुरशोर नदी भी। समुद्र का ज्वार-भाटा भी है और बगूले उड़ाता रेगिस्तान भी। जिस्म जंगल भी है और कामनाओं पर आज़ाद नगर भी। शरीर शरीर भी है और नहीं भी।

—जो कुछ तुम कह रहे हो, इसमें घोर विरोधाभास है।

—लेकिन जब तक यह विरोधाभास है मैं जीवित हूँ। जिस दिन यह द्वन्द्व मिट जाएगा, मैं भी नहीं रहूँगा।

भरी महफ़िल में एक राज़ की बात कह दूँ। मैंने कई बार यह कैफ़ियत

महसूस की। सर्दियों की दोपहर को एक घुमावदार छोटी-सी गली से गुज़रते हुए, नन्हें-नन्हें घुँघरुओं की नर्म खनक, लम्बे-बिखरे बालों की महक हवा में उड़ती हुई, शरीर की हरकत, हर बढ़ते क़दम के साथ एक नग़मा, शरीर का हर मसाम बेदार होकर खुल जाता है और हाथ बढ़ते हैं उसकी कमर के गिर्द दायरा बनकर लहराने के लिए और रुक जाता हूँ और गली गुज़र जाती है। या एक शाम के उमड़ते हुए अँधेरे में किसी पार्क की रविश पर चलते हुए, वृक्षों में से छन-छनकर आती हुई रोशनी और पत्ते-पत्ते की दीवारों से झाँकते हुए चाँद में फैलते हुए साये में मौन उनके साथ···उसके चेहरे और बालों पर प्रकाश और अँधेरे का छाया-नृत्य···और पार्क पार हो जाता है। कितने ही दृश्य हैं। सिगरेट के धुएँ के पीछे से उभरता तस्वीर-सा चेहरा, सड़क पार करते हुए लोगों और ट्रैफिक के हुजूम में 'तन्हा'।

—क्या तुम सेक्सुअली रेसपाण्ड नहीं करते?

—करता हूँ, जिस्म की ज़बान होती है। वे एक-दूसरे से संवाद करते हैं। लेकिन जिस माहौल में हमारा समाजीकरण हुआ है उसमें हर समय सही अहसास रहता है: फूल तोड़ना मना है। घास पर चलना मना है। यह आम रास्ता नहीं। डेन्जर···हाई वोल्टेज!

मेरी दिलचस्पी परिन्दे में कम, उड़ान में अधिक रही है। फूल में कम ख़ुशबू में अधिक, दिल में कम धड़कन में अधिक, शरीर में कम रूह में अधिक। लेकिन समस्या यह है कि रूप का रास्ता शरीर से होकर गुज़रता है। शरीर और रूह के इस लम्बे सफ़र में क्या मिला···शब्द! शायद नहीं। बस कुछ निगाहें, कुछ आवाज़ें, कुछ स्पर्श, कुछ खुशबुएँ, कुछ असफलताएँ और कुछ उनींदी रातें। जो शरीर के दमन से दिल की दुनिया में दाख़िल होते हैं वे ऋषि बन जाते हैं। जो दिल की अवहेलना करके बिस्तर-ब-बिस्तर विचरते हैं वे संवेदनशून्य···इस कशमकश में कभी दिल टूटता है, कभी जिस्म परास्त होता है।

कभी आपने किसी औरत को सुबह की पहली किरन की पीली रोशनी में रात के बिस्तर की शिकनें दुरुस्त करते गुनगुनाते हुए देखा है। यह आसूदगी हर किसी को नसीब नहीं होती। हमारे चेहरे और मन पर हर रोज़ कितनी ही शिकनें पड़ती हैं लेकिन हम उन्हें दुरुस्त नहीं करते या कर नहीं पाते। वे गहरी होती जाती हैं। स्थायी बन जाती हैं। उनमें धूल और मैल जमा होती रहती है और एक दिन वही हमारे सारे शरीर, दिल और दिमाग़ पर हावी हो जाती हैं। उसका रंग और उसकी गन्ध हर किसी को, जो भी हमारे क़रीब से होकर गुज़रता है, अपनी लपेट में ले लेता है। काश, हम कुछ और पेश कर सकते! फूल, एक-एक पत्ती, ओस की एक बूंद। तितली का सुनहला पंख, धुनक का रंग, स्पर्श और शिकन दुरुस्त करती औरत की गुनगुनाहट। लेकिन मैले शीशे से देखते-देखते

दूसरे के चेहरे तो मैले नज़र आते ही हैं, अपना चेहरा भी मैला हो जाता है।

× × ×

तो प्रश्न दर्द के रिश्ते का है और मैं इस रिश्ते को महसूस करने की कोशिश कर रहा हूँ। बग़ैर किसी गहरे धरातल को छुए हम ज़िन्दगी की बाहरी सतह का स्पर्श तो कर सकते हैं! लेकिन प्रश्न उस दर्द का है जो हमारे अन्तरघट तक बैठ चुका है, जिसके बग़ैर ज़िन्दगी का कोई अर्थ नहीं। उसके लिए दर्द की किस-किस गली से नहीं गुज़रना पड़ता है। और यदि हम साहस, आस्था और चिन्तन से इस गली से गुज़र जाते हैं तो हमारी कुण्ठाएँ, विकृतियाँ और जंज़ीरें टूट जाती हैं। लेकिन यात्रा का यह अन्त नहीं! कभी-कभी अनजानी राहों में भटक जाना, फ़क़ीरों के भेष में निकल पड़ना ज़िन्दगी की अज्ञात दुनिया में सफर करने के लिए बड़ा ज़रूरी है।

कई वर्ष पूर्व मैं बँगलूर से दिल्ली आ रहा था। गाड़ी में मेरे सामने वाली बर्थ पर एक नवयुवक बैठा हुआ था। बात बिजनिस से साहित्य तक आ पहुँची। कमर्शियल स्ट्रीट पर हस्तशिल्प कला-वस्तुओं की उसकी दुकान थी। वह सार्त्र, नीत्शे और दोस्तोव्स्की की कृतियों का ज़िक्र कर रहा था। उन पुस्तकों के पैरा-ग्राफ़ के पैराग्राफ़ सुना रहा था। अस्तित्ववाद से लेकर भावातीत ध्यान तक की व्याख्या कर रहा था। मेरी जिज्ञासा बढ़ रही थी। राजस्थान के मारवाड़ी परिवार का लड़का और अस्तित्ववाद! उसने बताया कि उसकी दुकान पर एक विदेशी महिला आई। उसके हाथ में कुछ पुस्तकें थीं। उसने कुछ खरीदा और दुकान से बाहर चली गयी। उसके जाने के बाद उसने देखा कि वह पुस्तकें वहीं भूल गई है। उसने बाहर चारों तरफ़ देखा लेकिन वह जा चुकी थी। उसने पुस्तकें उठाकर एक ओर रख दीं। शायद वह कभी आयेगी और ले जायेगी। पुस्तकें उसके किस काम की थीं! वह फिर नहीं आयी। दुकान में नई वस्तुएँ रखने के लिए स्थान चाहिए था। वह पुस्तकें उठाकर घर ले आया और ड्राइंग रूम में रख दीं। ड्राइंग रूम में सजावट की कुछ नयी चीज़ें आ गयीं। वह पुस्तकें अपने कमरे में ले आया और एक कोने में रख दीं। एक दिन वर्षा ज़ोरों से हो रही थी। दुकान की छुट्टी थी। बेकार समय नहीं कट रहा था। सोचा, देखूँ उन पुस्तकों में क्या है! उन पर धूल जम गयी थी। साफ़ की। एक पुस्तक पढ़ने के लिए उठाई। कुछ समझ में नहीं आया। लेकिन कुछ अच्छा लगा। पुस्तक थी, सार्त्र की 'नो एग्ज़िट'। और फिर पढ़ता चला गया—पढ़ता चला गया। वर्षा थम गयी थी, लेकिन मैं अपने कमरे से नहीं निकला जब तक कि पुस्तक ख़त्म नहीं कर ली। दूसरे दिन मैं दुकान पर नहीं गया। एक दूसरी पुस्तक पढ़नी शुरू की—काफ़्का की 'द ट्रायल'; और इसी प्रकार तीसरी पुस्तक दोस्तोव्स्की की 'द नोट्स फ्राम द *अण्डरग्राउण्ड*' भी पढ़ डाली। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मैं किसी काल-कोठरी

में बन्द हूँ, जिसके न दरवाजे हैं न खिड़कियाँ। शायद काफ़्का ने कहीं कहा था अपने पत्रों में—"और उस दिन से मैं इस काल-कोठरी में बन्द हूँ जिसके न दरवाजे हैं और न खिड़कियाँ। बाहर निकलने का यत्न कर रहा हूँ। यह काल-कोठरी चाहे समाज की हो, अपने शरीर की या अपने मन की। हम सब मृत्यु-दण्ड भोगने के लिए इस काल-कोठरी में बन्द हैं।" वह कह रहा था : हमें मुक्त होना है··· ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है···हमने उसकी हत्या कर दी है···शायद नीत्शे ने कहा था : मनुष्य मर चुका है और हम इसके साक्षी हैं। ब्रेख़्त ने कहा था : कोई मसीहा नहीं उतर रहा। हम गोदो के इन्तज़ार में कब से खड़े हैं और उसने कहा कि हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति के लिए अपनी सलीब स्वयं उठानी पड़ती है।

संस्कार किस तरह बदलते हैं! जिन्दगी को नई 'विज़न' किस प्रकार मिलती है! कितने अनुभव होते हैं एक ज़िन्दगी में! जब मैं कालेज में नया-नया दाखिल हुआ था और आज़ादी के आन्दोलन के सिलसिले में उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश में हम कुछ छात्र गए थे, तो दिन भर चाट्टिथल इलाक़े में घूमते-घूमते बहुत थक गए थे। खाना भी नहीं खाया था। शाम को एक गाँव में पड़ाव था। जब हम उस गाँव में पहुंचे तो सूर्यास्त हो चुका था। कबाइली पठानों और उनके सरदारों से बातचीत शुरू हुई। मटियाली-पथरीली पहाड़ियों के पीछे सूर्य धीरे-धीरे फिसल रहा था। नीचे खुले आकाश पर सुर्ख रंग बिखर रहा था। भूरी-भूरी भूमि पर पहाड़ियों और लम्बे-तगड़े पठानों के साये फैले रहे थे। धीरे-धीरे साये सिमटने लगे। सब-कुछ अंधकार ने निगल लिया। और फिर जल उठीं मशालें। विशाल मैदान के बीच में अलाव जल रहा था। और उस पर लोहे की एक लम्बी छड़ में बिंधा 'मेढूं' (भेड़) भूना जा रहा था। हवा कुछ-कुछ शीतल हो रही थी और फिर शुरू हुए उनके नाच और गाने, जो 'लुड्डी' से मिलते-जुलते थे। काली भूरी वास्कटें, काली-नीली पगड़ियाँ, लम्बी-लम्बी घेरेदार सलवारें और गाढ़े के कुर्ते, पीतल-जड़ी लाठियाँ और दोनाली बंदूकें। फ़िज़ा में एक पुरज़ोर हरकत थी। एक लय, एक गति, एक संगीत···एक भूचाल (ऐसा आभास जो अफ्रीकी ड्रमबीटर्ज़ को सुनकर होता है) नानों की खुशबू! भूने हुए गोश्त की गंध। एक अजीब समाँ था और भूख बड़ी सता रही थी। एनेमल की रकाबियों में नान और गोश्त, मिट्टी के 'छन्नों' में पानी और प्यालों में शराब। मुझे नान और पानी के सिवाय कुछ रास नहीं था। न गोश्त न शराब। बड़ा संकट था। भूख और संस्कार का द्वन्द्व। दोनों ओर बैठे हुए दोस्त भी दुविधा में थे। किसी सब्ज़ी का बन्दोबस्त नज़र नहीं आता था। "पंडितजी, शह : से'काम चलेगा?" हमारी खुसर-पुसर सुनकर एक-दो पठान हमारे क़रीब आये। वे समझे, शायद महमाँनवाज़ी में कोई कसर रह गयी है। और कुछ? उन्होंने पूछा। नहीं, सब ठीक है। मैंने कहा। लेकिन एक दोस्त के मुंह से निकल ही गया—ये गोश्त नहीं खाते। उनके चेहरों का रंग एकदम बदल

गया। बस थोड़ी देर में आलू तैयार हो जाते हैं। बस थोड़ी देर में। एक खलबली-सी मच गयी। उनकी परेशानी। अलाव के नीले-पीले सुर्ख़ लपकते शोले, उनका भूमि की छाती पर मुँहजोर नाच, ढोढ़ों की आवाज़ पहाड़ों से गूँज कर लौटती। दमकते हुए चेहरे। किसी के दिल बुझ जाने का एहसास। मेरे सामने एक जज़्बे का क़त्ल हो रहा था। यह नहीं हो सकता। बिल्कुल ग़लत। मैंने सोचा। मुहब्बत की तौहीन। मैंने दोनों ओर बैठे दोस्तों के घुटनों पर हाथ रखा और हल्का-सा दबा दिया। वे मुस्करा दिए। मैंने नान का टुकड़ा तोड़ा और शोरबे में डुबो कर खाना शुरू कर दिया। एक क्षण के लिए मेरे अन्दर बचपन से जो कुछ था एकदम कुलबुला कर हरकत में आ गया। और फिर सब-कुछ शान्त हो गया।

आज जब मैं यह सोचता हूँ कि यह एकदम से कैसे हो गया! भूख या जादुई दृश्य, संगीत या नाच या दोनाली बन्दूकें या जज़्बा···महज़ जज़्बा! मैं भूख से कभी परास्त नहीं हुआ। जिस्म की हदों को तोड़ देनेवाली यह पैशन! ज़िन्दगी भर इसने मेरे संस्कारों, विचारों और मान्यताओं को चुनौती दी है और इसके सामने मैं आत्मसमर्पण करता रहा हूँ। हमारा भोगा-संभोगा यथार्थ तो दो जिस्मों का फ़ासला भी दूर नहीं कर सका। मनुष्य के बीच सेतु क्या बनेगा! संस्कार बोझ है अगर उसमें ज्ञान की कोई सीमा नही। हम अमल करते हैं उस ज्ञान के आधार पर जो हमें प्राप्त है और जो कुछ हमें ज्ञात है वह उस ज्ञान का केवल एक अंश है जो उपलब्ध है, और जो अभी हमने जाना है। तो फिर क्या अभिशप्त अहल्या-से पत्थर बने सदियों से एक स्थल पर अचल खड़े रहें कि कोई आये और अपनी ठोकर से हमें फिर मनुष्य बना दे!

हर बार ज़िन्दगी से हमारा साक्षात्कार ऐसे होता है जैसे पहली बार उससे मुलाक़ात हुई हो। हम ऐसे द्वीप में दाखिल होते हैं जहाँ किसी के क़दम नहीं पड़े। ऐसे जंगलों में जाते हैं जहाँ कोई पगडण्डी नहीं और जो भी उसमें एक बार दाखिल हुआ, वापस नहीं लौटा। यह 'शून्य' से साक्षात्कार है जिसे केवल आपका अस्तित्व ही भर सकता है।

विश्वविख्यात उपन्यास 'ऑल क्वाइट ऑन द वेस्टर्न फ्रंट' पर बनी फ़िल्म में एक सैनिक ख़ंदक में पड़ा है। उसके हाथ में बन्दूक़ है। उसके सिर के क़रीब एक तितली उड़ती है। वह उसे पकड़ना चाहता है। वह जानता है कि यदि वह अपना हाथ ख़ंदक से बाहर निकालेगा तो शत्रु की गोली उसको चीर सकती है। लेकिन तितली को पकड़ने की पैशन में वह अपना हाथ खंदक से बाहर निकालता है। दन से एक गोली उसके हाथ को चीरती हुई निकल जाती है—और हाथ मुर्दा होकर भूमि पर गिर पड़ता है। क्या है मनुष्य के अन्दर जो उसे ख़ुशबू, रंग और आवाज़ पकड़ने के लिए जुनून की सीमा तक ले जाता है? जहाँ मृत्यु जीवन बन जाती है, उसकी शक्ति बन जाती है, उसका भय टूट जाता है। उड़ती तितली

को पकड़ने की, उड़ते परिन्दे को प्यार करने की जिसकी कामना भर जाती है, वह कब का मर चुका होता है। यही हर ज़िन्दगी का खेल है। हमारे एक हाथ में बन्दूक है जीवन-रक्षा के लिए, शत्रुओं से लड़ने के लिए जो अनगिनत हैं, अस्त्र-शस्त्र से लैस घात लगाये बैठे हैं और इनसे अपनी जान बचाने के लिए हम वर्षों-वर्ष खंदक में पड़े रहते हैं। लेकिन हम कहकशाँ पर कमंद फेंकना चाहते हैं। चाँद को मुट्ठी में बन्द करना चाहते हैं। परिन्दे की तरह स्वच्छ आकाश में विचरना चाहते हैं और एक धुनक रंग तितली को पकड़ने के लिए अपनी जान दे देते हैं। यह पैशन है।

और मैंने महसूस किया कि मैं भी कुछ लिख सकता हूँ।

—लेकिन कुछ ऐसा लिखो कि आने वाली पीढ़ियाँ याद रखें।

—यह मेरा काम नहीं।

—तो ?

—यह काम महान लेखकों का है।

—तुम महान लेखक नहीं बनना चाहते ?

—मैं अपने समय में साँस लेता हूँ। मेरा संवाद उनसे है जो मेरे साथ सफ़र में हैं।

—और कालिदास, होमर, शेक्सपीयर, फिरदौस, ग़ालिब। मैंने क़लम रख दिया और साहित्य के हाशिए पर आ गया। क्योंकि मैं बड़ा लेखक नहीं बन सकता। मैं लेखक ही नहीं बन सकता। जिसकी समस्त संस्कृति, साहित्य, सेक्स, हर चीज़ हाशियों पर अंकित होने लगी हो, वह क्या लिखेगा !

साहित्य के हाशिए में आने के कई कारण थे। मेरे साथ समस्या यह है कि मैं यथार्थवादी नहीं हूँ ज' साहित्य के लिए बहुत बड़ा गुण है। मैं चीज़ों और व्यक्तियों को वैसा नहीं देखता जैसा वे होते हैं—बल्कि हमेशा उनसे परे देखता हूँ। मैं मूलतः 'सेण्टीमेण्टल' और 'रोमेंटिक' हूँ। (भावुकता···छी···छी···यदि साहित्य-सृजन के लिए घातक है तो मैं साहित्य से हट जाता हूँ) न मैं भोगे हुए यथार्थ पर लिख सकता हूँ न स्वत्व पर, क्योंकि मैं आत्ममोह का नहीं, एन्काउण्टर का क़ायल हूँ।

एक बंजारा या खानाबदोश ही सीमाओ का उल्लंघन कर सकता है। वह एक प्रकार का आदिम पुरुष है—समाज, नैतिकता, राज्य, क़ायदे-क़ानून से परे। उस पार जाने की तमन्ना नाम है ज़िन्दगी का—प्रत्येक उस सीमा के पार, जिसको निश्चित एवं स्थायी मान लिया गया है। किसी दूसरे की ज़िन्दगी जीना ज़िन्दगी से विश्वासघात है। मैं लेखक भी बनना चाहता हूँ और एक मध्यवर्गीय नौकरी-पेशा व्यक्ति भी···शादीशुदा, घर-बार, मकान, बैंक-बैलेंस, सुख-सुविधा, कलाकार भी बनना चाहता हूँ···फेंटेसी का द्रष्टा भी और भद्र पुरुष भी। यह क़रीब

30 वर्ष तक चलता रहा है और मुझे अहसास हुआ कि मैं दोनों नहीं बन सकता। मैं एक नॉमेड हूँ जो तलाश करता है, सँजोता नहीं। अपने प्रति हिंसा की क्योंकि मैं सीमाओं/मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहता था। हरमेन हेस ने कहीं लिखा था—

"—मेरे पास कभी घर था। मैंने भी एक मकान बनाया। पैमाइश के अनुकूल दीवारें और छत। बगीचों में पगडण्डियाँ बनाईं। अपनी ही दीवारों पर अपने ही चित्र टाँगे। हर व्यक्ति यही करता है। मैं भी खुश हूँ कि एक बार मैंने ऐसी ही ज़िन्दगी बसर की थी। जीवन में मेरी कई इच्छाएँ पूरी हो गईं। मैं कवि बनना चाहता था। मैं कवि बन गया। मैं मकान चाहता था। मैंने एक मकान बना लिया। मैं एक पत्नी चाहता था और बच्चे···वे भी मुझे मिल गए। मैं लोगों को प्रभावित करना चाहता था, वह भी हो गया। लेकिन इच्छाओं की पूर्ति के संतोष को मैं सहन नहीं कर सका। कविता मेरे लिए संदिग्ध हो गयी। मकान मेरे लिए तंग हो गया। जो लक्ष्य मैंने प्राप्त किया वह मेरा लक्ष्य नहीं था।"

मुझे याद आता है कि किसी तरह मेरे छोटे बच्चे ने एक दम तोड़ती चिड़िया को पानी पिलाकर जीवित रखने का प्रयास किया था।

मुझे याद आता है एक फ़िल्म का वह दृश्य जब एक सैनिक एक तितली को पकड़ने के लिए अपना हाथ खंदक से बाहर निकालता है तो दन से गोली उसके हाथ में लगती है।

और फिर और फ़िल्म का दृश्य, जब पुलिस मैगाफोन पर घोषणा करती है कि यदि कोई और नक्सलाइट बचा हो तो वह सामने आ जाये और एक छोटा-सा बच्चा अपने हाथ उठाकर सामने आ जाता है।

मुझे याद आता है एक और दृश्य जब सारा गाँव, ज़ुल्म का खामोश तमाशाई बन जाता है तो एक बच्चा ज़मींदार के घर की खिड़की पर रोष से पत्थर फेंक कर भाग जाता है।

और मुझे याद आता है सूर्योदय में पानी में रंग बदलते बदन का स्पर्श। और मृत्यु-शय्या पर पड़ी माँ का मुस्कराता हुआ चेहरा याद आता है।

हे ईश्वर! यह सब-कुछ मुझे क्यों याद आता है! मैं इतना बेबस, निस्सहाय और शक्तिहीन क्यों होता जा रहा हूँ?

ओह माई गॉड! मुझसे मेरी चेतना, मेरी संवेदना छीन ले या मुझे मृत्यु दे दे।

लेकिन मुझे आत्महत्या पसन्द नहीं। हालाँकि मेरी ज़िन्दगी में कई ऐसे मोड़ आये जब यह अहसास हुआ कि 'यह दुनिया, यह महफ़िल मेरे काम की नहीं।' दोस्तों ने कहा कि जिस आग के दरिया में तुम तैर कर गुज़रे हो, अगर कोई दूसरा होता तो कब का आत्महत्या कर चुका होता। मेरी रगों में खून गर्म तरल

लावे की तरह बहने लगा। शोले की तरह लपकता हुआ। हाँ, यदि खून की रफ़्तार धीमी पड़ने लगेगी या वह ठंडा होने लगेगा या उसका रंग बदल कर लाल से सफ़ेद होने लगेगा तो अवश्य कर लूंगा। (रगों में दौड़ने-फिरने के हम नहीं क़ायल। जो आँख ही से न टपका तो वह लहू क्या है!)

और न ही मैं घास-फूस बन कर जीवित रहना चाहता हूँ। 'हूज़ लाइफ़ इज़ दिस एनी वे' का नायक जब पक्षाघात का शिकार होकर बेहरकत हो जाता है तो उसे जीवित रखने के लिए पेटेण्ट इन्जेक्शन दिये जाते हैं। वह इन्कार कर देता है। वह कहता है—मैं चिकित्सा-जगत् की एक उपलब्धि बनकर जीवित रहने की अपेक्षा एक मनुष्य की मृत्यु मरना पसन्द करता हूँ।

मैं नींद की गोलियाँ खाकर शान्तिपूर्ण मृत्यु नहीं चाहता। न ही आग में झुलस कर या पानी में डूब कर। न ही फाँसी का फंदा गले में डालकर। यदि ऐसा हो सकता तो मैं शहीद भगतसिंह का अनुसरण करता।

ज़िन्दगी-भर तमन्ना रही कि एक कार ख़रीदूं। लेकिन यह ख़्वाहिश पूरी न हो सकी। कभी इतनी रक़म नसीब नहीं हुई। एक बेचारा स्कूटर था सो भी बिक गया।

लेकिन जब मुझे मरना होगा तो मैं रेण्टल कार लूंगा। उसकी टंकी में पेट्रोल लबालब भर लूंगा। और नेशनल हाईवे पर निकल पड़ूंगा। फ़्लड-लाइट की धुंधाती रोशनी में, किसी एक फूल का नाम लेकर किसी चट्टान से टकरा जाऊँगा। मेरा शरीर और चेहरा कट-फट जाएगा। गर्म और सुर्ख़ खून कार के चमकते शीशों, सख़्त चट्टानों और भूरी मिट्टी पर बहने लगेगा और मैं अपनी ज़बान की नोक से उसे चखूंगा, कि उसमें वह हरारत है कि नहीं जिसकी तमन्ना मैंने ज़िन्दगी भर की है।

जीवन-भर शब्दों से मोह करते-करते मैंने कितने शब्द जमा कर लिए हैं। शब्दों की यह गठरी उठाए-उठाए मैंने कितना लम्बा सफ़र तय कर लिया है··· आज इस पड़ाव पर पहुँच कर जब मैंने गठरी खोली तो पाया : शब्द करप्ट, पौरुषहीन, कायर और हिपोक्रेट हो चुके हैं।

(अनु०—देवेन्द्र इस्सर)

कन्नड़

फ़क़ीर मुहम्मद कट्वाडी
• शान्तरस
(अनुवादक—बी. आर. नारायण)

जुलेखा



फ़क़ीर मुहम्मद

जीवन में कुछ घटनाएँ इतनी आसानी से हो जाती हैं कि उनको लेकर भय, भावोद्रेक, यहाँ तक कि तनिक विस्मय भी नही होता। जुलेखा पर पति की मृत्यु का प्रभाव कुछ ऐसा ही था। मृत्यु से उत्पन्न होने वाला कोई भी मनोभाव उसमें दिखाई नहीं पड़ा। उसे तो ऐसा लगा कि आज का पति कल नहीं रहा। घर में शव देखने आये मित्रों और सम्बन्धियों का और जबरन दुख व्यक्त करने वालों का उसने हँसते हुए "आइए, आप कैसे हैं!" आदि कहकर स्वागत किया। जुलेखा की मौसिया सास खैरुन्निसा उसका यह व्यवहार देखकर जल-भुन गयी। उसने अपनी बहिन से कहा—"इस शैतान ने हमारे अकबर को खा लिया। नहीं तो भला ऐसे रहती?" यह बात उसने इतने ज़ोर से कही ताकि दूसरे भी सुन लें। लेकिन जुलेखा की सास यह सब सुनने की स्थिति में नहीं थी। उसने बिलखते हुए यही कहा—"अरे, अल्लाह को मुझे छोड़कर क्या मेरे बेटे को ले जाना था? मुझ बूढ़ी की उसको भी ज़रूरत नहीं थी क्या?"

खैरुन्निसा की बात भले ही उसकी बहिन के कान तक नहीं पहुँची हो, पर आस-पड़ोस के लोगों के कान तक ज़रूर पहुँच गयी थी। बात एक मुँह से दूसरे के कान तक पहुँची।

"अरे, उसी महारानी ने अकबर को मार डाला। सुना है ज़हर दे दिया, ज़हर। कुछ अजीब-सा ज़हर है, जिसे खाने पर डॉक्टर को भी पता नहीं चलता। नहीं तो क्या आदमी के मर जाने पर एक आँसू भी न गिराती।" आदमी को मार डालने वाली भले ही दुनिया की आँखों से बच जाए, पर जहन्नुम मे आग पर भुनने की बात याद करके उसे डर नहीं लगा?

जुलेखा तो ऐसे प्रसन्न थी, मानो सभी भयों से मुक्त हो और अभी नहाकर आयी हो।

शव को कफ़न में लपेटकर जनाज़े पर रखकर मस्जिद की तरफ़ ले जाने से पहले मुनीर माँ से सलाह करने आया। तब माँ ने उसे गले से लगा कर कहा—"बेटा, भैया चल बसा !" और रो पड़ी। तब वहाँ एकत्र सभी औरतों के मुँह से 'हाय-हाय' निकल पड़ी। मुनीर ने समझाते हुए कहा—"आप सब ऐसे क्यों रोए जा रही हैं ? क्या आप लोगों के रोने से भैया लौट आयेगा ?" जुलेखा की समझ में न आया कि अब भी उसे रोना चाहिए कि नहीं। उसे ध्यान में यह बात अवश्य आयी कि मुझे तो रोना चाहिए था, यह उ लास क्यों हो रहा है ! आस-पास की औरतों की टीका-टिप्पणी का उस पर कोई असर न पड़ा। उसे ऐसा महसूस हुआ मानो वे किसी और के बारे में बात कर रहीं हों। आमने-सामने छींटाकशी करने वालियों से भी वह हँस कर ही बात कर रही थी। कुछ लोगों को तो ऐसा लगा कि वह पागल तो नहीं हो गयी। पड़ोस की एक बुढ़िया ने पास आकर कहा—"बेटी जुलेखा, अपना दुख ऐसे मत दबा, रोकर अपने को हल्का कर डाल।"

उसकी ननद समीदा उसके गले लगकर "अब तेरा क्या बनेगा, भाभी !" कहकर रोयी तब भी अपेक्षा के अनुसार वह उससे लिपटकर रोयी नहीं। इसके बदले में 'सबर कर !' कहकर उसे तसल्ली दी। सुबह से भूखे-प्यासे बैठे घरवालों को उसने चाय बना कर दी। छोटे बर्तन में बनी चाय जब पूरी न पड़ी तो उसने एक बड़े बर्तन मे चाय बनायी। लाश को दफ़ना कर लौटने वाले मर्दों के खाने की तैयारी शुरू हुई। औरतों ने जुलेखा को नहला कर वज़ू कराया और नया सफ़ेद कपड़े का बुर्का पहनाया। मुनीर बेवकूफ़ की मानिन्द एक कोने में चुपचाप बैठा था। भाई की मृत्यु ने उस पर गहरा प्रभाव डाला होगा। उसने सामने वाले छोटे से कमरे में जुलेखा को बिठा कर खिड़कियों पर मोटे-मोटे पर्दे खींच दिए।

जुलेखा कमरे में अकेली थी। चार मास दस दिन तक इद्दत के लिए उसे उसी कमरे में रहना था। नज़दीकी रिश्तेदार बीच-बीच में आकर उससे बात कर सकते थे। नमाज़ पढ़ते हुए, कुरान पढ़ते हुए, पति की सद्गति के लिए प्रार्थना करते हुए उसे ये दिन गुज़ारने थे। यह उसके लिए कोई नयी बात नहीं थी। क्योंकि वह अब तक ऐसे ही वातावरण में पली थी। अन्तर केवल इतना ही था कि वह इन एक सौ तीस दिनों में घर की चारदीवारी के भीतर भी घूम नहीं सकती थी।

दस साल पहले वह अकबर अहमद का हाथ थाम कर इस जन्नत महल की गुफ़ा में दाखिल हुई। वह दिन आज आँखों के सामने आ खड़ा हुआ। दस वर्ष तक साँस रोककर इस बड़े महल में उसने जो जीवन काटा था, वह एक-एक कर के उसकी आँखों के सामने से गुज़रने लगा।

पिछले दस सालों में जुलेखा ने अकबर के साथ बैठकर शायद दस घण्टे भी बात नहीं की होगी। जब वह बोलता तो इसे सुनना होता था। यह केवल खा-पीकर सज-सँवरकर हम-बिस्तर बनने वाली एकमात्र जीवन्त वस्तु थी। अकबर के घर में आते ही ख़ुशी के माहौल में समय कितनी जल्दी उड़ जाता।

"ऐ! इधर आ, मुझे आये इतनी देर हो गयी, तू दिखायी नहीं दी। मेरी नज़रअन्दाजी अभी से शुरू हो गयी।"

"नही। मैं रसोई के काम में लगी थी। इससे जल्दी नही आ सकी।"

"घरवाले के घर में घुसते ही चाहे कैसा ही काम क्यों न हो, उसे छोड़ कर आना चाहिए। यह तेरा फ़र्ज़ है, समझी? तुम हिन्दुओं की तरह का जिस्म दिखाने वाला यह ब्लाउज मत पहना करो। पूरी बाँह की चोली पहना करो। सिर पर रूमाल बाँधना चाहिए ताकि बाल भी दिखायी न पड़ें।"

पिता के घर से आये सारे ब्लाउज़ बक्स में बन्द हो गये। पूरी बाँह की ढीली-ढाली चोलियाँ आ गयी। सिर पर हरे रंग का रूमाल बँध गया। जुलेखा सत्रह की आयु मे ही चालीस की-सी दीखने लगी।

घर की खिड़की से जब भी बाहर झाँकती, उसे आदमक़द दीवार पर लगी सलाखें ही नज़र आती। लोहे का फाटक सदा मज़बूती से बन्द रहता। जन्नत महल पुराने ज़माने के अमीरों का घर था। घर के मोटे खम्भों और दीवारों पर क़ुरान शरीफ की आयतें खुदी थी। घर की दूसरी मंज़िल वाली खिड़की से बाहर देखने पर शहर का कुछ हिस्सा दिखायी देता था। रास्ते मे चलते आदमियों की ऊँचाई जुलेखा अपनी आँखो के सामने उँगली रखकर नापती। उनकी ऊँचाई एक अंगुल भर भी न होती थी। एक दिन अकबर जब घर की चार-दीवारी के भीतर घुसा तो उसने उसे भी नापकर देखा। अंगुल भर का बौना पास आते ही राक्षस जैसा लम्बा दिखाई पड़ा। एक बार दुमंज़िले की खिड़की में खड़ी जुलेखा को देखकर अकबर ने कहा—"आगे से तुम इस तरह खिड़की मे खड़ी मत होना। तुम पर राहगीरो की नजर पड़ेंगी।" घर में जब कोई मर्द नही होता तो जुलेखा मर्दाने आँगन मे आती और वहाँ आम, अमरूद और काजू के पेड़ देखकर उन पर चढ़ कर फल तोड़ने का मन हो आता।

बचपन मे पेड़ पर चढ़ कर आमियाँ तोड़ कर खाने की बात याद आने पर वह खुशी से नाच उठती। लँगड़ी टाँग और कंचे खेलने की याद भी उसे हो आती। वह इन खेलों में किसी भी लड़के को चुनौती देकर मात दे सकती थी, इसलिए उसे लड़कों जैसी लड़की कहते थे। वे सब बातें उसे याद आती—स्कूल से आते समय काजू के पेड़ों पर चढ़कर फल तोड़ना, फलों की चोरी करना। बीजों को लेकर लड़कों से खेलना, चौकीदार के हाथों डाँट खा कर भागना, नदी किनारे मछली पकड़ना—यह सब याद आते ही महसूस होता कि बचपन कितना

सुन्दर था।

घर में माता और पिता के बीच झगड़ा हुआ करता था। माँ की सदा त्यौरियाँ ही चढ़ी रहतीं। बाप जान-बूझ कर माँ को चिढ़ाता। कभी कहता—"मैं फ़लाँ से शादी कर लूँगा, फिर तुझे घर की बाँदी बन कर रहना होगा। सारे काम तुझी को करने होंगे। तुझे गोठ में सोना होगा।" जुलेखा यह सब सच समझ कर काँप उठती। तब वह दुआ करती कि या अल्लाह, अब्बा दूसरी शादी न कर पाएँ। तब एक दिन उसने कहा था—"अब्बा, तुम उससे शादी करके उसे घर लाओगे तो मैं उसे चाबुक से पीटूँगी। यह सुनकर माँ हँसते-हँसते लोट-पोट हो गयी थी।

घर के पास में कालेज होने के कारण ही शायद अब्बा ने उसे कालेज जाने की अनुमति दे दी थी। एक दिन जब कालेज से लौटी तो अब्बा ने कहा—"तुम्हारे लिए एक लड़का देख लिया है। अब कालेज जाने की ज़रूरत नहीं।" तब पी० यू० सी० में उसकी उसकी पढ़ाई बन्द हो गयी। तब लगा कि पलक झपकते ही उसके दूल्हा अकबर अहमद का लाया काला बुर्का पहनकर जुलेखा ने जन्नत महल की लोहे की सलाखों के पीछे प्रवेश किया।

सास ने भी जुलेखा की भाँति ही इस घर में प्रवेश किया था। शायद इसी कारण उसने कभी जुलेखा को दुख नहीं दिया था। जुलेखा के माँ-बाप के मर जाने के बाद से उसने जुलेखा को अपनी बेटी की तरह ही रखना शुरू कर दिया। अकबर के कट्टर नियम केवल पत्नी और बहनों पर ही लागू नहीं थे, माँ भी उनसे बची हुई नहीं थी। एक बार सास ने कहा—"मैं जुलेखा के साथ बाबर के उर्स पर जा कर ज़ियारत करना चाहती हूँ।" तब बेटे ने कहा "औरतों का उर्स पर जाने का मतलब? वहाँ सैकड़ों मर्दों के बीच औरतें कैसे जा सकती हैं?" घर की देहलीज़ लाँघ कर जाना ही धर्म-निषिद्ध है, यह समझने वाले बेटे से बात करने में माँ भी घबराती थी। उर्स पर जाने को पहनी बढ़िया साड़ी जब जुलेखा उतारने लगी तो सास के मुँह से दुख से निकला—"यह सभी बातों में अपने बाप का ही नमूना है।" अपनी बीती ज़िन्दगी के बारे में बातें करते हुए वह कहा करती थी—"जन्नत महल में औरतों के लिए हँसी बहुत कम है, रोना ही ज़्यादा है।" उसने एक बार जुलेखा को हँसाते हुए अपना विषाद यूँ व्यक्त किया—"इस घर की ख़ासियत यह है कि शादी के समय काली चमड़ी वाली लड़कियाँ भी यहाँ घुसने के बाद गोरी हो जाती हैं। सींक जैसी लड़कियों को भी तोंद निकल आती है।"

सास ने जुलेखा के लिए खाना ला कर कमरे में रख दिया। तब जुलेखा के मुँह से निकला—"माँ, मैं ही खुद आ जाती!" पर तुरन्त ही महसूस हुआ कि उसे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। इद्दत के दिनों में उसे बाहर नहीं निकलना

था। दूसरे मर्द की नजर पड़ जाय तो! सास ने उसी क्षण उसकी ओर देख कर कहा—"नही, बेटी, तुझे यहीं रहना है। इद्दत खत्म होने तक।"

सास के बाहर जाने के बाद जुलेखा के सामने यह प्रश्न आ खड़ा—इद्दत के बाद? तब उसका दिल ज़ोर से धड़कने लगा। बाद में मेरा क्या होगा? अगर इस घर से निकाल दिया गया तो कहाँ जाऊँगी? मैके में भाई क्या मेरी देखभाल करेगा! मान लो भाई तैयार हो भी गया पर भाभी? नहीं। सास के पाँव पड़ मिन्नत करूँगी—"माँ, तुम मुझे अपने घर से मत निकालो। एक नौकरानी की तरह ही रख लो।" सास कभी मुझे नहीं छोड़ेगी। पर आगे घर की ज़िम्मेदारी उठाने वाले मुनीर की क्या इच्छा होगी? पता नही। भाइयों में कभी नही बनी। रोज ही झगड़ा होता था। ठीक तरह से शायद ही कभी बात की हो। ऐसे भाई की पत्नी को क्या मुनीर ठीक से रखेगा! आगे मुनीर की शादी होने के बाद उसकी बीवी आने पर?

आगे पता नही मेरा जीवन कैसा रहेगा? अगर मेरे एक बच्चा होता तो उसी को पाल-पोस कर जिन्दगी गुज़ार सकती। यह सोचते-सोचते जुलेखा ने सामने रखी कुरान शरीफ पढ़ने को उठायी। पढ़ते-पढ़ते आँखें धुंधली हो उठीं। किताब वैसे ही रख कर बिस्तर पर लेट गयी।

इददत के ख़त्म होने के दिन जुलेखा को भविष्य और भी भयंकर दीखने लगा। कोई सास के साथ बातें कर रहा था। अपने बारे में ही होंगी, सोचकर उसने पर्दे से कान सटाये। मुनीर बड़ी गम्भीरता से माँ से बात कर रहा था।

"भाई के गुजरने के बाद घर की सारी ज़िम्मेदारी तुम्हीं को तो उठानी है!"

"जिम्मेदारी उठाने में मैं डरता नहीं माँ, पर मैं भइया की तरह घर चलाना नहीं चाहता।"

"अब तुम घर के मालिक हो। अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ घर चलाने का हक़ तुम्हें है। खैर, यह बात अभी रहने दो पहले यह बताओ तुम शादी करोगे कि नही?"

"वह सब बाद में देखेंगे माँ। अब भाभी की इद्दत का वक़्त ख़त्म हो गया। अब इसे घर में रखना है या मैके भेजना है?"

"मैके जाकर क्या करेगी? यह सब हमारी तक़दीर का खेल है। उसे भी हमारे साथ ही रहने दो।"

"तुम उसे बहुत प्यार करती हो न? मैं एक बात कहूँ?"

"कहो बेटा।"

"मैं जुलेखा से शादी करना चाहता हूँ।"

"क्या? क्या कहा?"

"हाँ, माँ। मैं भाभी से शादी करना चाहता हूँ। तुम मानो या न मानो,

मैंने शादी करने का फ़ैसला कर लिया है।"

माँ और बेटे की बातें बन्द हो गयीं। जुलेखा उसकी बात सुनकर हैरान रह गयी। वह सोचने लगी—मुनीर की शादी मुझसे !

उस दिन शाम को सास ने जुलेखा के पास बैठकर कहा—"जुलेखा, हम में से किसी की भी इच्छा नहीं कि तुम हमारे घर की न रहो। मुनीर तुमसे शादी करना चाहता है।" जुलेखा मौन रही।

बड़ी सादगी से जुलेखा और मुनीर का निकाह हो गया। निकाह में बाहर से आने वालों में निकाह पढ़ने वाला काज़ी, जुलेखा का भाई और दोनों ओर के एक-एक दो-दो गवाह, बस इतने ही लोग थे।

पहली रात सेज पर बैठी जुलेखा के मन में आँधी चल रही थी। मुनीर ने मुझसे किस उद्देश्य से शादी की होगी ? मैं बहुत सुन्दर तो नहीं, साधारण-सी हूँ। वह चाहता तो बड़े घर से अमीरों की बेटी ला सकता था। मुनीर पढ़ा-लिखा है, अपने भाई की तरह मैट्रिक पास करके घर के धन्धे में नहीं जुट गया। उसकी अपनी एक प्लास्टिक की फैक्टरी है। कहीं उसने मुझसे इसलिए तो शादी नहीं कि मेरे इस घर से जाने से जायदाद का बँटवारा होगा। उसने भाई के नाम से कुछ भी छोड़ा नहीं। निकाह करते समय अपना फ़ैसला भी नहीं बताया। निकाह से पहले मेरे भइया ने मुझसे पूछा था। मैंने हामी भर दी थी। नहीं कहने की स्थिति में मैं भला कहाँ हूँ ?

कमरे में आकर मुनीर पलंग पर चुपचाप बैठ गया। जुलेखा ने सोचा, पहले 'भाभी-भाभी' कहता था, अब पत्नी बन गयी हूँ। इसलिए शायद हिचकिचाहट हो रही होगी। कुछ देर बाद मौन तोड़ते हुए कहा—जुलेखा, मुझे पता है भैया तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करता था। कल से तुम्हें एकदम अलग ढंग से ज़िन्दगी बितानी होगी। मैं देखना चाहता हूँ कि तुम स्वतन्त्र होकर कैसे रहोगी ?"

जुलेखा स्वतंत्र शब्द के अर्थ ही भूल चुकी थी। मुनीर ने वह फिर से याद दिलाया। कॉलिज की महिला-गोष्ठियों में सुना हुआ शब्द था वह। उसके मन में एक कौतूहल होने लगा कि इस जन्नत महल में स्वतंत्रता के क्या अर्थ होंगे ?

मुनीर ने कहा—"कल से तुम ये पुराने ढंग के ज़ेवर वग़ैरह उतार डालो, मैं उन्हें गलवा कर नये ढंग के आभूषण बनवा दूंगा। अपने ये ढीले-ढाले जम्पर किसी को दान कर दो, मैंने और नये ब्लाउज़ बनवाए हैं। ये रूमाल सिर पर बाँधे रखने की ज़रूरत नहीं। अपने इस काले बुर्के को तहकर बक्स में बन्द कर दो। इसे भी पहनने की ज़रूरत नहीं।"

तब अपना संदेह व्यक्त करते हुए जुलेखा ने पूछा—"बुर्का उतार देने पर लोग क्या कहेंगे ? इस पर वह बोला—"उसकी चिन्ता तुम्हें क्यों ? मैं तुम्हारा पति हूँ, मैं जो कहता हूँ वह करो।" ये बातें जुलेखा को अकबर की बातों जैसी

ही महसूस हुईं। फिर भी उसे लगा कि उनमें कुछ आकर्षण है। भविष्य की कल्पना करके वह रोमांचित हो उठी। बचपन में पेड़ पर चढ़कर फल तोड़ने का आनन्द, कंचे खेलना, काजू के बीजों से खेलने का सुख क्या फिर लौटेगा !

कानों की बड़ी बालियाँ उतारकर साड़ी से मेल खाता ब्लाउज़ पहनकर अपने लम्बे-लम्बे बालों को सफ़ाई से सँवार कर जुलेखा शीशे के सामने खड़ी हुई तो उसे उसी उत्साह और प्रसन्नता का अनुभव हुआ जो कॉलिज जाते समय हुआ करता था। उसे लगा कि सौन्दर्य-चेतना जन्नत-महल में पहली बार आई है और वह भी एक सुन्दरी है।

जन्नत-महल में कई ऐसे परिवर्तन हुए जिनकी जुलेखा को स्वप्न में भी कल्पना न थी। घर की औरतों के बाहर आने-जाने पर अब कोई रोक-टोक न थी। घर के सामान खरीदकर लाने के लिए जुलेखा और उसकी सास इकट्ठी बाहर जाने लगीं। जुलेखा की सास को ये परिवर्तन पसन्द आने पर भी बहू की बड़ी-बड़ी बालियाँ और बुर्क़ा उतार देने की बात अच्छी न लगी। वह यह सोचकर चुप रह गयी कि उसके विरोध पर मुनीर कोई ध्यान नहीं देगा।

मुनीर के प्रदान किए उस नये जीवन से जुलेखा उल्लसित हो उठी और खुशी खुशी घर और बाहर घूमने लगी। घर के अहाते में लगे आम, अमरूद उसने खुद सामने खड़े होकर नौकरों से तुड़वाये और घर के लोगों में बाँटे। उसे आस-पड़ोस के लोगों से कभी बात-चीत करने का अवसर नहीं मिला था। उनसे विशेष परिचय भी न था। अब उनको बुलाकर मेल-जोल बढ़ाया। उनके लड़कों से भी बात-चीत करने लगी। पड़ोसियों ने आश्चर्य से ही जन्नत-महल के लोगों से बात की। अब समय कैसे गुज़र जाता है जुलेखा को यह पता ही न चलता; ज़ंग लग गए उसके कार्य-कलापों पर अब धार चढ़ गयी।

उसी उल्लास में एक दिन जुलेखा ने शरमाते हुए मुनीर से 'हमारे एक बेटा हो जाय तो कितना अच्छा हो!' कहकर अपनी दबी इच्छा व्यक्त की। मुनीर ने कोई जवाब न दिया। पर चार-पाँच पुस्तकें उसे हाथ में पकड़ाते हुए कहा—"इन्हें पढ़कर बाहर की दुनिया का ज्ञान बढ़ाओ !"

बाहर के लोगों का आना-जाना दिनों-दिन बढ़ने लगा। अब जुलेखा को लगा कि पुराने दमघोंटू वातावरण से जन्नतमहल मुक्त हुआ। एक दिन मुनीर जब बाहर जाने को ही था कि एक औरतों की टोली भीतर घुस आयी। जुलेखा के उनका स्वागत कर पूछने पर उन्होंने बताया कि वे 'महिला उद्धार समिति' की सदस्याएँ हैं और चन्दा माँगने आयी हैं। मुनीर ने उन लोगों से बात-चीत के दौरान हज़ारों वर्षों से स्त्री-पुरुष की शारीरिक संरचना के अन्तर, स्त्री के भोलेपन और सरलता का पुरुष द्वारा धार्मिक विश्वासों के आधार पर किये जाने वाले शोषण का विरोध किया। बाद में उसने उन्हें एक हज़ार का चैक भी दिया। उसकी बात

सुनकर स्लीवलैस ब्लाउज़ पहने बॉबकट वाली एक लड़की बोली—"आप मुसलमान होते हुए भी इतने उदार विचार रखते हैं, यह खुशी की बात है!" इस पर मुनीर बड़ा खुश हुआ। जुलेखा को लगा, अगर वे ज़रा और ज़ोर देतीं तो वह उन्हें दो-तीन हज़ार रुपये और दे देता। जुलेखा का बॉबकट वाली लड़की से यह कहने का मन हो आया कि केवल मुसलमान औरतों का मर्दों द्वारा शोषण हुआ होता तो यह पैसा आपको देने की जरूरत नहीं थी। यह पैसा किसी मुस्लिम संस्था को दिया जा सकता था। सभी धर्म किसी न किसी रूप में स्त्री का शोषण करते चले आ रहे हैं। पर इस डर से चुप रह गयी कि पता नहीं, मुनीर क्या समझ बैठे। 'महिला उद्धार समिति' की स्त्रियाँ मुनीर के विचारों से बहुत प्रभावित हुईं। उनकी समिति में कोई मुसलमान सदस्या न होने से जुलेखा को सदस्य बनाया। वह भी कभी-कभार समिति की बैठकों में जाने लगी। एक-दो बार मुनीर को भी बुलावा आया और उसने वहाँ भाषण भी दिए। एक बार 'मुसलिम समाज में महिला के विषय पर बोलते हुए मुनीर ने कहा—"मुसलमान समाज में महिलाओं की जो स्थिति है, उसका जीवित उदाहरण मेरी पत्नी जुलेखा है! यह बताते हुए उसने कहा था—"उसके भाई ने उस पर कितने बन्धन लगा रखे थे, अब उसने उसे कितनी स्वतंत्रता दी है।" उसके उस दिन के भाषण की सबने बहुत प्रशंसा की। कुछ लोगों ने जुलेखा को घेरकर पूछा था—"क्या यह सच है कि तुम्हारे पहले पति ने तुम्हें बहुत कष्ट दिए थे? अब तो मुनीर द्वारा मुक्ति मिली?' ये बातें जुलेखा को बड़ी अजीब-सी लगीं। उसने घर पहुँचते ही मुनीर से कहा था—"आपका घर की बातें बाहर बताना मुझे अच्छा नहीं लगता।" मुनीर एकदम उबल पड़ा था। वह बोला—"मैंने कोई झूठी बात कही थी? सच बोलने में क्या ग़लती है?" मुनीर मुझे क्या समझता है और मैं क्या बन रही हूँ, यह सोचकर जुलेखा दुखी हुई।

सास के मुँह से भी एक-दो बार निकला था—"जुलेखा, मैं मरने से पहले पोते का मुँह देखना चाहती हूँ।" जुलेखा के मन में आशा फ़िर से पल्लवित हुई। उसने दुबारा मुनीर से कहा—"आपकी माँ भी पोते का मुँह देखना चाहती हैं।" तब मुनीर के मुँह से निकला था—"अब असली बात बेटा नहीं। तुम पुराने ज़माने की औरतों की तरह सोचना छोड़कर नई चीज़ों के बारे में सोचना सीखो।' जुलेखा ने हँसते हुए पूछा—"तो तुमने मुझसे शादी क्यों की?" मुनीर ने कहा—"मैं पिंजरे के पंछी को आज़ाद करके स्वतन्त्र रूप से घूमते देखने का परीक्षण करना चाहता था।"

मुनीर ने जिस दिन यह कहा "अपनी प्लास्टिक फैक्टरी का भैयावाला हिस्सा तुम्हारे नाम चढ़ा दिया है, जुलेखा को सुनकर खुशी नहीं हुई। यहभी एक प्रयोग होगा, सोचकर वह धीरे से बोली—"यह सब क्यों, दोनों हिस्से अपने नाम

पर ही रहने दीजिए। मैं दस्तखत कर दूँगी। आपके नाम रहा या मेरे, एक ही बात है।" मुनीर प्रसन्न होकर मुसकराया। जुलेखा का यह संदेह और बढ़ने लगा कि वह प्रयोग की वस्तु तो नही बन रही !

धीरे-धीरे मुनीर अपनी वेशभूषा में अधिक दिलचस्पी लेने लगा। नये-नये सफ़ारी सूट पहनकर घूमने लगा। जुलेखा को वह रोज़ अधिक-से-अधिक आकर्षक लगने लगा। जुलेखा के कान में एक नई बात पड़ी कि वह नई-नई लड़कियों के साथ घूमने लगा है। जुलेखा ने सूक्ष्मता से देखा कि 'महिला उद्धार समिति' में स्लीवलैस लड़कियों के साथ और वह निकटता से पेश आता है। काम के बहाने मुनीर देर करके घर आने लगा।

शुरू-शुरू में जुलेखा ने इन बातों पर ध्यान नही दिया। उसके विचारों से बहुत प्रभावित होने के कारण उसने उसकी ईमानदारी पर संदेह नही किया। परन्तु उसकी उस लड़की के साथ कार मे घूमने की बात ज़ोरों से फैलने लगी। वह ऐसा क्यों कर रहा है सोचकर वह खीझ उठी। एक बार उसे कार से उतरते हुए उम लड़की के साथ लिपटकर बैठा देखकर जुलेखा पागल-सी हो गयी। वे दोनों जब भीतर आये, तो जुलेखा ने उस लड़की का झोंटा पकड़कर धक्का देकर बाहर निकालते हुए चिल्लाकर कहा—"कुतिया ! रॉड कही की !" मुनीर उसका यह ढंग देखकर एकदम हक्का-बक्का रह गया। अगले ही क्षण जुलेखा के गाल पर एक तमाचा जमाकर अपने कमरे में खींचकर ले गया और "तुम्हें मैंने इन्सान बनाया, पर तुमने मेरी इज्जत दो कौडी की कर दी!" कहकर ख़ूब पिटाई की। सारा दर्द पीकर जुलेखा ने पूछा—"आप मेरा तिरस्कार क्यों कर रहे हैं, मुझे यह बात समझ में नही आ रही, इस बाजारू लडकी से मैं किस बात में कम हूँ ?" मुनीर ने कहा—"यह सब तुम्हारे संकीर्ण विचारों का फल है। यह तुम्हें समझ में नहीं आयेगा।" जुलेखा ने चीखकर कहा—"आपने कहा था, सारे मर्द औरतों के शोषक हैं। अब आप क्या कर रहे हैं ? मुझे एक कोने में बिठाकर शहर-भर की लडकियों के साथ गुलछर्रे उडा रहे हैं। यही आपका संघर्ष है ? औरत को सम्मान देने के आपके सारे विचार पाखण्ड हैं !" तब मुनीर बोला—"तुम्हें सामने जबान खोलने की आज़ादी मैने ही दी है। मैंने ढील दी, इसलिए तुम मेरे ही सिर पर चढ़ रही हो।" तभी बाहर से दरवाजा खटखटाते हुए माँ ने कहा—"दरवाजा खोल मुनीर !"

अनजाने में ही जुलेखा के मुँह से निकला—"आप में और आपके भाई में कोई फ़र्क़ नही। आप नही चाहते थे कि आपकी जायदाद का बँटवारा हो। इसीलिए आपने मुझसे शादी की।" मुनीर ने तडाक से उसके मुँह पर एक तमाचा जड़ दिया —"हाँ, इतना ही नही। तुम भाभी थी, भइया के बिस्तर का हिस्सा। जब मैं तुम्हें अपने बिस्तर पर देखता मुझे हैरानी होती।" यह कहकर वह कमरे का दरवाजा खोलकर बाहर निकल गया। जुलेखा अपने कटे होंठ से ख़ून पोंछने लगी। सास

ने भीतर आकर "तुम्हें इस तरह उसके सामने जबान नहीं चलानी थी", कहकर उसे सांत्वना दी। जुलेखा को मुनीर की मार से अधिक उसके मुँह से निकले अन्तिम शब्दों से ज्यादा चोट लगी थी। वह एकदम पत्थर-सी खड़ी रह गई। उसकी आँख से आँसू भी नहीं निकले।

जुलेखा ने समझा, उसका जीवन फिर से अँधेरे में डूब गया। वह फिर से मौन हो गयी। तब कभी न याद आने वाले अकबर की याद आयी। साथ ही मुनीर का चेहरा भी आँखों में तैर आया। दोनों की हँसी उसे एक-सी ही लगी। उनकी लम्बी-लम्बी खीसें निकल आयीं। आँखें बड़ी-बड़ी होकर उसे निगलने-सी लगीं। जुलेखा बुरी तरह काँपने लगी। रोज तड़पती बहू को देखकर सास ने बिस्तर पकड़ लिया। जुलेखा सास की सेवा में जन्नत-महल में खो गयी। एक दिन सास ने अपनी कभी पूरी न हुई इच्छा फिर से व्यक्त की—"मेरे मरने से पहले पोते का मुँह नहीं दिखाएगी ?" जुलेखा सास की बात पर खिलखिला कर हँस दी। उसके अट्टहास से जन्नत-महल के मजबूत खम्भे भी काँप-से उठे। सास को ऐसा लगा कि पूरा जन्नत-महल ही ढहा जा रहा हो। मारे डर के उसने आँखें मूँद लीं। उसके माथे पर पसीने की बूँदें चमकने लगीं। जुलेखा हँसे जा रही थी।

(अनु०—बी० आर० नारायण)

कत्ता और पिन्सन

□

शान्तरस

जब मैं सात-आठ बरस का था, बम्बई का बाइस्कोप वाला जब हमारे गांव आता तो मैं सारे दिन उसके पीछे-पीछे घूमा करता। इकन्नी में उसे दो बार देखा जा सकता था। बाइस्कोप वाला "दिल्ली का दरबार देखो, चार मीनार देखो, गोल गुम्बद देखो, मैसूर का महल देखो !" कहता घुंघरू बजाता हुआ एक-एक चित्र दिखाता जाता था।

तस्वीर को बड़ा कर दिखाने वाले उन कांचों में से देखे चित्रों को देख जो आनन्द आता था, वह आजकल के किसी सिनेमा, नाटक देखने पर भी नहीं मिला। आपको यदि मेरी बातों पर आश्चर्य हो तो मुझे आपकी बुद्धि पर आश्चर्य होगा।

आज साठ वर्ष पार कर चुकने पर मेरा मन भी बम्बई का बाइस्कोप बन चुका है। समय ने उस पर न जाने कितने चित्र लिख डाले हैं। पता नहीं, कैसी-कैसी बातें छिपाकर अपने में रख रखी हैं। मेरे मन-रूपी बम्बइया बाइस्कोप के सामने से एक-एक करके चित्र गुजरने लगते हैं और कहानियाँ सुनाई पड़ती हैं। आइए, आप भी वे कहानियाँ सुनिए।

ईरव्वा

मेरे पति संगप्पा को गुज़रे सत्ताईस वर्ष हो चुके हैं पर आज भी ऐसा नहीं लगता है कि वह गुजर गया है। जब भी मैं तिरंगा झंडा देखती हूं तो लगता है कि वह अभी मरा नहीं। मेरी आँखों के सामने झंडा नहीं लहराता, लगता है वही झूम रहा है। लहलहाते मक्की के खिली कपास के पौधों में वही दिखायी देता है। बरसती बरखा में, बहते पानी में और बहती हवा में वही नजर आता है। सुना है, ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, त्यों-त्यों मोह भी बढ़ता जाता है। लगता है यह बात सच है। आजकल उसकी याद बेहद आने लगी है। रोटी का

कौर जब तोड़कर मुँह में रखती हूँ तो वह कौर उसी का रूप धारण कर लेता है। नींद तो आती ही नहीं। सारी रात सपने ही सपने दिखायी देते हैं। कल पौ फटने से पहले ऐसा लगा जैसे पूछा हो—ईरू, तुम कैसी हो ? आवाज़ उसी की-सी लगी। उठकर फूट-फूट कर रो पड़ी थी। आँसुओं से मुँह तर हो गया। मल्लण्णा ने चप्-चप् करके मेरे आँसू चाट लिए।

मेरा घरवाला मुझे कितना प्यार करता था। उस प्यार के चले जाने के बाद मुझे जीना नहीं चाहिए था। कम-से-कम कुएँ में कूदकर ही मर जाना चाहिए था। तीस बरस तक मैं कैसे ज़िन्दा रही, इसे करिश्मा ही कहना चाहिए। इसमें करिश्मे की क्या बात है ! देवर निगण्णा के लिए जीना पड़ा। इससे भी बढ़कर एक और भी कारण है। रंगण्णा और भोला नायक को जब भी देखती तो मन कहता—और जीना चाहिए और अच्छी तरह जीना चाहिए ताकि वे जल-भुन कर कबाब हों। उनकी करनी कोई मामूली है ? भोला आज भी सिर उठाए घूम रहा है। उसके मुँह पर खाक पड़े, उसे साँप डँस जाये, ये शाप मेरे मुँह से निकलते ही रहते हैं। पर उस पर खाक नहीं पड़ी। उसे साँप ने नहीं डँसा। उसने तो कइयों पर खाक डाल दी और कई को खुद साँप बन कर डँस लिया। मुझे भी डँसने आया था दुष्ट कहीं का। पर उससे वह हो नहीं पाया।

जब सारा देश स्वतंत्र होकर खुशी से फूला नहीं समा रहा था, तब हम निज़ाम के अधीन थे और रज़ाकारों के शिकार हो गये। हमारे गाँव का भोला नायक रज़ाकारों का अगुआ था। उसके पीछे काफ़ी लोग थे। मेरे पति संगप्पा और रंगण्णा पर वह खार खाता था। एक दिन मेरा पति तुंगभद्रा के पार गया और स्वतन्त्रता के लिए लड़नेवालों के शिविर में जाकर मिल गया। "तुम दोनों साथी हो, तुम्हें पता होगा कि संगप्पा कहाँ गया, बताओ !" कहकर भोला नायक रंगण्णा के पीछे पड़ गया। घर में घुसकर उसका घर लूट लिया किन्तु चार बोरी मक्की के अलावा कुछ नहीं मिला। रंगण्णा बड़ा सयाना आदमी था। पता नहीं, कब उसने पत्नी, माँ और बेटे को खिसका दिया था। उन्हीं के साथ घर का सोना-चाँदी और पैसा भी भेज दिया। भोला नायक ने कहा—"अगर कल तक तुमने संगप्पा की खबर न दी तो तुम्हारा क़त्ल कर दिया जायेगा।" उसी रात रंगण्णा फ़रार हो गया। अगले दिन भोला नायक आदमियों सहित हमारे घर आया। मैंने दरवाज़ा नहीं खोला। उन्होंने दरवाज़ा तोड़ डाला। मैं कमर में आँचल लपेट कर मूसल हाथ में लेकर बाहर निकली। देवर निगण्णा बुखार से तपता घर में सोया हुआ था। "तेरा घरवाला कहाँ है री ?" उन्होंने पूछा। मैंने कहा—"मालूम नहीं।" खूब गाली-गलौज की। भीतर आकर निगण्णा की पिटाई की। वह बेहोश हो गया। भोला नायक इस पर मुझसे बोला—"तेरा घरवाला गया सो गया। तू आकर मेरे घर में रह जा।" मैंने कहा—' यह असंभव है।" "मार डालूंगा !" कह कर

उसने बंदूक़ उठायी। "मार डाल !" कहकर मैं तनकर खड़ी हो गयी। "मैं क्या बेवकूफ़ हूँ जो तेरी जैसी सुन्दर औरत को मार डालूँ। तीन-चार दिन देखता हूँ। बाद में जैसा मैं कहूँ वैसा ही करेगी तो ठीक, नहीं तो मुझे जो करना है वह करूँगा। खबरदार, भागने की कोशिश मत करना। ऐसी खबर मिली तो गोली से उड़ा दूंगा !" कह कर चला गया।

एक-दो दिन बीत गये। कभी-कभार मेरे घर के आगे से रज़ाकार गुज़रते रहे। मैं भाग तो नहीं रही, वे लोग इस बात पर निगाह रखे रहे। घर का दरवाज़ा तो तोड़ ही डाला था इसलिए घर खुला ही रहता था। रात को एक टट्टर घर के आड़े लगा देती थी। निगण्णा का बुख़ार उतर गया था। लेकिन उसकी जो पिटाई हुई थी, उसकी चोटों से दर्द रहने लगा था। पीठ पर गहरे निशान उभर आये थे। वह रात-दिन मारे डर के काँपा करता था। उसे हमेशा यह डर लगा रहता कि पता नहीं कब क्या हो जाय। तीसरे दिन आधी रात बीतने के बाद मेरा पति लौट आया। उसके साथ और तीन-चार जने थे। उन लोगों ने बूढ़ों का वेष बना रखा था। एक-दो ने रज़ाकारों जैसे कपड़े पहन रखे थे। मैं डर के मारे चीख़ने को ही थी कि "ईरू, मैं हूँ, डरो मत !" कहकर दाढ़ी-मूँछ उतार कर मेरे पति ने अपना असली रूप दिखाया और मुझे जल्दी से तैयार कराया। मुझे धोती पहनायी और कुरता पहना कर सिर पर एक पगड़ी बाँध दी। ऊपर से सफ़ेद मूँछें भी चिपका दीं। उन्होंने निगण्णा का भी भेष बदल डाला। उसे मुसलमानी कपड़े पहना दिए। हम लोग अँधेरे मे निकल पड़े। भाग्य से गाँव में कोई भी जाग नहीं रहा था। किसी प्रकार वे हमे आगे ले चले। पौ फटने तक हम सब एक गाँव में पहुँचे। आज उस गाँव का नाम याद नहीं। वहाँ दिन भर किसी के घर में छिप कर बैठे रहे। वहाँ हमारे जैसे ही चार-पाँच और लोग भी थे। रात को सब मिलकर आगे चले। अभी अँधेरा ही था, हमने तुंगभद्रा पार की। किसी प्रकार बच निकले। हम आम रास्ता छोड़ कर जंगल के रास्ते पर चल रहे थे। जगह-जगह रज़ाकारों और सैनिकों के शिविर थे। कहीं उनके हाथ पड़ जाते तो वे हमारे टुकड़े-टुकड़े कर डालते। निगण्णा को फिर से बुखार चढ़ आया था। निगण्णा और मुझे उन्होंने अदवानी के पास एक गाँव में छोड़ दिया। वहाँ का घर बड़ा छोटा-सा था। मुहल्ले वाले भले लोग थे। दो-तीन दिन में एक बार अदवानी से डॉक्टर आकर निगण्णा को दवा दे जाता था।

तुंगभद्रा के पूरे किनारे पर संघर्ष करने वालों के शिविर लगे हुए थे। मेरा पति भी एक शिविर में था। रंगण्णा की कोई खबर नहीं थी। वह पता नहीं, कहाँ चला गया। वे लोग रातों-रात नदी पार करके जाते और डाकखानों और कचहरियों को आग लगा देते। कोई मुसीबत में फँसा होता तो उसे इस पार ले आते।

कोई चार मास बीत पाये होंगे कि मेरे पति के मरने की खबर आयी। मेरे

सिर पर मानो आसमान टूट पड़ा । वे किसी डाकखाने को आग लगाने गये थे, वहीं पर वे पुलिस के हाथ लग गये और पुलिस की गोलियों के शिकार हो गये । सात-आठ आदमियों में से कोई दो आदमी बचकर निकल पाये थे ।

खबर सुनते ही मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया और मैं बेहोश हो गयी । होश आया तो देखा कि कुछ लोग मुझे घेरे खड़े हैं । निंगण्णा "भइया, मेरे भइया !" कहकर रोये जा रहा था । समाचार लाने वाला भी आँसू बहा रहा था ।

निंगण्णा का स्वास्थ्य फिर से खराब हो गया । उसे बुखार आने लगा था, वह खाँसने लगा और उसने बिस्तर पकड़ लिया । उस गाँव वालों ने जो सहायता की वह भुलायी नहीं जा सकती । बहुत ही भले लोग थे वे । हमारे गाँव के अमीर और खाते-पीते लोग भी वहीं थे । वे सब रजाकारों के डर के मारे अपना सोना-चाँदी और पैसा लेकर वहाँ पहुँच गये थे । उनसे भी हमें थोड़ी-बहुत सहायता मिली । रजाकारों का आतंक कम हो चला था । निज़ाम के हारने की खबर सुनकर सब अपने गाँवों को चल पड़े । निंगण्णा अभी कमज़ोर था इसलिए मुझे वहीं ठहरना पड़ा ।

सात मास के बाद मैं निंगण्णा को लेकर गाँव पहुँची । उसकी कमज़ोरी घट गयी थी । बुखार उतर गया था, मगर खाँसी अभी बाक़ी थी ।

हमारा बैल पड़ोसी कालप्पा के घर था । कालप्पा ने हमारे घर का टट्टर का दरवाज़ा बना दिया था । लकड़ी का दरवाजा तो रजाकारों ने तोड़ डाला था । कालप्पा का पिता गुजर गया था । माँ ने बेटे का ब्याह कर डाला था और बहू घर ले आयी थी । मेरा मन भी निंगण्णा का ब्याह करा देने का हो आया । मैंने सोचा, उसके थोड़ा ठीक होते ही कहीं से एक अच्छी-सी लड़की लाकर उसका ब्याह करा दूंगी ।

कालप्पा से धान-बीजादि माँग कर किसी प्रकार जीवन की नैया चलाने लगी । मैंने दो एकड़ धरती उसे बटाई पर उठा दी । मुझे लगा कि उससे मिले अनाज से घर नहीं चल पायेगा । मुझे कुलीगीरी पर जाना पड़ा । मेरा घरवाला अपनी जमीन ही नहीं दूसरों की धरती भी बटाई पर लेकर काफ़ी कमा लेता था । तब मुझे कुलीगीरी करने की जरूरत नहीं थी ।

अब कोई झगड़ा नहीं था । देश स्वतन्त्र हो गया था । पर मुझे जीवन पहले से कठिन लगा । ऐसा लगने लगा कि जीवन रजाकारों के वक़्त से भी कठिन हो गया था । लोग काफ़ी बदल गये थे । कोई कहने-सुनने वाला नहीं था । मुझे अब सब रज़ाकारों जैसे दीखने लगे । सबकी नजर मुझ पर गड़ी थी । पानी लेने को निकलती तो सब ऐसे देखते मानो फाड़ कर खा जायेंगे । मैंने तो सोचा था कि मैंने बड़े कष्ट उठाए हैं, लोग मुझे सम्मान से देखेंगे, पर यहाँ तो उलटा हो गया । मेरे गाँव के लोगों का विचार था कि यह अकेली औरत है, इसका कोई नहीं है, देखने-सुनने में अच्छी है, क्यों न एक हाथ आजमाया जाये ? इस देश में एक अकेली

बेसहारा औरत को जीना नहीं चाहिए। अगर ऐसा हो तो उसे वेश्या बनना पड़ता है, नहीं तो लोग उसे वेश्या बना देते हैं। अगर ऐसे जीने की इच्छा न हो तो मर जाना चाहिए। इसके अलावा यहाँ रखा ही क्या है? मेरी जैसी अनाथ स्त्री को तो रहना नहीं चाहिए। भाई-बहिन नहीं, माँ-बाप नहीं, सास-ससुर भी नहीं—ले-देकर एक देवर है सो भी बीमार।

मजे की बात यह थी कि रंगण्णा और भोला नायक दोस्त बन गये थे। गाँव में उन्हीं का कारोबार है, सदा साथ रहते हैं। मुझे गाँव आये कोई बीस दिन हुए होंगे कि रंगण्णा और भोला नायक घर आये। भोला नायक को देखकर मेरा खून खौल उठा। लेकिन मैंने अपने को क़ाबू कर लिया। रंगण्णा ने कहा—"बताओ, तुम्हें क्या चाहिए? जो चाहोगी मैं मदद करूँगा। तुम एक बहादुर की पत्नी हो।" मैंने कहा—"मुझे किसी की सहायता नहीं चाहिए।" वह मुँह बिचका कर चला गया। उसके पीछे-पीछे पूँछ की तरह नायक भी चला गया। सहायता करने को आने वालों ने यह भी नहीं पूछा कि निगण्णा की तबीयत कैसी है? रंगण्णा ने एक मास बाद फिर से कहलवाया—"तुम अकेली जान हो, जमाना खराब है। लोग अच्छे नहीं हैं। जरा सोच लो!" मैंने कहला दिया—मेरे बारे में सोचना छोड़कर अपना काम करो। दुबारा मेरे बारे में सोचने की जरूरत नहीं। बाद में पता नहीं, किस-किस के मुँह से क्या-क्या सुनना पड़ा। मालव्वा ने जो कुटनी का काम करने के लिए प्रसिद्ध थी, आकर कहा—"वह गौडा है, पुलिस उसके हाथ में है।" मैंने उसे आगे बोलने नहीं दिया। बाँह से खींचकर बाहर ले जाकर तड़ा-तड़ तमाचे जमाते हुए चिल्ला पड़ी। तब से कुछ दिन के लिए किसी ने मेरा नाम नहीं लिया। मैं मजदूरी का काम करने लगी। मर्द की जात ही खराब होती है। कभी-कभार वह मेरी तरफ़ बुरी निगाह से देखा करता। 'नीच कहीं का!' कहकर मैं चुप रह गयी।

कालप्पा मेरे लिए बेटे के समान था। उसने एक-दो बार लोगों को धमका दिया था, फिर भी भोला नायक की बदमाशियाँ कम नहीं हुईं। धुनिया ने हुसैन को शराब पिला कर मेरे पीछे हड़का दिया। जब मैं पानी का घड़ा भर कर आ रही थी तब वह भद्दे गीत गाता मुझे पकड़ने आया। मैं घड़ा फेंक भाग आयी। कालप्पा उसके पीछे पिल पड़ा और खूब धुनाई कर डाली। बाद में उससे कहा—"जाकर बता देना, तेरे मालिक की भी ऐसी ही धुनाई करूँगा। उसकी टाँग तोड़ कर उसी के हाथ में थमा दूँगा।" तब से उनका घमण्ड चूर-चूर हो गया। मैं आराम से अकेली अपना काम करने लगी।

निगण्णा का बुख़ार उतरा ही नहीं। रायचूर ले जाकर दिखा लाये। पता लगा, उसे तपेदिक हो गयी है। उन्होंने दवा दी। रोग कम न हुआ। हकीम, वैद्य की दवा भी की। एक वैद्यराज भी आये। उन्होंने सोने की भस्म दी। कुछ भी

हो, उसका बुखार न छूटा। ग्यारह बरस तड़प-तड़प कर निंगण्णा चल बसा। उसके चले जाने के बाद मैं जिन्दगी से ऊब गयी। अब मैं एकदम ही अकेली पड़ गयी। मजदूरी करने जाना भी छोड़ दिया। घर में ही पड़ी रहती। रोया करती। फाँसी लगा लेने की भी सोची। मरने का विचार आते ही पति की याद हो आयी। उसी याद में सुबह से शाम तक घुला करती। बाद में उससे भी ऊब गयी। मैंने सोचा, मरना ही अच्छा है। तभी एक घटना घटी, एक पड़ोसी मुसलमान के घर में उसकी पत्नी एक बच्चे को जन्म देकर चल बसी। उसके घर में और कोई न था। मैंने जाकर उस बच्चे को सँभाला। बम्बई से उसकी बहिन के आने में पन्द्रह दिन लग गये। मुझे उस काम में बड़ा आनन्द आया। ऐसे ही काम पड़ने पर मैं दूसरों के घर बिना बुलाये भी जाने लगी। धीरे-धीरे मेरा काम दूसरों के कष्ट में सहायता करना ही हो गया। कालप्पा ने समझाया—"बेकार में क्यों दूसरों के लिए खट कर जान देती हो? आखिर में भूखों मरने की नौबत आयेगी।" मैंने कहा—"कोई बात नहीं।" उन्हीं दिनों घर में मल्लण्णा आ गया। पता नहीं, कहाँ से आया? मैंने तो समझा देवलोक से ही आया। कितना समझदार था वह। उसकी अक्ल का तो कहना ही क्या। अगर किसी वजह से मेरा मुँह उतर जाता तो उसकी आँखों में आँसू आ जाते। मैं हँसती तो कितना खुश हो उठता। पूँछ हिलाकर नाचने लगता। मल्लण्णा के आने के बाद मुझे अपने जीवन का एक अर्थ प्रतीत होने लगा। अब मुझे अकेलापन नहीं महसूस होता था। वह सदा मेरे साथ रहता। क्या मजाल कि कोई मेरी तरफ़ देख भी ले। मुझमें जैसे हजार बाजुओं का बल आ गया। मैंने मल्लण्णा से बहुत-कुछ सीखा। जानवर बोल नहीं सकते, उनमें बुद्धि भी नहीं होती पर यह कहना कठिन है कि उनमें दिल नहीं होता। मेरे विचार में ऐसा कहने वाले स्वयं हृदयहीन होते हैं। जानवरों पर जितना विश्वास किया जा सकता है, उतना इन्सानों पर नहीं। आदमी कभी न कभी धोखा दे जाता है पर जानवर तो जान ही दे देता है। उसमें भी कुत्ते से अधिक विश्वासपात्र जानवर दूसरा नहीं। मल्लण्णा की अगर कहानी सुनाने बैठूँ तो कभी खत्म ही नहीं होगी। मल्लण्णा को मेरे पास रहते चौदह वर्ष बीत चले हैं। मैं जब मजदूरी को जाती हूँ तब भी वह साथ रहता है। कपास चुनते समय, भुट्टे तोड़ते समय वह मेरे पीछे-पीछे ही रहता है। फिर गौडा कहता है—"अपने कुत्ते की मजदूरी लो ईरव्वा!" वह सिर्फ़ कहता ही नहीं, मुझे ज्यादा मजदूरी देता भी है।

एक दिन एक बहुत बड़े स्वामी जी आये थे। मैंने जाकर नमस्कार किया। मैं मल्लण्णा को बाहर छोड़ कर गयी थी, पता नहीं, वह कब भीतर घुस आया। मैंने स्वामी को नमस्कार करके सिर उठाया ही था कि उसने आकर स्वामी जी के पाँव चाट लिए। धत्-धत् कहते हुए स्वामीजी की त्यौरियाँ चढ़ गयीं। उन्होंने मुझे डाँटते हुए कहा—मठ के भीतर कहीं कुत्ते लेकर आते हैं। मुझ पर पांच रुपये

जुर्माना कर दिया। अशुद्धि हो गयी, कह कर भीतर जाकर स्नान करके शुद्ध कपड़े पहन कर आये। मेरा मल्लण्णा कितना स्वच्छ और शुद्ध है, भला यह बात, स्वामीजी को कहाँ पता थी। जानवर सदा शुद्ध होते हैं। उनका मन आदमी-जैसा नहीं होता, इस कारण वे सदा स्वच्छ होते हैं। और तो और स्वामीजी की तरह शुद्ध-अशुद्ध की बात उनके मन में नहीं रहती। मुझे उस दिन ऐसा लगा कि स्वामी जी के गेरुए कपड़े उतरवाकर मल्लण्णा को पहना देने चाहिए। उसके बाद से मैं किसी स्वामी के दर्शन करने नहीं गयी। मैंने मन्दिर जाना भी बन्द कर दिया, क्योंकि मल्लण्णा भी मेरे साथ मन्दिर में आ जाता। पुजारी से झगड़ा हो जाता। आगे से मैंने बड़े लोगों के घर जाना भी बन्द कर दिया, पर बहेलिए लोग ही अच्छे होते हैं, क्योंकि उनके घर मल्लण्णा मेरे साथ जा सकता है। उनके घरों में भी भेड़-बकरियाँ और कुत्ते होते हैं। आखिर मेरा सबसे ज़्यादा साथ किसने दिया? इन्हीं लोगों ने। इनकी जाति छोटी हो सकती है, पर इनका स्नेह बड़ा होता है। इसके मन में ऊँच-नीच नहीं होता। मेहनत करके खाते हैं। लेकिन दूसरे लोग? मेहनत नहीं करते, बैठे-बैठे खाते हैं। लोगों में आपस में झगड़ा करा कर अपनी मुट्ठी गरम करते हैं। सिर पर टोपी लगाकर भाषण करते हैं। वे लकड़ी पर घुन की तरह होते हैं। बैठे-बैठे कोई-न-कोई खुराफ़ात सोचा करते हैं।

अब मैं दिनोंदिन कमज़ोर हो रही हूँ। अब जीने की उम्मीद नहीं है। हाथ-पैर काँपने लगे हैं। मज़दूरी के लिए भी नहीं जा सकती। लेटे-लेटे थक गयी हूँ। रंगण्णा आया था। उसे देखकर मल्लण्णा गुर्राया था। कालप्पा को उसे बाहर ले जाना पड़ा। मेरी तबीयत पूछने की जगह रंगण्णा अपने एम०एल०ए० बनने का पुराण ही सुनाता रहा। अब वह बड़ा आदमी बन गया था। मंत्री भी बन सकता है। मेरा पति अगर ज़िन्दा होता तो आज पता नहीं वह क्या होता। रंगण्णा की तरह उसे चार सौ बीसी करना तो आता नही था, भला एम०एल०ए० कैसे बन सकता? उसने दुमंजिला मकान बना लिया है। बाग़ बढ़ा लिया है। रूई बो रखी है। भला मेरा सीधा पति यह सब कैसे कर सकता था? वह तो सबकी तरह मेहनत करके खा सकता था, बस इतना ही। रंगण्णा ने कहा—"तुमने आज़ादी की लड़ाई लड़ी है। मैं तुम्हें सरकार से बीमारी के लिए पैसे दिलाता हूँ।" मैंने कहा—ऐसा कुछ नहीं हुआ। मुझे दवा-ववा नहीं चाहिए। सात-आठ साल पहले भी उसने ऐसा ही कुछ कहा था। हाँ, स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ने वालों को पिनसन मिलती है, वह दिलाने की बात कही थी। तब मैंने कह दिया था—"यह सब मेरे लिए क्यों? मैं तो मज़दूरी करती हूँ। मुझे किसी बात की कमी नहीं। अकेली जान हूँ। मुझे सरकार की मेहरबानी नहीं चाहिए।"

मैं अनाथ हो गया। मेरी माँ ईरब्बा अब नहीं रही। मैं अपना दुखड़ा किससे कहूँ। कौन समझेगा। बेजुबान हूँ। लोग यह सोचकर चुप हो जाते हैं कि भौंकता है, रोता है। लेकिन इससे कोई भी मेरे दुःख को माप नहीं सकता। कोई भी ध्वनि मेरे दुःख को व्यक्त नहीं कर सकती।

मेरी माँ ने मुझे एक जानवर या कुत्ता नहीं माना था। उन्होंने तो मुझे अपना बेटा ही समझा था। माँ के प्यार ने मुझे कुत्तेपन से ऊपर उठा दिया था। इस बात का भला कौन विश्वास करेगा कि माँ के प्यार के कारण मेरे भीतर एक दैविक गुण का विकास हुआ था। मैं एक कुत्ता हूँ। यह जानते हुए भी कि मेरे बराबर कोई विश्वासपात्र नहीं है, लोग मुझ से मेहनत कराते हैं, मुझे घृणा की दृष्टि से देखना लोगों ने बंद नहीं किया। यह आदमी का एक घटियापन नहीं तो और क्या है? लोग टेढ़ी पूंछ वाला कह कर व्यंग्य करते है। मेरी पूँछ में ये लोग क्यों रुचि लेते है? इन्होंने तो एक कहावत ही बना ली है, हज़ार बरस एक नली में रखने पर भी कुत्ते की पूंछ सीधी नहीं होती। अरे भाइयो, उसका गुण ही टेढ़ा रहना है। *उसका टेढ़ापन सीधा करने का प्रयास करके आप अपने टेढ़ेपन का प्रदर्शन करते हैं। इस बारे में कभी आपने सोचा? अपने टेढ़ेपन को छिपाए रखने में मनुष्य से बड़ा कोई उस्ताद नहीं। यही नहीं, मनुष्य के अलावा और कोई भी प्राणी अपने सहज गुणों को छिपाना नहीं चाहता। आदमी ऊँट को देखकर एक मज़ाक करता है—"अरे ऊँट, तेरी कौन-सी कल सीधी?* अपने काम में आने वाले प्राणियों का उपयोग कर फिर उनका तिरस्कार से मज़ाक उड़ाने वाला भगवान की सृष्टि में एक ही प्राणी है। मेरी पूंछ टेढ़ी है यह सच है, पर मेरा विश्वास भी क्या टेढ़ा है? गन्ना अगर टेढ़ा हो जाये तो क्या उसकी मिठास भी टेढ़ी हो जाती है? मानव ने एक गीत बनाया, पर कुत्ते की पूंछ के बारे में ऐसा क्यों नहीं कहा? अरे मनुष्य! तुझ में जितना टेढ़ापन है उतना सृष्टि की किसी भी चीज़ में नहीं। हड्डी दीखते ही उछल कर दबोच लेना मेरा सहज स्वभाव है। इसे तुम बुरा क्यों समझते हो? मैं तो सदा सहज ही रहता हूँ। दुष्ट को सफ़ेद वस्त्र पहनाकर उसे पालकी में बिठा कर उसकी मुझसे तुलना की जाये, यह भला कहाँ का न्याय है? देखो, मनुष्य के साथ, उस पर भी दुष्ट व्यक्ति के साथ, मेरी तुलना करना कहाँ का न्याय है? मनुष्य जैसे नीच गुण मुझ में नहीं हैं। पहले भी नहीं थे, अब भी नहीं हैं। आप ही बताइए, जो कुछ रंगण्णा ने किया क्या वह मैं कभी कर सकता हूँ? भोला नायक जैसा व्यवहार कर सकता हूँ? विश्वासघात जितना मनुष्य समाज में है, उतना कुत्तों के समाज में या किसी भी प्राणी-समाज में हो सकता है? हो तो ज़रा बताइए। विश्वास करने वाले को या मुझ पर विश्वास रखने वालों को मैं

कभी काटता नहीं। अपने विश्वासपात्रों को काटना मानव-समाज में बहुत पहले से चला आया है। इतिहास साक्षी है। पालतू कुत्ता होने की अपेक्षा सड़क का कुत्ता बनना ज्यादा अच्छा है। इसी कारण मैं बहुत दिन तक सड़क का कुत्ता ही बना रहा। मानव के सम्पर्क से उसके गुण हममें भी आ जाने की आशंका रहती है। मैंने किसी को धोखा नहीं दिया, फिर भी मुझे मारने आये। गले में पट्टा जो नहीं था। मैं भाग निकला। पैठ से लौटते समय ईरव्वा रजवाहे के किनारे छाया में बैठी खाना खा रही थी। मैं भी पास जाकर खड़ा हो गया। उसने रोटी दी, मैंने खा ली। उसने मेरी तरफ़ देखा। मैंने उसकी आँखों में आँखें डाल कर देखा। मुझे बहुत अच्छा लगा। मैंने पूँछ हिलायी, अपना शरीर उससे रगड़ा। उसने मुट्टी भर-भर कर चावल दिए। मैंने खूब खाए। कितने स्वादिष्ट थे। ऐसा लगा कि उसकी करुणा मेरे भीतर प्रवेश कर गयी। वह गठरी सिर पर रख कर चल पड़ी। मानव से दूर रहने की इच्छा रखने वाले मुझे भी उसके पीछे जाने की इच्छा हो आयी। धीरे से पीछे लग गया। उसने दो-एक बार हट-हट कहा। यह कहाँ से पीछे लग गया, कहकर उसने मुड़ कर डाँटा भी, मैं पीछे को भागा भी, पर फिर मुड़कर देखा, वह लम्बे-लम्बे डग भरती चली जा रही थी। मैं दबे-पाँव उसके पीछे लग गया। घर पहुँच कर उसने गठरी चबूतरे पर धरी और उफ़ कह लम्बी साँस भर कर बैठ गयी। मैं आँगन में दूर खड़ा हो गया। अरे, इसका नास हो, यह यहाँ तक चला आया, उसने कहा। क्या है ? पूछता हुआ कालप्पा बाहर आया। वह बोली, कुत्ता है। रास्ते में खाने को डाला था, यही ग़लती हो गयी। पीछे-पीछे चला आया। कालप्पा बोला, "रहने दो, अच्छा कुत्ता है। तुम्हें भी एक साथी मिल जाएगा।" वह बोली, "पता नहीं, नासपीटा किसका है। और कैसा है।" कालप्पा बोला, "किसी का भी हो तुम्हें क्या ?" कहकर उसने मुझे 'पुच-पुच' करके बुलाया। मैं पूँछ हिलाता उसके पास गया। कालप्पा ने मेरी पीठ सहलायी और कहा, अरे, रहने दो ! माँ ने भी मुझे पास बुलाकर प्यार किया। मैंने खुश होकर उसके हाथ-पाँव चाटे।

तब से ईरव्वा का घर मेरा घर हो गया। ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, उसके सुख-दुख मुझे पता चलने लगे। ऐसे कठिन परिश्रमी लोग मैंने कभी नहीं देखे थे। उसका कोई अपना न था। उसका एकमात्र देवर भी गुज़रे डेढ़ साल हो चुका था। कालप्पा के सिवा कोई भी उसके सुख-दुःख का भागीदार न था। पर वह दूसरों के सुख-दुख में भाग लेकर सुखी होती थी। धीरे-धीरे वह दूसरों के कष्ट, दुःख दूर करने में ही अपना जीवन बिताने लगी। उसके पास जो कुछ था, वह दूसरों में बाँटने लगी। कोई भी किसी काम को बुलाता तो वह मना न करती। सब से विचित्र बात यह थी कि उसकी जाति के लोग ही उसे पसंद नहीं करते थे। वह अपने से छोटी जाति के लोगों से मेल रखती थी। एक दिन एक चमार बुड्ढे को

बुख़ार चढ़ आया। उसकी पत्नी आकर रोयी। इस पर उसने पड़ोस के हकीम को अपने ख़र्चे पर बुलाकर दिखाया और उसका बुख़ार उतरने पर ही घर लौटी। गाँव वालों ने एक चमार के घर जाने के कारण उसे बहिष्कार की धमकी दी। साथ ही ताक़ीद की कि आगे से ऐसा काम न होने पाये। लेकिन वह सुनने वाली नहीं थी। सूरज से अगर कोई कहे कि तुम उगो मत, तो क्या वह चुप रह जाएगा? विवाह, मुहूर्त, तीज-त्यौहार, जन्म-मरण में ईरव्वा अपनी शक्ति भर ग़रीबों की मदद करती। सब की आँखें खोल देने वाली घटना थी कुटनी मालव्वा की टाँग टूट जाने जाने पर ईरव्वा का उसकी सेवा करना। मालव्वा को गाँव में कोई पास भी फटकने न देता था। उसका पति गाँव में ही किसी दूसरी औरत के साथ रहा करता था। बेटा गाँव छोड़ कर भाग गया था। वह दो दिन तक तो रोती-कलपती अकेली पड़ी रही। कोई भी उसके पास न फटका। कालप्पा का कहना था कि उस का मुँह भी नहीं देखना चाहिए। पर समझा-बुझाकर वह उसी को साथ लेकर मालव्वा के घर गयी और उसे खाना बनाकर खिलाया और उसकी बड़ी सेवा की। लेकिन इसी मालव्वा ने उसे बदनाम करने में कोई कसर न छोड़ी थी। उसने यह अफ़वाह उड़ाई कि ईरव्वा और कालप्पा की दोस्ती है। इस कारण माँ से उसने मार भी खायी थी। इसी से उसने माँ की बदचलन कह कर बात उड़ायी थी। पर माँ को उस समय कोई भी बात याद न आयी। मालव्वा जब चलने-फिरने लायक हुई, तो माँ को बड़ी खुशी हुई। उस दिन वह मुझे एक देवी सरीखी लगी।

ईरव्वा के स्वभाव में दो-तीन विचित्र बातें थीं। मैं रोटी-चावल खा-खा कर ऊब जाता था। कालप्पा के घर में कभी-कभार मुर्ग़ी या बकरी का मांस मिल जाता। उस दिन माँ मुझे आँगन में खड़ा करके दो-तीन घड़े पानी मुझ पर डाल कर मेरा शरीर पोंछती। बाद में खम्भे से बाँध देती और अगले दिन सुबह ही खोलती। वह जब खाना बनाती तब मैं दरवाज़े पर सोया रहता। घर के भीतर जब वह शिव-लिंग की पूजा करती, तब मैं दूर बैठा रहता। लेकिन जिस दिन मैं मांस खा लेता था उस दिन मुझे गले में रस्सी बँधवाकर बाहर ही पड़े रहना पड़ता था। कभी-कभी वह रात को फटाक से उठ बैठती। मेरी पीठ पर हाथ फेरती। अपनी सारी पुरानी कहानी सुनाती। उसने मुझे कुत्ता नहीं माना था, बेटा ही मानती थी। हर बात मुझसे कह कर ही तसल्ली पाती। 'सुन मल्लण्णा' कहने का अर्थ होता कि कुछ बात है। मैं पूँछ हिलाता हुआ उसके सामने बैठ जाता। तब वह कहती—मल्लण्णा, मदपति अक्कम्मा का घरवाला कल चल बसा। बेचारी लड़की पहली ही बार ससुराल आयी थी, तीन महीने भी चढ़े हैं उसे। यह कहते-कहते उसे खूब रोना आ गया। मेरी माँ के दिल का तो कहना क्या! चाहे किसी को भी दुख हो, उसकी आँखों में आँसू आ जाते।

एक और बात बताना भूल गया। मेरा नाम मल्लया रखनेवाला कालप्पा ही था। गाँव के सभी लोग मुझे इसी नाम से पुकारते थे। लेकिन मेरी माँ ने कभी मुझे इस नाम से नहीं पुकारा। वह सदा मल्लण्णा (मल्ल भैया) ही पुकारती थी।

गाँव में और भी जातियों के लोग हैं। लोगों को बदनाम करना ही उनका काम है। इधर-उधर चुग़ली खाने में ही उन्हें खुशी मिलती है। उनके लिए ईरव्बा एक क्षुद्र प्राणी है। उनका कहना था कि अच्छे काम करने के बहाने ईरव्बा अपने खोट को छिपाती है। उन लोगों को भोला नायक और रंगण्णा से मदद भी मिलती है। माँ को गाली और बदनाम करने वालों को राजनीतिक लोगों से सहायता मिलती है। बदनाम करने को ऐसी कौन-सी बात थी? छोटी जाति के लोगों के साथ रहती है, खुद छोटी ही हो गयी है। हमारी बात मानती तो जिले-भर में अच्छा नाम पाती। एक बड़ी औरत प्रसिद्ध हो जाती, यह रंगण्णा का कहना था। बड़प्पन क्या चीज़ है यह मेरी समझ में नहीं आता, पर लोग तो रंगण्णा को बड़ा आदमी कहते हैं। मगर खुद वे ही लोग कहते हैं कि वह बदमाश गुण्णा को साथ लेकर लोगों की ज़मीनें छीनता है और रिश्वत खाता है। ऐसी कई बातें कहते हैं, साथ ही उसे बड़ा आदमी भी कहते हैं।

एम० एल० ए० बनने के बाद से तो वह और भी बड़ा आदमी कहलाने लगा है। वह अब हर बात में अपने को हम कहने लगा है। हनुमान मन्दिर बनवाने में उसने सरकार से कुछ रुपयों की मंज़ूरी दिलायी है, पर मन्दिर के भीतरी कमरे की छत भी नहीं पड़ी है। लेकिन दुमंज़िले घर के ऊपर एक नया कमरा पड़ गया है। देवदासी मारक्का को बुढ़ापे की पेंशन तो दिला दी, लेकिन वह पूरे पैंतीस की भी नहीं हुई है। वह ऊपरवाला कमरा उसी के लिए बनवाया गया है। यह सब बातें उसके जिगरी दोस्त भोला नायक ने ही फैलायी हैं।

पता नहीं कैसी-कैसी कम्बख्त बातें याद आ रही हैं, पर उन्हें याद करके अब करना भी क्या है! मेरी माँ तो लौटने वाली नहीं! मुझे भी इस दुनिया से उठ ही जाना है। मैं इस वातावरण में जी नहीं सकता। आज माँ को गुज़रे चार दिन बीत गये। मेरा एक दाना भी निगलने का मन नहीं। कालप्पा बड़े प्यार से रोटी सामने रखता है, बहलाता है, पर रोटी गले से उतरती ही नहीं। कहीं भी मन को तसल्ली नहीं मिलती। खड़े होने को भी जी नहीं करता। माँ की समाधि पर लोटने से एक तरह की तसल्ली-सी होती है। समाधि को खोद कर माँ के पास लेट जाने को मन होता है, पर इतनी सारी मिट्टी हटा पाना मेरे लिए संभव नहीं। रात को समाधि पर ही पड़ा था। मैंने ऐसा सपना देखा कि माँ शिवलिंग की पूजा कर रही है और मैं पास ही बैठा हूँ। सुबह घर जाकर देखा तो रंगण्णा की करतूत का पता चला। दरवाज़े पर महिला अभिवृद्धि मंडल का नाम का एक बोर्ड लटका हुआ था। मैं बोर्ड की ओर देखकर चौंका। "कल रात ढेर-सी बोरियाँ

रख कर घर को बन्द कर दिया है और बाहर यह बोर्ड लगा डाला है"—यह कहते हुए कालप्पा ने मुझे गोद में लेकर आँसू गिराए। मेरी आँखों में भी आँसू आ गए। कालप्पा की घरवाली ने रोटी और दूध सामने ला धरा। पर मैंने उसे सूँघा भी नहीं। मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैं वहाँ से कूद कर भागा और रंगण्णा के घर के सामने खड़ा होकर भौंकने लगा। तभी कालप्पा और उसके साथ सात-आठ लोग वहाँ आये। रंगण्णा पत्थर उठाकर मुझे मारने आया। 'अगर मल्लया को कुछ हो गया तो याद रखिए एम० एल० ए० साहब, आपकी ख़ैर नहीं।' 'वह बोला—'तुम क्या क लोगे ? मैं भी देखे लेता हूँ। यह कुत्ता पागल है। किसी को काट ले तो क्या होगा ? तुम्हीं ख़ुद देख लो, कैसे भौंक रहा है ?' हाथ का पत्थर पीछे फेंककर सिर की गांधी टोपी ठीक करते हुए रंगण्णा बोला।

रंगण्णा पर मुझे कितना गुस्सा है बयान नहीं कर सकता। एक दिन खेत से लौटते हुए उसने मेरी माँ को कनखियों से देखा था। मुझे उसी दिन इतना गुस्सा आया था कि उसे काट-काट कर टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ। एक दिन हनुमान मन्दिर के चबूतरे पर रंगण्णा और भोला नायक बैठे थे। माँ वहीं पास की दुकान से कुछ ख़रीद रही थी। मै चुपचाप दबे पाँव उनके पीछे जा खड़ा हुआ। हरामज़ादे बड़ी गन्दी-गन्दी बातें कर रहे थे—"तब मैं इसका कुछ नहीं बिगाड़ सका। बच कर निकल गयी थी राँड। अब तुम इसे हथिया सकते हो। इसके साथ चाहे जो कर लो, कौन साला पूछने आयेगा। आज़माइश कर देखो! यह बात उस नीच भोला नायक ने कही। "यह काम इतना आसान नहीं, नायक। पहले एक बार चोट खा चुका हूँ। सारे बहेलिए इसके साथ हैं, तुम्हें मालूम नहीं। पहले तो उन हरामियों का ही सफ़ाया करना है। मैं किसी से डरता नहीं। ये भला क्या चीज़ ? मेरा मन अब भी उस पर लगा है। मौक़ा मिलते ही एक बार देखूँगा ज़रूर। उमर ढलने पर भी कितनी ख़ूबसूरत है, ज़रा देखो तो। इस कालप्पा का ही ज़रा डर है।" यह बात रंगण्णा के मुँह से निकली। मुझे इतना गुस्सा आया कि दोनों की गर्दन एक बार में ही चबा डालूँ। तब तक माँ घर की ओर चल पड़ी थी। मैं भी चला आया। परसों जिस दिन माँ मरी, मैं उस हरामी को काट ही खाने को था। वह तो कालप्पा ने छुड़ा दिया। मैंने माँ की लाश के पास किसी को फटकने नहीं दिया। फिर भी रंगण्णा ने आकर मुझे एक डण्डे से मारा। मार लगते ही मैं उसकी ओर उछला। कालप्पा मुझे पकड़ कर खींच ले गया। माँ को नहला कर सजा कर आँगन में रखा गया। तब रंगण्णा भाषण देने खड़ा हुआ। हज़ारों लोग इकट्ठे हुए थे। ऐसा ईमानदार की तरह बोले जा रहा था—ईरब्बा बड़ी बहादुर स्त्री थी, उसमें अपने पति संगप्पा से भी अधिक बहादुरी थी। ऐसे लोगों के कारण ही स्वतंत्रता मिली। लेकिन वह कोई भी सम्मान स्वीकार करने को तैयार नहीं हुई। सरकारी सहायता भी उसने ठुकरा दी। उसके त्याग का

तो कहना ही क्या ! जब तक जी, उसने मेहनत करके ही खाया । इसके बाद उसने अपना बखान किया । उसने बताया कि उसने गाँव में स्कूल बनवाया है, तालाब बनवाया है, बिजली लगवायी है । मैं अपने को रोक न सका, कालप्पा से छूट कर उसकी ओर उछला । उसकी गर्दन पकड़ ही लेना चाहता था कि वह पीछे हट गया । वहीं पर ओखली थी, उसमें पाँव पड़ जाने से पलट कर गिर पड़ा । लोगों ने मुझे पकड़ लिया । उसकी कमर और पीठ पर खासी चोट लगी । बाद में उस दुष्ट भोला नायक ने भाषण देना चाहा, पर लोग सुनने को तैयार न हुए ।

माँ के मरने की खबर सुन कर आस-पास के कई गाँवों के लोग इकट्ठे हो गये थे । बाजे वालों और भजनीकों को किसी ने बुलाया नहीं था, वे स्वयं आये थे । रात-भर भजन चलता रहा । सुबह विमान तैयार हुआ था । कितना सुन्दर विमान मठपति स्वामी ने स्वयं आकर संस्कार किया था । माँ का कोई सगा-सम्बन्धी न था । पर इकट्ठे होने वाले सगों से भी ज्यादा थे । सब की आँखों में आँसू थे । माँ को उसी के खेत में ले जाकर दफ़ना दिया गया । सब लोग तो अपने-अपने घर चले गये, लेकिन मैं कहाँ जाता ! कालप्पा ने लाख खींचा, पुचकारा, पर मैं नहीं गया । माँ की समाधि के सामने ही बैठा रहा ।

दूसरे दिन कालप्पा आकर मुझे ले गया । मुझे अन्न-जल की इच्छा न थी । शाम होते ही मैं माँ की समाधि की ओर भागा । सारी रात रोता रहा । सुबह कालप्पा आकर घर ले गया । पति-पत्नी ने मिलकर खिलाने की कोशिश की, पर मैंने खाया नहीं । वे भी बिना खाये ही सो गये । रंगण्णा कितना दुष्ट है, सुना है, ईरव्वा का शिवलिंग विग्रह स्वामीजी से वापस ले लिया । उसका कोई सगा-सम्बन्धी नहीं है । वह विग्रह पंचायत का होना चाहिए था । उसने एक और बात उड़ायी है कि ईरव्वा ने अपनी दो एकड़ धरती अनाथ लड़कियों के उद्धार के लिए लिख दी है । पता नहीं, ईरव्वा ने कब लिखी थी । यह बात कालप्पा ने अपनी पत्नी से कही । तब वह बोली—"एक और खबर है, तुम्हें मालूम नहीं ? श्मशान से लौटने तक उसने घर का सारा सामान एक संदूक में भर ताला लगा दिया था । एक-दो तोले चाँदी की चीजें थीं । थालियाँ आदि भी थीं । सब हड़प जाएगा ।"

मुझे बहुत बुरा लगा । माँ की मरने लायक उमर नहीं थी । बस चार-पाँच दिन बुखार चढ़ा था । कमजोर हो गयी थी । उस दिन दोपहार कालप्पा उससे बात करके खेत पर गया । माँ एक-दो बार उठी और छाती पकड़ कर लेट गयी । उसे सो गयी समझकर मैं बाहर बैठा रहा । शाम को कालप्पा ने आकर देखा । माँ चली गयी थी । बिना कुछ कहे, बिना कुछ सुने, माँ चली गयी थी !

मुझे अब कहीं भी शांति नहीं । भौंकता हुआ इधर-उधर भागता रहता हूँ । 'मल्लया पागल हो गया है । पंचों से कहकर इसे मरवा डालना चाहिए'—रंगण्णा के मुँह से निकली यह बात मेरे कान में पड़ी । मैं पागल नहीं हुआ । माँ के मरने

से ऐसा हो गया हूँ। अगर मैं सचमुच में पागल हो जाता तो कितना अच्छा होता। किसी प्रकार मैं रंगण्णा को काट लेता। ऐसे खराब लोगों को जिन्दा नहीं रहना चाहिए। उसके घर के सभी लोगों को काट खाता। लेकिन माँ को यह बात पसन्द नहीं थी। माँ-जैसे लोगों को जीना हो तो रंगण्णा-जैसे लोगों को मर जाना चाहिए, मेरा यही विचार है।

रंगण्णा

मुझे सलाम करने वाले ही मेरी पीठ-पीछे मेरा मज़ाक उड़ाते हैं। विचित्र लोग हैं। इनके कोई नीति-नियम नहीं जो मेरी निन्दा करते हैं। वे ही अपने काम की खातिर मेरे पाँव पड़ते हैं। जब मैं उनका काम निकाल देता हूँ तो वे कुछ-न-कुछ मुझे देते हैं। उसे लेने से इंकार करने में कोई अर्थ है? मैं क्या उनके घर गया था? मेरा घर कोई मठ है? भगवान भी भेंट लिए बिना कोई वर नहीं देता। कुछ देवता तो बकरी, भैंस यहाँ तक कि मानव की बलि लेते हैं। मैं तो कोई ऐसा काम नहीं करता। इसके अलावा मैं पत्रिका में विज्ञापन छपवाता हूँ कि आइये, मैं आपका काम कराता हूँ। मुझे उन कम्बख़्तों पर बड़ा गुस्सा आता है। मन कहता है 'मरने दो' कहकर चुपचाप रह जाओ। ये कृतघ्न लोग कहते हैं, उसका काम यूँ ही मुफ़्त में कर दिया? रिश्वत खाकर किया है। फिर भी मुझे उन पर दया आती है। मैं किसी का कष्ट नहीं देख सकता। मैंने इस गाँव के लिए भला क्या-क्या नहीं किया, पर कृतघ्न लोग कृतघ्न ही होते हैं। ये मूर्ख हैं, कुछ जानते नहीं। ये लोग मुझे देशद्रोही, डरपोक, अवसरवादी और भ्रष्ट भी कहते हैं।

यह सच है कि भोला नायक और रजाकारों के उत्पात से डरकर मैं गाँव छोड़कर भाग गया था। पहले ही अपनी पत्नी, बेटे, माँ और पैसा मैंने दूसरी जगह भेज दिया था। इसमें ग़लती क्या है? यदि मैं ऐसा न करता तो सब-कुछ रज़ाकारों के हाथ नहीं लग जाता? इसी प्रकार कितने लोग नष्ट नहीं हुए? आज भी कइयों की दशा ठीक नहीं। संगप्पा गया तो लोगों ने कहा—लड़ने के लिए गया। मैं गया तो उड़ा दिया कि भाग गया। लोग भी कैसे मूर्ख होते हैं। हम दोनों ने स्वामी दयानन्द तीर्थ के यहाँ शपथ ली थी कि लड़ेंगे। इसमें क्या अपराध हो गया?

मेरी तरह संगप्पा ने होशियारी नहीं बरती, इसीलिए ईरब्बा की दशा ऐसी हुई। और कुछ दिन होते तो उसका शील भी न बच पाता। मुझे मानसिक दुःख हुआ। इसके अतिरिक्त भोला नायक के अत्याचार से निगण्णा होश में न आ पाया। उसे कितना कष्ट दिया गया। आख़िर वह मर ही गया।

सीमा प्रदेश के निकटवर्ती दो-तीन शिविरों में मैंने काम किया। पर संगप्पा की तरह का मूर्खता का काम मुझसे नहीं हो सका। जान गँवा देने से भला क्या

मिलता है ? जिन्दा रहे तो कुछ-न-कुछ मिलता ही है। मेरा सिद्धान्त यही है। अज्ञानवश या भावुकता में आकर जान गँवा देना मूर्खता ही है। जो लोग मेरा सिद्धान्त नहीं मानते वे भले ही न करें। नदी पार करके डाकखाने जला देना, तहसील-कचहरी में आग लगा देना, रज़ाकारों के शिविरों पर बम फेंकना, सरकारी इमारतों पर तिरंगा फहराना यह काम लोग उन दिनों किया करते थे। मेरे यह पूछने पर इन सबसे क्या होगा, वे लोग मुझे सन्देह की नजर से देखते थे। स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते समय उन्होंने मुझे यह सब करना चाहिए नहीं कहा था। ऐसा होता तो मैं रामानन्द तीर्थ के सामने शपथ नहीं लेता। तुंगभद्रा के उस पार रज़ाकार और निज़ाम के सैनिक थे। इस तरफ यानी तुंगभद्रा के इधर वाली तरफ़ भारत सरकार की सेना थी। इस सेना का निज़ाम की सेना को हराना न्यायसंगत था। हमारे जैसे लोगों के डाकख़ाने जलाने से स्वतन्त्रता कभी मिलने वाली नहीं थी। उससे तो केवल मृत्यु ही मिलती है। एक तरह से सत्याग्रह करके जेल जाना ही ठीक था। बहुत से लोगों ने ऐसा ही किया। वहाँ प्राणों का भय नहीं था। मेरे इन विचारों को सुनकर संगप्पा और उसके साथियों ने मुझे देशद्रोही कहा। मैं वहाँ से खिसक लिया और छिपते-छिपाते गदुग गया। वहाँ से शोलापुर पहुँचा। वहाँ निज़ाम के राज्य से आये शरणार्थियों के लिए खाने-पीने की व्यवस्था थी। मैं वहाँ ठहरा। भारत सरकार की सेना ने निज़ाम को हरा दिया। मैंने कुछ दिन और प्रतीक्षा की। वहाँ कचरू आया। मेरा घर लुट गया, कहकर वह खूब चन्दा इकट्ठा करके लाया था। उसने मुझे भी अमीरों से चन्दा इकट्ठा करने की सलाह दी।

मैं गुलबर्गा पहुँचा। जेल से छूटकर आनेवालों, सीमा प्रान्त के शिविर आने वालों, स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने वालों का लोग वार दशप्रमा कहकर जुलूस निकालते और सम्मान करते। मुझे भी ऐसा सम्मान पाने की इच्छा हुई। मैंने अपने मुँह से कहा मैं अनेक शिविरों में रहा हूँ। नदी पार करके डाकखाने जला चुका हूँ, आदि-आदि। मैं लोगों की नज़रों में हीरो बन गया। मेरा नेताओं की भाँति सम्मान किया गया। सम्मान करने वालों का अगुआ भोला नायक था। उन लोगों ने संगप्पा और ईरव्वा के बारे में पूछा। मुझे सच्चाई मालूम थी, पर मैंने कह दिया—उन लोगों को लड़ना नहीं आता था। संगप्पा ने अपनी मूर्खता से प्राण गँवा दिए। ईरव्वा अब अदवानी के पास कहीं रहती है। उसका चरित्र भी अच्छा नहीं है। मेरे इस कथन के कारण ही जब वह अपने देवर सहित घर लौटी तो उससे लोगों ने बात तक न की। केवल कालप्पा ने आश्रय दिया। वह भी बदनाम हो गया। उसमें भी मेरा हाथ था। मैंने ही कहा था—इसका मंशा ठीक नहीं, पता नही, कब यह मेरे गले पड़ जाये।

बाद में पता चला कि स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने वालों को सरकार बहुत

कुछ दे रही है। मैंने दो-चार चेले-चाँटे इकट्ठे किए। भोला नायक ही अगुआ बना। मेरी बड़ी प्रशंसा होने लगी। हम सब कांग्रेस में मिल गये। रज़ाकार भी पक्के कांग्रेसी बन गये। मैंने भी कांग्रेसियों के हथकण्डे सीख लिये। खूब नाम और दाम कमाया। बड़ा लीडर बन गया।

भोला नायक के साथ रहने के कारण लोग मुझसे नाराज़ रहने लगे। सदा किसी से द्वेष रखने से क्या लाभ ? मैंने उस पर चले कई केस खारिज कराए। इसमें ग़लती क्या थी ? कुछ लोगों ने उसके बारे में कहा कि उसकी नजर मेरी पत्नी पर थी। पर दुनिया में सच्चा कौन है। लोग गांधी जी के साथ भी लड़कियाँ जोड़ देते हैं। हमारे देवताओं के बारे में ऐसी ही बातें बतायी जाती हैं। वे तो धोखा देने में प्रसिद्ध हैं। तब मानव का क्या होगा ? ईरब्बा पर मेरा मन अब भी था। उसे हथियाने में मेरे साथ भोला नायक की सहायता थी ही। बसवी भारक्का को गुरुलिगप्पा से छुड़ाकर उसने कितनी आसानी से मेरी बगल में सोने भेज दिया। उसे बुढ़ापे की पेंशन दिलाने के सिलसिले में कितनी आसानी से पैसे मेरी जेब में आ गिरे। 'अपनी कोठी में एक कमरा बनवा दूँगा'—कहकर मैंने उसे कितनी आसानी से अपनी तरफ़ कर लिया। दूसरों से कमायी उसकी धन-दौलत मेरी झोली में आ गिरी। इस सब में भोला नायक की सहायता ही तो थी। भला मैं उसे कैसे छोड़ देता ? मैंने तालाब के जीर्णोद्धार का ठेका भी उसी को दिलाया। उससे भी मुझे एक लाख के क़रीब-क़रीब पैसा मिला। ऐसे ही बहुत-से मामले थे।

रामानन्द तीर्थ जैसे लोगों के भाषण सुनकर ही मैं भी संघर्ष में कूदा था। इसमें संदेह नहीं कि तब मुझे ऐसा लगता था कि स्वतन्त्रता के सामने प्राणों की कोई कीमत नहीं। पर जब रज़ाकारों के डर से तुंगभद्रा के पार गया तब मुफ़्त में प्राण खोने को मन न हुआ। संघर्ष में बहुत से लोग मारे गये। लेकिन कुछ छोटे-मोटे नेता लोग भी उभरकर आये। उन लोगों ने ग़रीबों को लूट-खसोटकर खूब पैसे बनाए। कांग्रेस से मिलकर सरकारी सहायता प्राप्त की। उनमें कुछ अधिकारी बने और कुछ एम० एल० ए० और एम० पी०। मैंने भी उन्हीं का अनुसरण किया। लोग चिल्लाते हैं तो चिल्लाने दो।

लेकिन मैंने अपने गाँव के लिए कोई कमी नहीं रखी। स्कूल की इमारत बनवायी, डाकखाना मंज़ूर कराया। ईश्वर की मूर्ति पर कुत्ता मूतता था। मन्दिर ठीक कराया। हनुमान मन्दिर का भी जीर्णोद्धार कराया। मस्जिद को भी पैसा दिलाया। चाहे जो भी करूँ, लोग कहते हैं कि पैसा खाता है। इस देश में कौन है जो नहीं खाता ? ऐसा अगर कोई है तो मूर्ख ही है। ऐसे लोग दाने-दाने को मोहताज रहते हैं। उनके बारे में यानी ग़रीबों के लिए हमारे मन में करुणा है ही। ग़रीबी-उन्मूलन के बारे में बहुत-सी बातें सुनायी पड़ती हैं, पर मैं एक

सच्ची बात कहूँ ! ग़रीबों के लिए आँसू बहाने वाले और भाषण देने वाले अमीर ही होते हैं । भाषण देकर लोग अपना पेट पालते हैं । यह संस्कृति खूब फल-फूल रही है । इसे क्या नाम दिया जाये ? ऐसी संस्कृति के विकास की योजनाएँ ही हमारे बड़े-बड़े नेता बनाते रहते हैं ।

ईरव्बा के गाँव लौटने पर उससे बात करने में भी नाक-भौंह चढ़ाने वाले लोग कुछ ही दिनों में उसका गुणगान करने लगे । वह कहती—"मुझे सरकारी पेंशन की ज़रूरत नहीं । मैं मज़दूरी करके खा सकती हूँ ।" यह देखकर लोगों ने उसे सिर-माथे पर रखा । उसे पंचायत का चेयरमैन बनाना चाहा, एम०एल०ए० का टिकट दिलाना चाहा । मैंने उनको तोड़ा । उन्हीं में से एक को चेयरमैन बना दिया । इससे मुझे एम०एल०ए० बनने में आसानी रही । पार्टी के लिए एक फण्ड मिला । उसमें से एक नया पैसा भी खर्च नहीं हुआ । मैं और मेरे साथी इतने बल-शाली हो उठे कि किसी को उँगली उठाने का साहस न रहा । हमारा सारा खर्च ताल्लुक के अमीर ही उठाने लगे । मैं एम०एल०ए० तो बन गया, अब मन्त्री बनना है । वह काम भी जारी है ।

ईरव्बा का स्वास्थ्य ठीक नहीं । मुझसे उसकी सहायता करने की बात लोग कहते हैं । मैंने उन्हें उसकी सारी पुरानी कहानी बतायी । लोग अब उस पर दया नहीं करते । अब हमारी बनायी नयी संस्कृति में करुणा के लिए कोई जगह नहीं । एक दरिद्र प्राणी से देश मुक्त होता है । फिर भी हम बहुत ही लच्छेदार बातें करते हैं, जिन पर दिल पिघल जाता है ।

कहते हैं मंगप्पा देश के लिए मरा । पर कौन जाने ? थोड़ी देर को मान लें कि वह देश के लिए मरा, पर उससे क्या हुआ ? ऐसे कितने लोग मरे होंगे ? ऐसे सब मरनेवालों की पत्नियों की मदद करने चले, तो देश का खजाना खाली हो जाएगा । फिर भी हमारी सरकार उन्हें पेंशन देती है । ग़रीबों के लिए घर बनवाती है, बिजली लगवाती है, बुढ़ापे की पेंशन देती है । मासिक वृत्ति भी देती है, सम्मानार्थ पैसा देती है । सारा ख़ज़ाना इन लोगों से खाली हो चला है । अगली योजनाओं के लिए पैसा ही नहीं बचा । जिस पर भी मुखिया लोग पैसे खा जाते हैं, लोगों के यह कहने पर, उनका मुँह कैसे बन्द कर सकते हैं ।

अच्छा ही हुआ, ईरव्बा मर गयी । उसे जीकर करना भी क्या था ? मरे हुए के बारे में अच्छी बातें कहना संस्कृति का लक्षण है । मैंने उसकी और उसके पति की बड़ी प्रशंसा की ।

ईरव्बा के साथ उसका कुत्ता भी मर जाता तो अच्छा था । कम्बख़्त कहीं का ! मुझे देखते ही गुर्राता है, काट खाने को आता है । मैंने पंचायत से कहा था कि वह पागल हो गया है, यह ख़बर उड़ाकर उसे मरवा डालें । मैंने कालप्पा को भी ताक़ीद की है कि वह इस झमेले में न पड़े ।

आज डाक आयी है । ईरव्बा की पेंशन आयी है । मेरी मार्फ़त हर मास

मनीआर्डर आयेगा, वह उसे ले या न ले। वह तो मर गयी। उसके मरने की बात पता नहीं किसी ने सरकार में कही या नहीं। उनकी पेंशन की बात सिर्फ़ भोला नायक जानता है। किसी से दस्तख़त कराकर अर्ज़ी देने वाला वही था। वह तो मुँह नहीं खोलेगा। क्योंकि अब भी उस पर पुराने कई केस हैं। डाकिया तो अपना आदमी है, आता पैसा क्यों छोड़ा जाये? चाहे वह जिन्दा का हो या मरे का।

(अनु०—बी० आर० नारायण)

कश्मीरी

• अमीन कामिल

• रतनलाल शान्त

(अनुवादक—हरिकृष्ण कौल, राजकुमारी राज़दान)

दुधारू गाय

□

अमीन कामिल

मृत गाय को गुहाल से बाहर निकालते चमार भी दुख प्रकट कर रहे थे कि किसी का पाप ही इस बड़भागी गाय को खा गया। उधर आज़िम दीदी का मुँह लटक गया था और वह भीतर ही भीतर अपने अभागे ललाट को कोसती, बिलख रही थी। इस समय उसे बरसों पहले का वह दिन याद आ रहा था जब उसने नादिरा से कहा था—"बेटी, तक़दीर से ही घर में गाय आती है।" आज उसकी यही तक़दीर फूट गयी थी। तिस पर बिस्तर पर पड़ी बेटी ज़िन्दगी और मौत के बीच झूलती अल्लाह जाने कितने और किन-किन पलों का इन्तज़ार कर रही थी।

यह गाय आज़िम दीदी ने जुम्मा ग्वाले से उसी दिन ख़रीदी थी जिस दिन नादिरा को पहला वेतन मिला था। वेतन वही था जो उस ज़माने में अध्यापकों को मिलता था, बीस रुपये महीना। जिस दिन नादिरा ख़ुदा के फ़ज़ल से दसवीं पास करके मास्टरनी नियुक्त हुई थी, सारा गाँव भौचक रह गया था। इस एक गाँव में ही नहीं, आस-पास के गाँवों में भी खबर तुरही की तरह गूँजी थी कि आज़िमी की बेटी मास्टरनी बन गई—हर महीने बीस रुपये ! इसे ही कहते हैं भाग्य पलटना। ससुरी का सारा दरिद्दर अब दूर हो जायेगा और उमर भर फैली जिल्लत की फफूंदी एक झटके में झड़ जायेगी। बीस रुपये ! बीस रुपये नहीं, बीस खरवार[1] धान कहो ! और यह कहते-कहते किसानों को अपने कोठार याद आते थे जिनमें वे साल भर खून-पसीना बहाकर भी आठ-दस खरवार से अधिक जमा नहीं कर पाते थे। लेकिन बुढ़िया की मिर्च भी मिसरी में बदल गई थी। सचमुच ख़ुदा जब देता है तो छप्पर फाड़कर देता है।

---

1. अनाज तौलने का कश्मीरी माप, दो मन से कुछ अधिक।

जिस समय नादिरा ने अपना पहला वेतन माँ की हथेली पर रखा था, आज़म प्रत्येक नोट को उलट-पलटकर देखने लगी थी। उसे हर नोट पर विलायत के बादशाह के बदले नादिरा की तस्वीर नजर आयी थी। उसने सोचा था कि इन नोटों पर नादिरा को छोड़ और किसी की छाप हो भी कैसे सकती है? छाप कमाने वाले की ही पड़ती है। बादशाह का तो बस कोरा काग़ज़ होता है।

गाय के सींग नहीं थे। कहते हैं, ऐसी गाय में जो ताक़त सींग उगने में चली जाती, वह भी दूध देने में लग जाती है। और फिर यह बेचारी सचमुच गौ थी, सीधी थी। दूसरी गाय होती तो आज़िमी को पास फटकने तक नहीं देती। मगर इसे कितना ही जोर लगाकर क्यों न दुहा जाता, इसे कितनी ही तकलीफ़ क्यों न होती, मजाल है कभी नाक से फूं करती या देह झटकती। दाम उस समय के हिसाब से कुछ अधिक था—बिना बछड़े की गाय के तीस रुपये। तीस रुपयों में से आज़िमी ने जुम्मा ग्वाले को दस रुपये उसी समय नक़द दिये थे। शेष रकम दस-दस करके दो महीने में चुका देने के लिए दस्तगीर की क़सम खाई थी। ग्वाला उसकी हर महीने बीस रुपये की आमदनी से वाक़िफ़ था। इसीलिए उसने आज़िमी पर भरोसा कर लिया। वरना उसे न अपने बाप, और न ही उसके एक हाथ को दूसरे हाथ पर तनिक भी भरोसा था।

सारी उमर कड़वी चाय पीकर आज़िमी की चमड़ी तक कड़वा गयी थी। मगर अब इस गाय की बरकत से दूध वाली नमकीन गुलाबी चाय पीते-पीते उसकी आँखों के गुलाब खिल उठे थे। और गाय? वह बेचारी दुहने के समय बछड़ा पास न होने से पास रखी नमक की सिल को चाटती जाती थी।

बीस रुपये महीने की कमाई आज़िमी के जीवन में अजीब-सा उबाल लायी। वह अपनी नष्टप्राय घर-गृहस्थी सुधारने लगी। मिट्टी की प्यालियों-हाँडियों की जगह अलमूनियम के बरतनों ने ली। घर में ओढ़ना-बिछौना आ गया, नये कपड़े-लत्ते बन गये—अर्थात् घर चमकने और दमकने लगा और घर की मालकिन आज़िमी से आज़िम दीदी बन गयी।

"क्यों आज़िम दीदी! कहाँ से आ रही हो?" कोई वैसे ही पूछ लेता।

"अरे बेटे, और कहाँ से? ख़ुदा रहम करे रमजू पर, बस उसे ही भात का कटोरा पहुँचाकर लौट रही हूँ।"

रमजू आज़िम दीदी का बेटा था— नादिरा से छोटा। इससे पहले वह दूसरों के ढोर चराता था। लेकिन जब से बहिन मास्टरनी बनी थी, वह सिर्फ़ अपनी गाय को चराने ले जाता था। ख़ुदा ने बेचारे पर रहम ही किया था। पहले दूसरों के ढोर चराते खुद डर और परेशानी से चूज़ा बन गया था। क्या जाने कब कौन-सी गाय का कौन-सा बछड़ा किसके खेत में घुस जाये। मगर अपनी यह गाय तो लाखों में एक थी। जहाँ खड़ी कर दो, वहीं खड़ी चरती रहती थी।

इधर-उधर मुँह मारने को मन ललकता ही नहीं था। और यदि ललकता भी तो जाने क्या सोचकर उसे रोकती और चुपचाप दूब-कतवार चरती-चबाती।

दिन बीतते गये और नादिरा के साथ-साथ रमजू की आयु और तीन साल बढ़ गयी। उस ज़माने में लड़के की लुगाई लाने के लिए यही उमर ठीक समझी जाती थी। आज़िम दीदी के मन में बहू ले आने की लालसा ने अँगड़ाई ली। और कुछ न सही, पाव-भर भात पकाकर तो देगी ही। फिर बोलने-बतियाने के लिए भी घर में एक खुदा की बन्दी साथ रहेगी। नादिरा का खुदा भला करे, वह तो दिन-भर मदरसे में रहती है। अब यह चौका-चूल्हा नहीं सँभाला जाता। खुदा ने दिया तो इन बूढ़ी हड्डियों को भी राहत क्यों न दूँ। यही सोचकर एक दिन आज़िम दीदी ने नादिरा से कहा—"सुन बेटी, अब रमजू का कहीं कोई चारा कर ही लेना चाहिए ताकि मैं भी बुढ़ापे के बाक़ी दिन ज़रा आराम से काट सकूँ। तुम उसकी बड़ी बहिन हो, तुम उसका हित नही सोचोगी तो फिर कौन सोचेगा ?"

"माँ, तुम्हारी बात काटने वाली मैं कौन होती हूँ ? ढूँढ़ लो कोई लड़की, और कर डालो रमजू का ब्याह।" नादिरा ने उत्तर दिया।

आज़िम दीदी ने ढूँढ़ा और उसे एक मनपसन्द लड़की मिल ही गयी। बात चलायी तो लड़की वालों ने रमजू को नहीं, बल्कि घर की खुशहाली को देखकर, तुरन्त हाँ कर दी। लड़की को शादी के बाद बिना किसी चिन्ता के दो जून भर-पेट भात मिलेगा, लड़की वालों के लिए इससे बढ़कर और क्या खुशी हो सकती है ? आज़िम दीदी की खुशक़िस्मती से जिस दिन रमजू की शादी हुई, उसी दिन गाय ने भी एक नन्ही सुकुमार और तेल की बूंद जैसी चिकनी बछिया जनी। कौन कहता है कि जानवर अनजान और अबोध होता है ? न उसे बीते दिन का पछतावा होता है और न ही उसे अगले दिन की चिन्ता। मगर यह गाय जाने क्या जानकर अपनी बछिया को टुकर-टुकर देखती रहती थी। अपनी दुहिता को देखकर शायद उसे अपना बचपन याद आता था। शायद सोचती थी कि इस संसार में सारा प्यार और लगाव लालच पर ही टिका है। दूध के लालच के बिना किसने बाँझ गाय के आगे घास डाली है ?

आज़िम दीदी की जान सचमुच अपनी इसी गाय में बसी थी। शाम को जब यह घास चरकर लौटती थी तो आज़िम दीदी गले से लगकर उसकी बलाएँ लेती। उसके जिस्म को प्यार से खुजलाती और सहलाती। गोबर के दाग़ तक शरीर पर न रहने देती। गाय तो पहले से ही थी, अब यह बछिया भी आज़िम दीदी की सहेली बन गयी। दोनों की देखभाल में आज़िम दीदी के अकेलेपन के दिन अपने आप कट रहे थे। बछिया भी उससे बहुत हिल-मिल गयी थी। क्यों न हो, आजिम दीदी कभी उसे कच्चा अण्डा खिलाती और कभी नमक डालकर

माँड़ पिलाती और खिलाते-पिलाते कहा करती—"खाओ, पियो, मौज करो ! अभी मासूम हो। अभी तुम्हारे खाने-पीने के दिन हैं।"

नादिरा को देखकर बहुतों का मन डोला था। किसी-किसी ने खुद जाकर उसकी माँ के आगे दामन फैलाया था। मगर आजिम दीदी किसी के जाल में नहीं फँसी। वह जानती थी कि सब झूठे और मतलबी हैं। उन्हें नादिरा से नहीं, नादिरा की कमाई से मतलब है। अरे, बैल को अपने सींग थोड़े ही भारी लगते हैं जो मैं अपनी बच्ची को बोझ समझकर दूर फेंक दूँ। वह सभी को एक ही जवाब देती थी—

"वह घर क्या मेरी बेटी के योग्य है ? नहीं, यह बात नहीं बनेगी। मेरी बेटी दसवीं पास है, कमाऊ है।"

नादिरा चुपचाप सब-कुछ देखती रही, सुनती रही, पर कभी भी मुँह से कोई बात नहीं निकाली। हालाँकि एक-दो बार माँ का हरएक को एक ही टका-सा जवाब देना उसे बहुत अखरा था। खासकर जब पड़ोसी गाँव के एक अध्यापक ने अनेक बिचौलिए-सँदेसिए भेजे। इस अध्यापक से नादिरा परिचित थी और जाने कैसे उसके साथ उसका मन भी मिल गया था। मगर आजिम दीदी ने उसे भी वही कोरा जवाब दिया था—"मैं बेटी को घर से दस कोस दूर कैसे ब्याह दूँ ? अरे, तब तो उसे देखने को मेरी आँखें तरसेंगी, हृदय फट जायेगा। ना बाबा, ना। यह नहीं हो सकता।"

और उस दिन से नादिरा की नींद मर गयी और चेहरे पर झुर्रियों ने जन्म ले लिया।

बछिया जो कल तक लड़खड़ाती टाँगों से दो-चार डग ही चल पाती थी, देखते-देखते जवान हो गयी। वह अब अपने से बड़ी गायों से भी सींग लड़ाने लगी। एक-दो बार तो आजिम दीदी पर भी हमला करने दौड़ी। मगर उसकी माँ, जिसने आजिम दीदी के सैकड़ों मटके दूध से भरे थे, दिनों-दिन कमज़ोर होती जाती थी। उसकी पसलियाँ दिखाई देने लगी थीं। चमड़ी के भीतर से रान की हड्डियों ने सिर निकाला था। चलती तो लगता था कि बेचारी की टाँगें भी टेढ़ी हो गई हैं।

नादिरा स्वभाव से ही भोली और अबोली थी। अपने दिन स्कूल में गुज़ारती और अपना वेतन हर महीने माँ की हथेली पर रखती। उसने दिन-ब-दिन बढ़ती अपनी कमज़ोरी की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। मगर बीमारी कब तक छिपी रहती। जब उसकी आँखों के गिर्द काले घेरे पड़ गये, मुख मुरझा गया, कँपकँपी और बुख़ार से शरीर टूटने लगा तो घर वाले उसे हकीम के पास ले गए। मगर हकीम के पास बीमारी का इलाज काढ़ा होता है, मौत का इलाज अमृत नहीं। नादिरा की बीमारी बढ़ती गयी। इधर आजिम दीदी पर भी एक के बाद एक

मुसीबत पड़ने लगी। गाय भी बीमार हो गयी। अज़ीम दीदी ने उसे जुम्मा ग्वाले को दिखाया। ग्वाले ने अपनी ओर से बहुत इलाज किया, मगर सब बेसूद। बेचारी दर्द से तड़पती रही। गर्दन लम्बी होकर जैसे टूट गयी। थूथनी टेढ़ी हो गयी। एक दिन गले से 'गो-गो' आवाज़ निकली, मुँह से झाग बहा और बेचारी ठण्डी हो गयी।

आजिम दीदी अपने अभागे ललाट को कोसती बिलख रही थी और उधर मृत गाय को गुहाल से बाहर निकालते चमार दुख प्रकट कर रहे थे कि किसी का पाप ही इस बडभागी गाय को खा गया।

(अनु०—हरिकृष्ण कौल)

और एक दिन



रतनलाल शान्त

गोपी कृष्ण बस की खिड़की से देख रहा था—दूर धान के खेतों के उस पार, बेद के पेड़ों के पार, पठारों के पार, पहाड़ियों के उस पार। बेद, पीछे भागते खेतों के मुक़ाबले में आगे दौड़ रहे थे, उनके पार के पठार पीछे सरक रहे थे और सरकते पठारों के मुक़ाबले में पहाड़ियाँ बस के साथ-साथ जैसे आगे दौड़ रही थीं। आज तक उसने इन भागते-सरकते पहाड़ों को ध्यान से देखा नहीं था, जो वस्तुतः शताब्दियों से वहीं जमे बैठे हैं।

"और जोर लगाओ। पहाड़ को हिलाओ!"

वह अचानक कह उठा। फिर खुद पर हँसी आई। ग़ज़ल के शेर ऐसे ही होंगे। बस शब्द जुटने की देर होती है, अर्थ खुद ही निकलते होंगे। लेकिन पहाड़ का हिलना मुमकिन है, दिन कटना आसान नहीं।

"आज का दिन यों काट लेंगे कि ज़रा भी पता न चले। तू किस चिन्ता में पड़ा है रे। यह तो वादा नहीं।"—कहने वाले ने उसके कन्धे को ज़ोर से थपथपाया। उसने मुड़कर देखा। मुहीउद्दीन पिछली सीट पर बैठा सिगरेट बढ़ा रहा था।

"ले! आज बहाना नहीं चलेगा।"

मैं जोर से बोल रहा था क्या? या फिर इसने मेरा चेहरा पढ़ लिया? वह सोच में पड़ा। सिगरेट जलाई। एक कश खींचा। बहुत दिनों बाद पीने से खाँसी आई।

बस में बैठे सब लोग जैसे इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने व्यंग्य करना शुरू किया। मुहीउद्दीन ने हेडक्लर्क क़ाद साहब से, जो फ्रंट सीट पर बैठा हुक्का पी रहा था, कहा—

"मैं ठीक कह रहा था ना? खाँसकर गोपीकृष्ण धुंआ उगलता है। पर बू का क्या कर सकता है? भाभी उसकी साक्षी होगी।

आज की तारीख और समय के तुम गवाह हो कि मुहीउद्दीन ने गोपीकृष्ण को सिगरेट पिलाया, ताकि सनद रहे…।"

बस में हंसी के फव्वारे फूट पड़े।

क़ाद साहब ने वहीं से आवाज़ लगायी—

"रहने भी दो दीना। तुम क्या सोच रहे हो कि आज सिगरेट पीकर गोपी फिर शुरू करेगा, फिर पैसा फूंकेगा, फिर किसी दिन इसे बीवी झपट लेगी और तुम्हारी बाछें खिलेंगी…बहुत दूर की सोच रहे हो। अबे गधे ! पहली तारीख को बीवी मर्द का चेहरा देखकर ही जान लेती है कि यह बटुए को कितना हल्का करके घर आया है…।"

कैशियर नियाज़ अहमद बोल उठा—

"तुम लोगों ने गोपीकृष्ण को बेकार ही बदनाम किया है। खुद नहीं पीता, पर पिछली फ़र्स्ट को मुझे पूरी डिबिया पीने को दी।"

रिकार्ड-कीपर चुन्नीलाल ने छेड़ा—

"दी नहीं, यों कहो कि तूने ज़बर्दस्ती ली। तब तुझे याद रहा, पर हम जो ठूंस-ठूंस के तेरा पेट फाड़ते हैं वह ?"

अब काद साहब ने इनको डाँटा—

"यह क्या टंटा ले बैठे ओय बेअक्लो, आज भी दफ़्तर नहीं छूटेगा ?"

बात का रुख़ बदल गया और शोर ज़रा कम हुआ।

गोपीकृष्ण का तो जैसे दम घुट रहा था—ये लोग मेरे पीछे मेरी ही बात किया करते हैं, मेरी तनख़्वाह के पैसो की, मेरे घर के लोगो की ?…

उसकी भौहे तनने लगी। उसने लम्बी सांस छोड़ी और उसी के साथ धुएँ का एक गोला भी।—घरों में सबके धंधा फंद होते है पर मेरे ही क़िस्से दफ़्तर में सुनाए जाते हैं। मेरा व्यवहार विचित्र है क्या ?

मुहीउद्दीन ने पीछे से फिर हाथ मारा—

"लौट आओ यार। आज घर में नहीं हो जो खोए-खोए रहो।…देखो, आज का दिन हमारा है। आज के दिन तुम हमारे हो। लो, पी लो एक और सिगरेट।"

क़ाद साहब ने सुना और इंजन के शोर के बीच चिल्लाकर कहने लगे—

"इसकी बीवी से पूछ आए हो महदा ? या फिर ज़ोर-ज़बर्दस्ती से क़ब्ज़ा कर बैठे ?"

चुन्नीलाल बैक सीट से उठके चला आया और मुहीउद्दीन की जेबों को तलाशने लगा—"निकाल सिगरेटें। आज की सिगरेटें तो हिसाब में शामिल हैं।"

"हम भी कहे कि आज यह मुहीउद्दीन उदार कैसे बना और गोपी को एक के बाद एक अपनी सिगरेटें पिलाता जा रहा है।"—कहते हुए और लोग भी सीटें

छोड़कर आए और मुहीउद्दीन पर धावा बोल दिया—"चल निकाल ! कहाँ छिपा रखी है ?" छीना-झपटी मच गई। ड्राइवर ने बस की गति धीमी की और पीछे देखकर स्थिति समझने की कोशिश करने लगा। ग़ुलाम क़ादिर ने उससे कहा—

"तुम मत घबराओ, उस्ताद जी। बेचारे आज छूटे हैं ना, इसलिए..."

फिर चिल्लाया—

"ओय ख़ुदग़र्ज़ो ! बाप को भूल ही गए ? असली माल तो मेरे ही क़ब्ज़े में है।" उसने पास रखी एक देगची का ढक्कन उठाया और रोग़नजोश की एक बोटी निकालकर खाने लगा। अब तो सिगरेट भूलकर उधर ही दौड़ पड़े—"लूट मच गई रे ! गोश्त लुट गया रे !" ठहाके मार-मारकर हुड़दंग मचाकर बस को हिलाके रख दिया।

बस रोककर ड्राइवर ने कंडक्टर से कहा—"इनके सामने तो स्कूली बच्चे कुछ नहीं।"

गोपीकृष्ण भी गया। बेचारे। भुक्कड़। बस पेट भर लेंगे और भरे बोरों जैसे लम्बे पड़ जाएंगे...हुँह ! कहते हैं सिर्फ़ आज के दिन...जैसे कल के दिन बदल गए होंगे।

वह लौट के अपनी सीट पर आ बैठा। बस चलने लगी थी और वह बाहर देखने लगा।

दौड़ती बस के साथ दौड़ रहे आषाढ़ के चढ़ते सूरज का प्रतिबिम्ब पानी से भरे धान के खेतों में भाग रहा था जैसे चोरी-छिपे का खेल खेल रहा हो। पानी बड़े नालों से निकलकर एक कोने से खेतों में जा रहा था और फैलकर दूसरे कोने से वापस बह रहा था। फिर अन्दर बहता, फिर निकलता, फिर फैल जाता, फिर सिमटता और आखिर चुक जाता। अभी नाली होती, अभी नहीं होती। जहाँ नाले का पानी किसी गड्ढे में जमा हो जाता वहाँ कमल खिले होते, कमल पात के थाल फैले होते। नाला खेत-खड्ड में फैल गया तो उसने बर्फानी चोटी से लाई ठण्डक और मिठास खो दी। आदमी भी तो बड़ा होता है, बूढ़ा होता है और चुक जाता है। मैंने भी झख मारी, मिला क्या ? शायद यही कि घर से रोज़ दुःख की पोटली बांध के लाता हूँ और दफ़्तर में मेज़ पर फैला देता हूँ। दफ़्तर का एक भी बेफ़िक्र दिन घर नहीं ले जा चुका। जैसा घर से चला, वैसा ही लौट आया। उसी दरवाज़े से और चुकता गया। वहाँ कमल पात के थाल फैले होते हैं, फूल सिर हिलाकर बुलाते हैं।

कुछ दिन पहले साहब ने पत्नी से कहा—"परसों इतवार है।"

"हाँ तो। आज शुक्रवार है, कल शनि होगा। इतवार के बाद सोमवार आएगा।" वह समझ गई थी कि उसे क्या कहना है।

"कब से बच्चे मचल रहे हैं...बरसों हुए होंगे, जब हम कहीं घूमने घर से

निकने। इनके इम्तहान भी हो गए। आजकल तुम्हारी कमर का दर्द नहीं हो रहा मांस का एक किलो मैं ला दूँगा। रात ही तल के रख दो। सुबह-सवेरे आकर नानाबाई से पाँच रुपये की रोटियाँ ले आऊँगा जो साथ ले जाएँगे। दिन हारवन के बाग में बिताएँगे···।"

वह बोलता ही जाता यदि देखते-देखते पत्नी का मुंह फूलता नहीं नजर आता।···

"हाँ, हाँ, मुझे घूमने की लत लगी है। आदत जो डाली है तुमने। अब की नहीं जाऊँ तो क्या बिगड़ेगा?"

"मैं मर जाऊँ जो तुम इन्कार करो तो! तुमने हारवन देखा भी तो नहीं है।"

"और सब जगह देख चुकी हूँ। महीनों के लिए पहलगाम और गुलमर्ग घुमाने ले गए हो। निशातों और शालीमारों की सैर करा लाए हो। अब काहे को मुझे अपना माथा पीटने को मजबूर कर रहे हो। मुझे कहीं नहीं जाना। शादी के अठारह साल बिना सैर किए बीते तो अब क्यों नहीं कटेंगे?"

गोपीकृष्ण ध्यान से पत्नी का मुंह देखने लगा। बाल गिरने लगे थे। आँखों के इर्द-गिर्द काले घेरे पड़े थे। हाथों की चमड़ी सूखी थी और पैरों में बिवाइयाँ पड़ी थीं। झुक के चलने लगी थी और जैसे कूबड़ निकल रहा हो।···वह थर्रा उठा।

हारवन सुनकर बच्चे सामने आ गए। वह उन्हें भौचक-सा देखने लगा। उनके मुखड़े पीले पड़ने लगे थे। हाथ जैसे सूखी-सिकुड़ी मछलियाँ हों। न गालों पर ललिमा का कोई अवशेष, न आँखों में चंचल मचलन। उन्होंने आकर भाँप लिया कि माँ-बाप ने चुप्पी साध ली तो उलटे पाँव लौट गए और कोनों में दुबक गए। पत्नी वापस रसोईघर में चली गई। वह बीच कमरे में ग़लत खम्भे की तरह खड़ा रहा, जिसे तोड़ देना कमरा उपयोगी बनाने के लिए ज़रूरी माना जाता है और होनहार बच्चे बाप-दादों की मन्दबुद्धि पर खिन्न होते हैं।

"हाँ, हाँ। लुटाओ बेचारे गोपी का खून।"

गोश्त की बोटी चबाते हुए मुहीउद्दीन कहने लगा, जिससे उन सबका ध्यान गोपीकृष्ण की ओर गया। वह बाहर देखता हुआ जाने कहाँ खो गया था।

गुलाम क़ादिर ने उसकी तरफ़ संकेत किया—

"यह अच्छी रही। जिसके अतिथि समूचे, उसे न कोई पूछे।"

एक-एक करके सब आ गए और गोपीकृष्ण के गिर्द जमा हुए।

"अब काहे का पछताना भाई। पैसा तो तुम खर्च कर चुके।"

चुन्नीलाल ने उस पर झुकते हुए हमदर्दी जतालाई—"कोई बात नहीं यार।

मैं भाभी को समझा दूंगा। कहूँगा कि आज के लिए हम सबने पैसा बराबर का खर्च किया।···

हाँ, झूठ है क्या ? हमने पन्द्रह-पन्द्रह नहीं दिए ?

चुन्नीलाल कुछ ज्यादा ही परेशान लग रहा था—"जो भी हो, हमें इसका सारा एरियर घर नहीं लेना चाहिए क्या ? बेचारे ने घर में क्या कहा होगा ?"

क़ाद साहब, हेडक्लर्क, जाकर गोपीकृष्ण की बग़ल में बैठ गया, और सब को उसने हटा दिया। हाथ गोपी के कन्धे पर रखते हुए बोला—

"बेटे, इतनी फ़िक्र नहीं करते। तुम पछताने लगे हो ? कोई बात नहीं। दो दिन में सारा पैसा वसूल कराके दूंगा···चलो, उठो मेरे पास बैठो। तुम भी सबके हँसी-खेल में शामिल हो जाओ। यह भूत की-सी सूरत मत बनाओ !"

"नहीं, क़ाद साब, वो बात नहीं।" अनायास गोपीकृष्ण की आँखें डबडबा अयीं। "बरसों हुए मैंने बच्चों को कहीं घुमाया-फिराया नहीं। पहले-पहले मचलते थे, तुनकते थे, अब तो बोलते भी नहीं। मैं उन्हें सिर्फ डाँटता रहा हूँ, सिर्फ़ फटकार के चुप कराना जानता हूँ।···गुनाहगार हूँ मैं उनका, क़ाद साब। क्या करूँ, न चादर लम्बी हो रही है, न पाँव तराशे जाते हैं। चार मरले जमीन लेने की तमन्ना मेरे लिए बहुत बड़ी एम्बिशन है. उसे भुलाए जा रहा हूँ, इधर रोज़ की खिचखिच ही से निजात नहीं।···"

क़ाद साहब ठहाका मारकर हँसने लगा कि जैसे उसी से बस हिचकोले खाने लगी। पर अब की बार गोपीकृष्ण उसे ईर्ष्या से देखता रहा। काश, मैं भी हँस सकता···

पर क़ाद ने उसकी पीठ पर ज़ोर से हाथ मारकर उसका दर्द जैसे बढ़ा ही दिया—

"हाय बेवकूफ़ ! ये जो आज यहाँ बस में तुम्हारा मजाक उड़ाकर यों ही बेवजह हँसे-कूदे जा रहे हैं, घरों में इनका भी खून जम गया होता है। पर एरियर इनके भी निकले हैं और हमने सैर की है। जनम-मरण को धता बताके। फिर तुम ये कैसी बेअक्ली की बात कर रहे हो ?"

किसी बेवकूफ़ की तरह गोपीकृष्ण फिर खिड़की से बाहर देखने लगा। धान के खेत पीछे भाग रहे थे और सूरज पानी में खड़े पौधों के बीच से जैसे उसे आँख मार रहा था।

(अनु०—राजकुमारी राज़दान)

गुजराती

• अंजलि खांडवाला
• रवीन्द्र जी

(अनुवादिका—सरला जगमोहन)

हरा लड़का

□

अंजलि खांडवाला

"पापा···पापा···पापा······!" एक ही साँस में फटी आवाज़ में चिल्लाता हुआ पाँच साल का पौरव एकाएक आ रही भारी बाढ़ की तरह सीढ़ी चढ़कर अपने पिता के कमरे में प्रवेश करता है। एकाग्र चित्त से कुछ लिख रहे पिता की कमीज़ का कॉलर अपनी उँगलियों से खींचकर वह दो-तीन बार कहता है : "उठिए, पापा ! पेड़ चल रहा है !" पिता एक झटके के साथ कुर्सी से उठ जाते हैं, जैसे चौंककर नींद से जाग गए हों। पौरव अपने छोटे हाथों में पिता की उँगलियों को संड़सी में पकड़ा हो, वैसे बवंडर की तरह सीढ़ियाँ उतरता हुआ निचली मंज़िल पर ड्राइंग रूम में घसीट लाता है।

"देखिए, पापा, वह मेरे पास आ रहा है।" कोने में एक बड़े गमले में उगा रबड़ का पौधा दिखाकर वह आनंद और विस्मय के साथ कहता है और उसके पिता—देश के एक विख्यात बॉटनिस्ट—आँखें मलकर बार-बार पौधे का निरीक्षण करते हैं।

"पापा, यह धूप में जाना चाहता है। मुझ से कह रहा था कि मुझे इस कमरे से बाहर निकालो।"

"पौरव, पेड़ चल नहीं सकता। ऐसा तो कहानियों में ही होता है।"

"लेकिन पापा, देखिए···!"

"चलो, हम मीठु चाचा से मिलने जाएँगे।" कहकर पिता ने पौरव का हाथ खींचा। पौरव बहुत सयाना और समझदार था, लेकिन आज वह गमले को बाहर लाने के लिए किकियाने लगा। नौकरों ने उठाकर गमला बाहर रख दिया तो रबड़ के पौधे के पत्तों को सहलाते हुए वह बोला, "तुम धूप में नहा लो ! तब तक मैं चाकलेट चाचा के घर हो आता हूँ।"

दो दिन पहले आम के पेड़ पर चढ़कर अमिया तोड़ने को हाथ

बढ़ाया ही था कि पौरव नीचे गिर गया था। गिरा था सूखे पत्तों के ढेर पर— और माली भी वहीं खड़ा था। उसने पौरव को उठा लिया था और देख लिया कि कहीं ज्यादा चोट तो नहीं आई थी। माली ने मालिक से शिकायत की कि पौरव बार-बार पेड़ पर चढ़ जाता है। पिता अखबार पढ़ रहे थे और उन्होंने निश्चय किया कि वह अखबार पर से नज़र नहीं उठाएँगे और उन्होंने माली की बात को कोई महत्व नहीं दिया। लेकिन आज जब एकाएक पौरव के मुँह से पेड़ के चलने और बोलने की बात सुनी, तो उन्हें शक हुआ कि पेड़ पर से गिरने के कारण उसके दिमाग़ में चोट तो नहीं लग गयी ? मीठु भाई मशहूर न्यूरोलॉजिस्ट हैं और पौरव के पिता के मित्र हैं। पौरव उनके घर जाने को हमेशा उत्सुक रहता है क्योंकि मीठुभाई हमेशा उसको चाकलेट देते हैं। इसीलिए तो पौरव ने उनका नाम 'चाकलेट चाचा' रखा है।

मीठुभाई ने पौरव की सभी तरह से जाँच की। उनकी राय थी कि पौरव के दिमाग़ को कोई चोट नहीं लगी थी। अब पौरव के बॉटनिस्ट पिता का मन उसके व्यवहार को समझने के प्रयास में कई प्रश्नों से घिर गया। पौरव झूठ तो बोल ही नहीं सकता क्योंकि सत्य बोलना इस परिवार में सहज था। और माता-पिता ने बहुत ही प्रेम से दंड की धमकी दिये बिना पौरव और उसकी बड़ी बहन पौलोमी को बड़ा किया था। तो, पौरव को किसी भी कारण यह भ्रम हुआ था कि पौधा चला था और बोला था। या फिर उसे जो अनुभव हुआ था उसे समझ पाने की उनमें क्षमता नहीं है ! इन दोनों बातों में क्या सच हो सकता है ? डॉ० मेहता दिन भर इसी प्रश्न को सुलझाने की कोशिश में लगे रहे।

समय की तहों में दबकर यह बात पुरातन अवशेष-सी बन गई। डॉ० मेहता को पेड़-पौधों के बीच ही रहना अच्छा लगता है और वह अहमदाबाद से कोई पन्द्रह किलोमीटर दूर फलों और फूलों से भरी बाड़ी में अपने परिवार के साथ रहते हैं। चीकू, शरीफ़ा, बेर, जामुन, आम, नारियल, खजूर आदि के वृक्षों के साथ-साथ गुलमोहर, पिल्टफ़ार्म, केशिया, कचनार आदि फूलों से सुशोभित वृक्ष बादलों की तरह डॉ० मेहता की बाड़ी के आकाश में फैले हैं। अपनी ज़मीन और पानी के अनुरूप कई वृक्ष और पौधे देश-विदेश से लाकर उन्होंने लगाए हैं। घर के पास ही एक शीशे का ग्रीन-हाउस है जिसमें दो साल से वह अफ्रीका की एक वनस्पति उगा रहे हैं।

बचपन से ही पिता ने पौरव और पौलोमी को वनस्पतियों का ज्ञान दिया है। पाँच साल के पौरव को अपनी बाड़ी की वनस्पतियों के नाम, उन पर लगते फूल और फलों की अच्छी पहचान है किस मौसम में कौन-से फल-फूल होते हैं, इसका भी उसे ठीक पता है। वनस्पति के साथ पौरव का सहज तादात्म्य है। दस साल की पौलोमी एक बाराती की तरह पेड़-पौधों के बीच खुशी-खुशी घूमती है।

दो-तीन दिन शहर में नानी के घर रहना पड़े तो भी वह अकुला जाती है। लेकिन उसे वनस्पतियों के जीवन में रुचि नहीं है। ग्रीन हाउस से कुछ दूर, मजबूत कँटीले तारों की बाड़ बनाकर उसने अपने चित्तीदार हिरन, खरगोश आदि को रखने का प्रबंध किया है। महीनों पहले जिसे जन्म देकर एक हरिणी मर गई थी, उस बच्चे की वही माँ है। रोज सवेरे उठकर वह दौड़ी-दौड़ी जाती है—बोतल में दूध लाती है, और बच्चे को गोद में लिटाकर दूध पिलाती है। नरम-नरम घास खिलाती है। स्कूल से लौटकर भी वह पहले बच्चे के पास और इसके बाद ही अपनी माँ के पास जाती है।

रूपाँदे—इन बच्चों की माँ, चुस्त वैष्णव परिवार में बड़ी हुई थी। अपने बच्चों को उसने बड़े भक्ति-भाव से बड़ा किया था—जैसे वे अपने लालजी के ही स्वरूप हों। उसके पास कहानियों का तो अपार भंडार था। हर रात वह महाभारत, रामायण या किसी चौरासी वैष्णवों के जीवन से सम्बन्धित या किसी संत के जीवन के किसी प्रसंग को लेकर कहानी न सुनाये, तब तक बच्चे सोते नहीं थे—हालाँकि उसने स्वयं कॉलेज में उच्च शिक्षा नहीं ली थी। भक्ति के साहित्य को छोड़कर और कुछ पढ़ने में उसकी रुचि नहीं है। डॉ० मेहता दुनिया के विविध क्षेत्रों में क्या हो रहा है, इसकी जानकारी बच्चों को देते थे। रविवार का सुबह का समय और गणित पर आधारित खेलों के लिए होता था। रोजाना के उपयोग की चीजों से ही पौलोमी से वह सरल प्रयोग कराते थे। पौरव दौड़-दौड़कर सामग्री जुटाने में मदद करता था। जो प्रयोग हो रहा हो उसे वह ध्यान से देखता था, हालाँकि समझने के लिए उसकी वय कम थी।

आज पौरव की सातवीं वर्षगाँठ है। माँ ने पौरव की प्रिय जलेबी बनाई है। जुलाई महीने के आरम्भ के दिन हैं। मूसलाधार वर्षा के कारण शाला बन्द है। सुबह से ही पौरव गमलों में लगाए गए पौधों को जमीन में लगाने में व्यस्त है। मुँह से सीटी बजाता हुआ वह गमले को तोड़कर, छोटे पौधों की जड़ों को हानि पहुँचाए बिना, सम्हालकर जमीन में लगा रहा है। यह करते-करते एक गमला उसके हाथ से छूट गया और गिरते ही टूट गया। गमले की मिट्टी बिखर गयी और पौधे की छोटी-छोटी जड़ें टूट गईं, यह देख पौरव तीखी आवाज में चीख उठा।

रूपाँदे और पौलोमी दौड़े-दौड़े आ गए कि क्या हो गया। देखा तो पौधे को हाथ में पकड़े पौरव रो रहा था। उसके आँसू पोंछते हुए माँ ने प्यार से पूछा—"क्या हुआ पौरव?"

"माँ, यह छोटा पौधा मेरे हाथ से छूट गया।" वह डर गया और चोट आई हो, ऐसे जोर-जोर से रोने लगा।

पौलोमी ने अपने दाएँ हाथ की तर्जनी को कनपटी पर गोल-गोल घुमाते

हुए इशारा किया कि भाई पागल हो गया है । माँ हैरान हुई कि बेटे के सिर पर यह क्या सवार हो गया है ?

कुछ देर तक पौधे को सहलाते हुए पौरव चुपचाप बैठा रहा । फिर उसने ज़मीन खोदकर पौधे को वहाँ लगा दिया । पाइप से पौधे को पानी दिया और बोला, "देखो माँ ! अब इसका डर कम हो गया लगता है न ? अब वह सीधा होने लगा है न ?"

माँ हाथ पकड़कर पौरव को रसोईघर में घसीट ले गई ।

ड्राइंग रूम में पीतल का एक बड़ा घंटा टँगा हुआ था । पौरव ने ज़ोर से घंटा बजाया । वह भोजन का घंटा था जो हर दोपहर को बारह बजे और रात को साढ़े सात बजे बजाया जाता था, और तब सारा काम छोड़कर सब डाइनिंग टेबिल पर आ जाते थे । भोजन के पहले 'ओ३म् सहना ववतु' की प्रार्थना बोली जाती थी । आज भी वही प्रार्थना बोली गई । फिर पौरव की वर्षगाँठ की खुशी में 'हैपी बर्थ-डे' गाया गया । वैसे तो पौरव कलरव उल्लास का फव्वारा था, लेकिन आज वहबिल्कुल ही रुक्ष चेहरा लिए बैठा था । उसे उस घायल पौधे की चिन्ता थी । "क्यों, पौरव ,आज क्यों ऐसे चुप हो ?" पिता ने कुतूहल से पूछा । रूपांदे ने उँगली से पति को चुप रहने का इशारा किया । भोजन के बाद मुख-शुद्धि के लिए सौंफ चबाते-चबाते पति-पत्नी ने आज की घटना की चर्चा की । रूपांदे को पौरव के व्यवहार के बारे में चिन्ता हो रही थी । मन में मनौती की कि मेरा पौरव अगर बिल्कुल ठीक हो जायेगा तो लालजी के मन्दिर में 100 रुपये की भेंट दूंगी । माँ की चिन्ता के उत्तर में पिता ने कहा : "पौरव बहुत भावनाशील है । वह उस पौधे के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करे तो इसमें घबराने की क्या बात है ? तुमने ही मुझे नहीं बताया था कि जब तुम छोटी थी तो तुम्हारे भाई ने तुम्हारी बहुत प्यारी गुड़िया छत पर से फेंक दी थी और तब तुम ऐसी रोई थीं कि बाथ-टब ही भर गया होगा न ?" एक ही चेहरे पर सुबह और रात जैसे एक-दूसरे में मिल गए और माँ के मुख पर 'हँस दूँ या रो दूँ' का अनोखा रंग छा गया ।

मरीज़ को चौकन्नी नज़र से देखनेवाले डॉक्टर की तरह पौरव कई बार उस पौधे को देख आया रात को डाइनिंग टेबिल पर पौरव बहुत खुश था । उसने गर्व के साथ बताया कि उसने बहुत अच्छा इलाज किया था और पौधा उसका जिगरी दोस्त बन गया था । पौलोमी हँसी न रोक सकी और ही-ही करके हँसने लगी—जैसे पिचकारी से रंग छूटा । रूपांदे ने सोचा कि बेटे का दिमाग़ बिल्कुल खराब हो गया है । भोजन के बाद थालियाँ उठा दी गईं । माँ-बेटी भी चली गईं । लेकिन बाप-बेटे वनस्पतियों की बातों में मग्न बैठे रहे ।

कुछ साल और बीत गए । इस बीच पौरव का वनस्पति मित्र-मंडल बढ़ता ही गया । पौरव ने सब्जियों का एक छोटा-सा बग़ीचा लगाया । दस साल का पौरव

ऐक किसान की अदा से काम कर रहा था। सर्दी का मौसम आते ही उसने पिता से गोभी, गाजर, टमाटर आदि के बीज मँगवाए और माली की मदद से जमीन की गोड़ाई की। उसमें खाद डाली और बीज बोए। एक महीने में तो कितने ही सिर जमीन को भेदकर बाहर आ गए। वह एक-एक सिर पौरव का स्वजन-जैसा था। जैसे माँ अपने सभी बच्चों के चेहरे अपने हृदय में समो लेती है, वैसे ही पौरव की प्रत्येक सिर के साथ आत्मीयता है। सुबह-सुबह उठकर वह अपने बग़ीचे में अपने लाल-हरे-नारंगी रंग के प्यारे बच्चों को देखने चला जाता है। सबकी खबर पूछता है। आपस में बातें होती हैं—जीभ से तो नहीं, मन से।

उस बग़ीचे में एक रूखी-सूखी गोभी थी। सभी गोभियों के चेहरे गोलमटोल होने लगे, लेकिन यह गोभी जो थी कि वह न बढ़े दिन में और न बढ़े रात में। पौरव रोज सुबह उससे पूछता है : 'अरे गोभी, अपने मन की बात बता। तुझे क्या हुआ है ?' गोभी ने पौरव को संदेशा पहुँचाया : 'भाई, मेरी जड़ों में कीड़े लगे हैं। रात-दिन वे मुझे कुतर रहे हैं। मेरा सब रस चूस लेते हैं। और मेरी काया दुबली होती जा रही है।'

पौरव ने उस गोभी के आस-पास की ज़मीन खोद दी। ~~उसमें कीड़े~~ मारने की दवा छिड़क दी। गोभी के शरीर पर भी थोड़ी दवा छिड़क दी। कुछ ही दिनों में गोभी का शरीर भरने लगा। चेहरे पर हरी चमक आ गई।

गोभी और पौरव के बीच शब्दों द्वारा नहीं, परन्तु मन-ही-मन बातें होती थीं। इसलिए पहले तो पौरव को यह शंका हुई कि वह सचमुच गोभी का संदेशा था या अपने विचार को ही उसने गोभी का विचार मान लिया था। पौरव के सब्जियों के पास आते ही सभी सब्जियाँ फरफर दुम हिला रहे पिल्लों की तरह खुशी से झूम उठती थीं। सब्जियों को पौरव सहलाता। उनके प्रेम से पौरव आनंद-विभोर हो जाता। पौरव के दुलार और खाद-पानी के पौष्टिक आहारसे सभी सब्जियाँ ताजी हो गई थीं। जब कोई सब्जी पककर तैयार हो जाती तो वह पौरव से कहने लगती—अब मुझे निकाल लो। पौरव रोज छोटी-सी टोकरी में सब्जियाँ लाता था।

आज घर में सब सब्जियाँ खत्म हो गई थीं। रूपाँदे बीमार थी और वह बाजार नहीं जा सकी थी। उसने मिसरानी से कहा, बग़ीचे से गोभी ले आओ। वह चाक़ू लेकर बग़ीचे में गई और चटपट गोभियाँ काटने लगी।

पौरव स्कूल में था। गणित का विषय चल रहा था। बच्चों को शिक्षक ने गणित के सवाल करने को दिए थे। सवाल करते-करते पौरव को अपनी प्रिय गोभी की चीख सुनाई दी : 'बचाओ ! बचाओ !' पौरव अपनी प्रिय वनस्पतियों की वेदना को मन में हमेशा अनुभव करता था। पौरव गणित में मन न लगा सका। गणित की कक्षा आज की अन्तिम कक्षा थी। वह खत्म होते ही शाला की

छुट्टी का घंटा बजा। पौरव दौड़कर दरवाज़े पर खड़ी कार में जा बैठा। पौलोमी शाला की छुट्टी होते ही कार मे आकर बैठ जाती थी और दोस्तों के साथ हँसी-मज़ाक़ करते हुए पौरव पन्द्रह-बीस मिनट की देर कर ही देता। इससे पौलोमी मन में उस पर चिढ़ती।

आज पौरव बगीचे मे अपने मित्रो की सलामती की तसल्ली करने को इतना अधीर था कि पवन के झोके की तरह वह पौलोमी की कक्षा की ओर दौडा और उसका हाथ पकडकर घसीटता हुआ उसे कार तक ले आया। हाँफ रही पौलोमी आश्चर्य और क्रोध से पौरव को देखती रही। और फिर जैसे छप्पर पर चढकर बोलती हो, तीव्र स्वर मे कहा : "रोज मैं कार मे तुम्हारे लिए बैठी रहती हूँ, तब तुम्हे वक्त की सुध रहती है? अब मैं भी तुमको ऐसे ही घसीटकर लाऊँगी।"

कार चलने लगी, किन्तु पौरव चुपचाप बैठा रहा। हमेशा रेडियो की तरह बोलने वाला पौरव आज क्यो चुपचाप बैठा था पौलोमी समझ न पाई। पौलोमी ने कई प्रश्न पूछे लेकिन उसके शब्द पौरव के मौन से टकराकर लौट आए। घर आया तो चलती हुई कार का दरवाज़ा खोलकर वह अपने बगीचे की ओर दौडा। युद्ध-विराम के बाद संध्या की बेला मे कुरुक्षेत्र मे टहलने निकले और रक्त की नदियो मे तैरते शवो को देखकर जैसे कलेजा मुँह को आ जाता—पौरव को ऐसा ही कुछ हुआ। एकाएक उसके कितने ही स्वजनो की हत्या हो गई थी। उनके चेहरे याद करते-करते पोरव दुःख की चट्टानो से टकराता हुआ वही बैठ गया। और सबसे भारी आघात तो अपनी प्रिय गोभी को लेकर हुआ जो अभी-अभी गोल-मटोल होने लगी थी। मन-ही-मन वह गोभी से कहने लगा, 'तू मुझे छोडकर चली गई? तेरे बिना अब मुझे कैसा सूना लगेगा।' तीव्र भावावेश मे वह स्तब्ध रह गया।

माँ पौरव को ढूँढती हुई बगीचे मे आ गई। कृष्ण के पैरो को स्पर्श करने को अधीर यमुना जैसे अपने को ऊपर उछालकर वसुदेव के टोकरे मे प्रवेश करने लगी थी, वैसे ही माँ का प्रेम और सात्वना पाकर शान्त होने को तत्पर पौरव की आँखो मे दुगने वेग से आँसू छलकने लगे। बेटे के पास बैठकर माँ भी उसका सिर सहलाते-सहलाते रोने लग गई।

"बेटे, तुम मुझे माफ कर दोगे?"

"माँ···तुमने···काट ली?"

"बेटा, मुझे क्या पता था कि तुम्हारे लिए वे सब दोस्तो की तरह थी!"

"माँ, तुम खूनी हो! खूनी हो!" ये शब्द माँ के दिल को चुभ गये और उसकी व्यथा सिसकियो द्वारा बाहर आ गई। चूँकि दोनो की आँखो मे आँसू थे, इसलिए वे एक-दूसरे का चेहरा देख न सके। अन्धा आदमी जैसे कानो से सुन लेता है वैसे वे दोनों अपने कानों से एक-दूसरे की सिसकियो को अनुभव करने लगे।

तभी पिता वहाँ आ पहुँचे। पौलोमी ने पहले ही उन्हें बता दिया था। पिता ने हाथ पकड़कर पौरव को खड़ा किया और खींचकर उसे घर की ओर ले गए। माँ उठकर पीछे चल दी। पौरव दौड़कर अपने कमरे में गया और दरवाजा अन्दर से बंद कर लिया। आज भोजन का घंटा तीन बार बजा—लेकिन दरवाजा बंद ही रहा।

कुछ दिन तक घर की चहल-पहल दबी-सी रही, किन्तु घर में फिर से खुशी झलकने लगी तो पिता ने बेटे के साथ भरपेट बातें कीं।

"पौरव ! क्या तुम वनस्पतियों के साथ मुँह से बात करते हो ?"

"नहीं।"

"तुम्हारे मन में वनस्पति के संदेश विचारों द्वारा आते हैं या मन में चित्र उभरते हैं ?"

"अमर चित्रकथा पढ़ते हैं तब चित्र सामने आते हैं। परन्तु इन चित्रों का प्रकार भिन्न होता है—वे जीवित होते हैं।"

"लेकिन मन में जो चित्र आते हैं वे तुम्हारी कल्पना भी हो सकते हैं !"

"पापा ! मैं समझा नहीं सकता हूँ। लेकिन मैं वनस्पतियों के साथ जो बात करता हूँ, वह भी आपके साथ बात करता हूँ, उतनी ही सच्ची है।"

"लेकिन तुम्हारे कहने से थोड़े ही वह सच हो जाती है ?"

"पापा ! क्या आप यह कहना चाहते हैं कि मैं गप मार रहा हूँ ?"

"नहीं बेटे ! तुम्हारा अनुभव सच ही होगा, और तुम्हारी इस कुदरती शक्ति को प्रोत्साहन देना चाहिए। यह कितनी अद्भुत बात है ! लेकिन अगर इसे वैज्ञानिक ढंग से साबित किया जा सके तो बहुत उत्तम हो, क्योंकि इससे वनस्पतियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मेरे-जैसे लोगों के लिए मार्ग खुल जाएगा।"

"पापा ! मैं तो अभी कितना छोटा हूँ !"

"तुम बड़े भी होगे न ? मेरा मन कह रहा है कि तुम वनस्पतियों के विषय में अवश्य ही कोई अनोखी शोध करोगे।"

प्यार से पौरव पिता से लिपट गया।

एक-एक करके पाँच वर्ष के मनके खिसक गए। इतने समय में तो पौरव माँ के कंधे से भी कितना ऊपर पहुँच गया। बाप-बेटे को साथ में खड़े रखने पर ही बेटे की कम ऊँचाई का पता चलता था। अलग से देखने पर तो वे एक समान ही लगते थे। अब वह रोना तो बिल्कुल ही भूल गया है। रोना अब उसके लिए शर्म की बात है। कलरव जैसे घूँट बनकर गले से नीचे उतर गया है। और गले से अब बाप के जैसा ही स्वर फूट आया है। टेलीफोन पर रूपांदे कभी ग़लती कर बैठती है कि आवाज बाप की है या बेटे की। उम्र बढ़ने के साथ समझदारी की पंखुड़ियाँ भी खुल गई हैं। माँ-बाप की पकड़ उसके हाथ से कब और कैसे छूट गई,

इसका तो उसे पता ही नहीं है। अब तो वह बाप के कंधे पर हाथ रख लेता है—माँ को अपने कंधे का सहारा देता है।

पौरव भी बाप की तरह बॉटनिस्ट बनने का स्वप्न देख रहा है। वनस्पति-जीवन में अब भी उसकी वही रुचि है, परन्तु बुद्धि के फल से बचे रह गए उसके मन में वनस्पति के प्रति उसका पहले जैसा उछलकर बाहर आनेवाला प्रेम दब गया है। वह प्रेम भी कभी बाहर आने का प्रयत्न करता है, परन्तु तर्क उसे अपने फ़ौलादी पंजे में जकड़े रखता है।

पौरव गहरी नींद सो रहा था। उसे यह आभास हुआ कि उसके कमरे की खिड़की के पास खड़ा हुआ गुलमोहर का वृक्ष, जो पौरव ने अपने छोटे हाथों से लगाया था, उसे सत्वर उठ जाने का संदेश दे रहा था। पौरव झटके से उठ बैठा और खिड़की के बाहर खड़े सैकड़ों छोटी-छोटी उँगलियों से नृत्य कर रहे गुलमोहर को देखने लगा। पवन में झूम रही उसकी स्थूल डालियाँ जैसे उसके मन के आकाश में हिलने लगीं। गौरैए की पूँछ-जैसी मुलायम छोटी-छोटी पत्तियों का भीतर से स्पर्श होने लगा। गुलमोहर की सभी डालियाँ माँ की उँगलियों की तरह मुलायम हो गई थीं। वह जब छोटा था तब माँ का हाथ उसे जबरदस्ती पकड़कर कहीं घसीट सकता था। उसी प्रकार आज पौरव को गुलमोहर की उँगलियों ने जैसे पूरा ही उठा लिया—जैसे उन उँगलियों ने उसे जीने से नीचे उतारकर रसोई-घर में खड़ा कर दिया। बुद्धि का सहारा ढूँढ़ता हुआ पौरव बावरा बन गया लेकिन उसने तीव्रता से यह अनुभव किया कि उस समय वह गुलमोहर की रेशमी गीत जैसी डालियों में उलझा हुआ था और उन्हीं के रेशमी अंकुश में था। कुछ सालों से दबाकर रखा हुआ स्नेह एकाएक चटकदार हरा हो उठा।

तभी बग़ीचे की ओर से दरवाज़े के बाहर कुछ बर्तनों के गिरने की आवाज़ आई। अब तक जो वाणी चिपक गई थी वह उसके तलुए से निकल पड़ी और उसके गले से ऊंचा स्वर उठा : 'कौन?' जवाब में किसी के पैर दौड़े। पौरव ने तभी लाइट का स्विच दबा दिया। और साथ ही चिल्लाकर पिता को पुकारा। घबराये हुए पिता रसोईघर में आए।

"पापा! इस दरवाज़े के बाहर पहले बर्तन गिरने की आवाज़ आई और फिर कोई दौड़ने लगा।"

"ठहरो, मैं टॉर्च लाता हूँ।"

टॉर्च लाकर पिता ने दरवाज़ा खोलने का प्रयत्न किया, लेकिन दरवाज़ा तो खुला ही था। बाहर बर्तनों की गठरी बँधी पड़ी थी। पास में एक चाक़ू था जो पौरव के घर का ही था।

"तुम नीचे कब आए थे?"

"आपको बुलाने के एक मिनट पहले ही।"

"तुम नीचे क्यों आए थे ?"

"पापा, मेरी खिड़की के सामने खड़ा गुलमोहर का पेड़ मुझे जबर्दस्ती यहाँ ले आया ।" पिता ने अन्तिम शब्द सुने या न सुने, परन्तु तुरन्त ही उन्होंने पुलिस को फोन मिलाया । पुलिस की टुकड़ी आकर रिपोर्ट लिख ले गई ।

इसके बाद कुछ दिनों तक···घर में कौन घुस आया होगा ? वह कैसे आया होगा ? पौरव कुछ देर से आया होता तो बर्तनों के उपरान्त और क्या-क्या ले जाने का चोर ने प्रयत्न किया होता—ये प्रश्न बेस्वाद चुइंग-गम की तरह चबाए गए । पौरव ने इन प्रश्नों में शायद ही रुचि ली ।

पौरव के मन में एक ही प्रश्न अविरत उठता रहता है—'गुलमोहर ने मुझे क्यों जगा दिया ? मेरे लिए कुछ प्यार होगा तभी न ? क्यों उसे मेरे ही लिए प्यार हो आया और पापा के लिए नहीं ? शायद पापा के लिए भी प्यार हो, लेकिन उसका उन्हें अनुभव न होगा ।'

ज़मीन में गड्ढा खोदकर खाद डालकर गुलमोहर लगाते हुए अपने छोटे-छोटे हाथ पौरव के सामने आ गए । एकाएक जैसे सरककर वह पांचवें वर्ष में आ गया हो । वह मन के बांध पर बैठकर गुलमोहर के उन परों-जैसे मुलायम पत्तों से पौरव के गालों को सहलाने लगा । इस घटना के बाद एक ही घर में दो पौरव रहने लगे—एक पाँच वर्ष का पौरव और दूसरा सोलह वर्ष का ।

पौरव ने कॉलेज में बॉटनी का विषय लिया । वनस्पति की क्रिया-प्रक्रिया को वह गहराई से समझना चाहता था । वनस्पति के साथ अपनी आत्मीयता को वह वैज्ञानिक ढंग से स्थापित करना चाहता था ।

हमारे पूर्वज भी इतना तो मानते ही है कि वनस्पति में जीव है । वनस्पति को सुख-दुःख का संवेदन होता है, यह भी वे मानते थे । इसीलिए तो सूर्यास्त के बाद किसी फूल-पत्ते को तोड़ना पाप समझा जाता है क्योंकि उनकी यह मान्यता थी कि मनुष्यों की तरह पेड़-पौधे पलकें बन्द करके सो जाते हैं । पौरव कई बार यह सोचता था कि भाषा की शोध के पहले पुरातन मानव कैसे सोचता होगा ? पौरव बिना शब्दों के सोचने का प्रयत्न करता था, लेकिन शब्दों के बिना सोचने की वह मानसिक क्रिया कैसी होगी, यह उसकी समझ में नहीं आया ।

अपनी प्रयोगशाला में उसने एक यंत्र बनाना शुरू किया । लगभग 2 इंच त्रिज्या की गोलाई का एक प्लास्टिक का डायल, इसमे एक लाल वर्तुल, उसके बाहर नीला वर्तुल और उसके भी बाहर सुनहरा वर्तुल किसी भी पौधे या पेड़ पर उसे टाँग देता था । वनस्पति जब बहुत खुश हो तो सुनहरे में लाइट होगी । दुःख की संवेदना हो तो अंदर के लाल वर्तुल में लाइट होगी । तालाब के स्थिर पानी जैसी मानसिक स्थिति होगी तो बीच के नीले वर्तुल में लाइट होगी ।

पौरव ने कई प्रयोग किए । वनस्पति की जड़ों में वह कीड़े डाल देता और

कुछ देर में लाल लाइट हो जाती। पेड़ की डाली को कुल्हाड़ी से काटने पर भी लाल लाइट हो जाती। पत्ते खींचकर तोड़ने पर या तने को कुरेदने पर पल-दो पल लाल लाइट होकर फिर बंद हो जाती। सूर्यास्त के बाद हमेशा नीले रंग की लाइट रहती। निद्रा की अवस्था में वनस्पति को छेड़ने या झँझोड़ने पर फ़ौरन लाल वर्तुल में लाइट हो जाती। सवेरे ठंडी हवा में पत्ते इस धूप के फ़व्वारे में नहा रहे हों तो सुनहरे वर्तुल में धुँधली लाइट हो जाती। किसी भी संवेदन की तीव्रता बढ़ने या कम होने पर उसके अनुरूप ही लाइट की तीव्रता बढ़ जाती या कम हो जाती।

अनेक प्रयोगों के बाद पौरव ने अपने कॉलेज की विज्ञान-प्रदर्शनी में अपना डायल लगाया। कॉलेज के प्राध्यापक और विद्यार्थी इस अद्‌भुत शोध पर चकित हो गए। प्रिंसिपल ने पौरव का कंधा थपथपाते हुए कहा : "तुमने हमारे कॉलेज का गौरव बढ़ाया है।" उस प्रदर्शनी में उसके पिता भी उपस्थित थे। अपने पुत्र की शोध को देखकर वह गैस के गुब्बारे की तरह खुशी से भरकर उड़ने लगे। अब तक अपनी इस शोध को उसने बिलकुल गुप्त ही रखा था। डॉ० मेहता ने ज़िन्दगी भर वनस्पति के स्थूल स्वरूप का अभ्यास किया था, किन्तु उसकी मानसिक क्रिया के बारे में उन्होंने कभी नहीं सोचा था। अब उनका पुत्र उनसे सवाया हो गया था इस बात का संतोष सूर्य-प्रकाश की भाँति उनके चेहरे पर फैल गया। वहाँ उपस्थित सभी लोग पौरव के पिता को चढ़ा रहे थे। शायद सब के मन में यह जिज्ञासा थी कि लड़के के माता-पिता ने किस करामात से उसे पाला-पोसा होगा जिससे उसे यह सिद्धि प्राप्त हो गई।

घर पर मेहमान थे इसलिए रूपाँदे प्रदर्शनी में नहीं जा सकी थी। उसे यह थोड़े ही पता था कि उसका पुत्र प्रदर्शनी में प्रमुख आकर्षण बनकर रहेगा। घर आकर पति ने पत्नी के आगे, एक कलाकार जैसे विविध रंगों से चित्र बनाता है, उसी तरह उस प्रदर्शनी का हूबहू वर्णन किया। रूपाँदे की आँखें पहले नम हो गईं और फिर बहने लगीं। पौलोमी हर्षातिरेक में दो-चार बार भाई के धप्पा लगाकर उसके गले लग गई।

पौरव ने ऋषि-मुनियों की तरह वर्षों तक तपस्या की—वनस्पति के साथ संवाद करने की वैज्ञानिक पद्धति की शोध के लिए।

एक खुले खेत में सीधे नारियल के पेड़ के आस-पास पच्चीस आदमी चीखते-चिल्लाते घूम रहे हैं। आस-पास में दूसरे पच्चीस आदमी टोला बनाकर बैठे हैं। चीखनेवाले आदमी थकने पर घेरे से बाहर आ जाते हैं और बाहर बैठे लोग घेरे में आकर घूमने और चीखने लगते हैं। डॉ० मेहता और पौलोमी यह देख रहे है कि सब-कुछ ठीक से चलता रहे। पौरव कहीं भी नज़र नहीं आ रहा है क्योंकि उन भयानक चीखों का संवेदन उस वृक्ष के लिए असह्य हो रहा है, इसका अनुभव

होने पर उस प्रयोग का संचालन पिता और पौलोमी को सौंपकर वह वहाँ से चला गया है।

पहले दो दिन उस वृक्ष पर कोई प्रत्यक्ष असर दिखाई नहीं दिया। तीसरे दिन वृक्ष की डालियाँ झुकने लगीं, पत्ते मुरझाने लगे। छह दिन में पत्ते बिल्कुल ही सूख गए और जड़ें शिथिल होने से वृक्ष थोड़ा-सा झुकने लगा। इस प्रयोग के लिए पौरव ने चीखने के लिए पैसे देकर आदमी लगाए थे। झुकते-झुकते आठवें दिन वृक्ष धराशायी हो गया। इस घटना से इसमें भाग लेने वाले इस क़दर खुश हुए गोया उन्होंने किसी मिजवानी का मजा लिया हो।

जब पौरव को वृक्ष के गिरने का पता चला तो अपने को हत्यारा समझकर वह अपनी नज़रों में दूर भागने लगा।

दूसरे दिन अखबारों में पहले पेज पर पौरव उस नारियल वृक्ष को आलिंगन देता हुआ खड़ा था। इसके साथ ही आठवें दिन गिरे हुए उस वृक्ष की तस्वीर थी। तस्वीरों के नीचे प्रयोगों का वर्णन दिया गया था। अन्तिम पंक्ति थी : "यह प्रयोग मैंने बुद्धिवदियों को समझाने के लिए किया था। वैसे तो वनस्पति में मनुष्यों की क्रियाओं-से संवेदन होते हैं यह मेरा अपना रोज़ का अनुभव है। कई दिनों तक वह मृत नारियल के वृक्ष देखने को लोगों की भीड़ वहाँ उमड़ती रही। सब की आँखें उस प्रयोग करने वाले व्यक्ति को देखने को आतुर थीं। लेकिन ऐसा कौन सोच सकता था कि इस वृक्ष के अवसान से वह शोकग्रस्त था?

पौरव का यह दृढ़ विश्वास था कि पेड़ों में एक विशिष्ट चेतन-शक्ति होती है जिससे उनकी छाया में बैठने से अपूर्व शान्ति मिलती है। पौरव बीमार हो तो दवा न लेकर पक्षी की तरह वृक्ष की छाया में बैठ जाता था, और गोया वह वृक्ष उसका दर्द ले लेता था। जब पौरव के एक मित्र के पिता ने यह सब सुना तो इस वाहियात लग रही बात के विरोध में वह खूब हँसने लगे। पौरव ने कहा : "काका, आप हँस रहे हैं, लेकिन प्रयोग से इसे वाहियात साबित क्यों नहीं करते हैं? लम्बी बीमारी से पीड़ित आपके पन्द्रह मरीजों को दिन तीन घंटे वृक्षों की छाया में बैठाऊँ?"

"कौन-से वृक्ष की छाया में?"

"आपके घर के सामने जो बरगद का पेड़ है, वही बढ़िया रहेगा।"

डॉक्टर की खास इच्छा तो नहीं थी, क्योंकि ऐसे प्रयोगों में उनका बिल्कुल ही विश्वास नहीं था। लेकिन पौरव ने पवनपुत्र के बल से दबाव डाला और प्रयोग शुरू हुआ।

चार हृदय-रोग के मरीज, तीन चमड़ी के रोगोंवाले, दो ऐपीलेप्सी वाले आदि—इस तरह कई बीमारियाँ वहाँ जमा हो गईं। डॉक्टर ने जो भूमिका दी वह सुनकर तो मूर्ख मरीजों को छोड़कर कोई इस प्रयोग में शामिल न होता। परन्तु

पौरव ने अपनी अनुभवसिद्ध वाणी से उन्हें प्रेरित किया। हर रोज़ पन्द्रह मरीज़ शाम को साढ़े चार से साढ़े सात तक बरगद की छाया में बैठने और सोने लगे और उस वृक्ष से अपना दर्द मिटाने की मौन प्रार्थना करने लगे। पौरव ने एक बात स्पष्ट बता दी कि वृक्ष की चेतन-शक्ति में जिसका विश्वास न हो, वह इस प्रयोग में शामिल न हो। कुछ मरीज़ों को पन्द्रह दिन में स्पष्ट लाभ हुआ। कुछ मरीज़ों का दर्द तो वैसा ही रहा, परन्तु उन्हें भी कुछ मानसिक शान्ति तो अवश्य मिली। डॉक्टरों की दुनिया में खलबली मच गई।

हमारे पुराणों में कहा गया है कि वृक्ष तो गत ऋषि-मुनि हैं। पौरव ने जब यह पढ़ा तो उसे लगा कि उस वाक्य में कुछ गूढ़ार्थ था।

पीपल के वृक्ष के नीचे चारपाई बिछाकर हवा में हिलते उसके पत्तों को देख कर पौरव झूम उठा और विचारों की सृष्टि में उड़ने लगा—

"वृक्ष विशाल है। उसका सिर आकाश से ढँका है। जड़ें पृथ्वी के भीतर में अपनी स्थिरता को ढूँढ़ती हुई, पत्थर को भेदकर भी फैल जाती हैं। शायद वृक्ष, अपनी ऊँचाई को लेकर वातावरण में से किसी विशिष्ट आन्दोलन को पकड़ भी ले। इस पृथ्वी पर मनुष्य के जाने कितने युगों के पहले वृक्ष अपने आसन जमा कर पृथ्वी पर तप करते हुए बैठ गए थे। वृक्ष चल नहीं सकता। अपनी सुरक्षा के लिए वह अपने हाथों जैसी डालियों का उपयोग नहीं कर सकता। वृक्ष अहिंसा का साक्षात् स्वरूप है। सम्भव है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में वृक्ष मनुष्य से बहुत आगे हो। आहार के विषय में वह स्वावलम्बी है। आवश्यक पानी वह पृथ्वी के गहरे स्तर से सोख लेता है। सूर्य की किरणें उसकी जठराग्नि का शमन करती हैं।

अगर मनुष्य वृक्ष से सूर्य की शक्ति द्वारा पुष्टि पाना सीख ले, तो विश्व की क्षुधा हमेशा के लिए टल जायेगी।"

समय में उलटे पाँव चलता-चलता पौरव अपने शैशव काल में पहुँच गया। माँ की कही हुई कृष्ण-लीला की बातें उसे याद आईं। यशोदा ने कृष्ण को उसके उपद्रवों का दंड देने के लिए ओखल से बाँध दिया है। घसीटता हुआ कन्हैया दो जुड़े हुए वृक्षों के बीच से निकल जाता है। वे वृक्ष गिर जाते हैं और उनमें से विष्णु के दो देवांशी द्वारपाल बाहर आते हैं।

इस कहानी के प्रभाव से छोटा पौरव वृक्ष को टकटकी लगाकर देखा करता था। जान-बूझकर वृक्ष के साथ घिसट कर चलता था—यह सोचकर कि शायद अंदर छिपकर खड़ा कोई व्यक्ति एकाएक प्रकट हो जाए।

विचारों की माला गूँथते-गूँथते पौरव की आँखें अद्भुत चीज़ें देखने लगीं—गोया वृक्ष ने अपनी कोमल उँगलियों से पौरव की पलकों को छुआ हो। पौरव दोनों हाथों की अंजलि लिए वृक्ष के पास अपने को वृक्ष बना देने की याचना करता है।

"तुम वृक्ष बनना चाहते हो ? क्यों ?" ऊपर झूम रहे पीपल ने जैसे पूछा।

"ऊँचे होकर मैं आकाश में अपना सिर लगाना चाहता हूँ।"

"कोई तुम्हारे पैर काटेगा तो तुम रोक नही पाओगे।"

"अगर तुम्हारे जैसी सहन-शक्ति हो तो भले ही पैर कट जाएँ।"

"यह अद्‌भुत शक्ति तो लहू ही है। लेकिन तुम्हारा लहू तो लाल है।"

"इसे मैं ज़मीन पर बहा दूँगा। इसके बाद तुम अपना हरा रंग तुम मुझ में बहा दोगे।"

धीरे-धीरे पौरव देखता है कि अँगूठे से लाल लहू ज़मीन पर टपक रहा है। आँखों में पीपल का हरा रंग आने लगा है। सारे शरीर में हरी मौजों की लहरें दौड़ गई है।

पौरव की आँखें विचारों से जाग गई। हरा रंग शेष रह गया। अब पौरव मनुष्य भी है और वृक्ष भी।

(अनु०—सरला जगमोहन)

पहचान



रवीन्द्र पटेल

अभी घर से कुछ दूर ही था कि एकाएक बत्ती जली। अँधेरा होने पर जो घर नज़र नहीं आ रहा था वह मानो कजरारे अन्धकार को चीरकर सामने आ गया। उसने अपनी घड़ी के रेडियम डायल में देखा—बारह बजकर दस मिनट। बड़ी देर हो गई थी। सर्दी भी बहुत थी।

उसने अपना सूटकेस एक हाथ से दूसरे हाथ में ले लिया और तभी उसे लगा कि जैसे उस सूटकेस को उठा लेने के लिए किसी ने हाथ बढ़ाया था। उसने चारों ओर नज़र दौड़ायी, कोई भी नहीं था। परछाईं तक नहीं। फिर भी उसे शक हुआ कि कोई उसके साथ-साथ चल रहा है। जब वह ट्रेन से प्लेटफ़ॉर्म पर उतरा तब भी उसे यही शक हुआ था कि उसके पीछे-पीछे ट्रेन से कोई और भी उतर आया था।

फिर से उसने इधर-उधर देखा। केवल अँधेरा और कुछ साथ में नहीं था। दूर दर्द से कराह रहे कुत्तों की आवाज़ें यहाँ पहुँचने तक तो जम जाती थीं। वह और तेजी से चलने लगा। लेकिन सूटकेस भारी था, इसलिए थोड़ी दूर चलने के बाद फिर उसके क़दम धीमे पड़ गए। सिगरेट पीने की उसे आदत नहीं थी, लेकिन उसने सोचा कि अगर सिगरेट पीने की आदत होती तो इस सर्दी में उसने एक सिगरेट जलाई होती।

चाँदनी रबड़ की तरह खिंचकर यहाँ तक आ रही थी, गोया चन्द्रमा कहीं दूर-दूर निकल आया था। उसने घर की दिशा में देखा। उस घर को उसने देखा जो उसका, केवल उसका ही था।

लेकिन चाँदनी के मलिन उजास में उसका घर बिल्कुल पराया ही बनकर रह गया। दिन में वह घर कुछ अलग ही दिखता था। उसके रूप-रंग की आभा कुछ और ही होती थी। लेकिन इस समय वह किसी त्यक्ता की तरह पालथी मारकर बिल्कुल ही उदास बैठा

था। ऐसा लग रहा था कि कोई परिचित व्यक्ति जानकर पीछा करने वाला वह व्यक्ति कोई और ही है, यह देखकर जैसे कोई झेंपकर लौट जाए, उसी तरह उजाले से अँधेरे में और अँधेरे से चाँदनी में सरकते घर की बदलती पहचान से वह झेंप गया। पहचान भी प्रकाश का अनुकरण करती होगी क्या? उसके मन में प्रश्न उठा।

कुछ भी हो, घर के बारे में तो उसे विश्वास ही था। इसलिए घर चाहे धोखा भी दे, लेकिन वह धोखे में आने वाला नहीं था।

कम्पाउण्ड का दरवाज़ा खोलकर वह अन्दर आया और सीढ़ी चढ़कर उसने कठहरे पर हाथ रख दिया।

दरवाज़ा बन्द था।

लगभग एक हफ़्ते के बाद वह उस दरवाज़े के सामने था। उसने जेब से चाबियों का गुच्छा निकाला और ठण्डे हो गए ताले को खोलने की कोशिश की। लेकिन ताला न खोल सका तो उसने सूटकेस को बाजू पर रख दिया। घुप्प अँधेरा था, इसलिए चाबी को ताले में घुमाने का बहुत प्रयत्न करना पड़ा।

एक आवाज़ उसके कानों में दौड़ गयी, जैसे अपने ही भीतर कोई हँस गया हो। उसने अपने होठों पर हाथ लगाया। नहीं, वह हँसा नहीं था। तो फिर अँधेरा ही हँसा होगा, उसने अपने मन को यह समझाया और फिर हल्के से हँस दिया।

उसने दूसरी चाबी लगाई और उसके आश्चर्य के बीच ताला खुल गया। उसने दरवाज़े को ज़रा-सा धक्का दिया, लेकिन उसे लगा कि दरवाज़ा खुलने की आवाज़ कहीं भीतर से ही आई है।

अगर ट्रेन देर से न पहुँची होती तो कम-से-कम दो घण्टे पहले वह घर आ गया होता। लेकिन···

एक हफ़्ते का पुराना अँधेरा जैसे उछलकर बाहर आया और इस तरह बाहर के अँधेरे में मिल गया जैसे गटर का पानी नदी में मिल जाता है। पल-भर तो उसने यह भी सोचा कि वह घर में नहीं, बल्कि किसी सुरंग में प्रवेश कर रहा है। सूटकेस उठाकर उसने अन्दर ले लिया। 'इ-इ-ई' आवाज़ निकालते हुए उसने दो-तीन बार अपनी हथेलियों को मलकर देखा। कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। घर की सभी चीज़ें उसे देखकर जैसे छिप गई थीं। टटोलता हुआ वह आगे गया। उसे याद आया कि दीवार के पास पाँच-सात क़दम पर एक आला है। हाथ फैलाकर वह टटोलने लगा। उसे लगा कि उसके भीतर भी कोई हाथ टटोल रहा था। मुश्किल से वह गिरते-गिरते बचा। हाथ फेरकर उसने तसल्ली कर ली कि सोफ़ा था। सोफ़ा भी अँधेरे में अपनी आकृति को छिपा रहा था, जैसे वह उसे पहचानने से इन्कार कर रहा हो।

वह आले तक पहुँचा। उसने आले में हाथ डाला। उसे लगा कि माचिस हाथ में आ गई थी। हाथ फेरकर इसकी भी उसने तसल्ली कर ली। शायद उसमें तीली नहीं होगी। यह याद आते ही वह चिढ़ गया। उसने माचिस खोली। तीलयाँ नहीं थीं। माचिस गिरने की आवाज़ फिर से अनजान बनकर उससे लिपट गई।

हूँ ! हूँ ! मुझे क्यों फेंक दिया ?

लगा कोई बोला था। नीरव रात्रि में किसी गहरे कुएँ में बाल्टी गिरने-जैसी वह आवाज थी। उसने आँखें दबाकर मूंद लीं। कुछ देर वह वैसे ही रहा। फिर आँखें खोलीं तो बाहर चाँदनी का कुछ आभास हुआ। अब कुछ दीखने लगा था। एकाएक एक तीली हाथ लग गई। तीली से वह दाँत कुरेदने लगा और साथ ही पछताया कि क्यों उसने माचिस फेंक दी थी।

'तुम ऐसे ही हो ! जाओ, अब उस माचिस को ढूँढ़ो।'

कौन बोला ? दूर से आ रही आवाज़ चेहरा बन गई। एकाएक उसे याद आया कि जहाँ वह खड़ा था, उसके ठीक सामने दीवार से सटकर एक ड्रेसिंग टेबिल था। उसे लगा कि अँधेरे ने उसका प्रतिबिम्ब चुरा लिया था और यही कारण था कि आईने में वह अपने को देख नहीं रहा था।

अब मुसीबत थी माचिस ढूँढ़ने की। घुटनों के बल बैठकर वह माचिस ढूँढ़ने लगा। जैसे ही वह घुटने टेककर बैठा कि समुद्र पर तैरती आ रही हँसी की लहर होठों पर उँगली रखकर उस अंधेरे कमरे में फैल गई। जल-सीकरों की तरह वह हँसी उसके भीतर से उछल पड़ी। गोया उससे बचने के लिए, वह सोफ़े के नीचे घुसा। उसकी उँगलियों को एक हफ़्ते से जमी धूल का स्पर्श हुआ और इसके साथ ही माचिस भी हाथ में आ गई। उसने माचिस उठा ली और तीली उस पर घिस दी। एक चिनगारी हुई, इला के हास्य जैसी। अँधेरे में कोई खोया हुआ गहना मिल जाए, ठीक उसी तरह उसे अपने भीतर इला का नाम मिल गया। और जैसे कोई पेड़ से फेंका हुआ पत्ता झाड़ में अटका हो, उसने उस नाम को अपने भीतर से फाड़कर अँधेरे में भटकता छोड़ दिया।

उसने फिर से तीली घिसी। और उजाला इला के हास्य की तरह कमरे में फैल गया। सुनहरे उजाले में सभी चीजें सामने आ गईं। सामने आईने में वह अपने को ऐसे देख रहा था गोया कोई और ही आदमी अपने को देख रहा हो। नया उजाला ओढ़कर चीजें फिर से अनजान-सी बन गईं। मुद्दत के बाद आईने में अपना प्रतिबिम्ब देखना उसे अच्छा लगा। अब उसे दूसरी तीली ढूँढ़नी थी। उसने फिर आले की ओर प्रकाश डाला। उसे आश्चर्य हुआ कि वहाँ पाँच तीलियाँ पड़ी थीं। उसने सब तीलियाँ उठा लीं।

दूसरी तिल्ली जलाते ही इला का नाम फ़ोटो बनकर ड्रेसिंग टेबिल पर उभर

आया। इला बहुत सुन्दर हँस सकती थी। इसलिए उसमें वह काफ़ी कसर भी रख छोड़ती थी।

जो हँसता है वही हँसी चुराता है, कुछ ऐसी ही बात उसने कही थी। नहीं, उस वक़्त भी उसने कुछ ऐसा ही कहा है लेकिन सुन नही पाया है। उसे ऐसा लगा, जैसे दुबारा बोलकर उसने पहले कहे हुए शब्दों पर लिहाफ़ चढ़ा दिया था। इसके साथ ही उसने हल्की-सी उस वक़्त की हँसी सुनी।

"इला ! कितनी बार तुमसे कह चुका हूँ कि माचिस और तीलियाँ अलग मत रखा करो।"

"ओहो ! एक बार ढूँढना पड़ा, इस पर इतने क्यों झल्ला रहे हो ?"

"लेकिन साथ रखने मे तुमको तकलीफ़ क्या है ?"

"अच्छा, बाबा ! अब से ऐसा ही करूँगी।"

इला ने ऐसा नहीं किया था।

जाने क्यों, इला की यह अजीब-सी धुन थी कि परस्पर सम्बन्ध रखने वाली चीजों को वह हमेशा अलग रखती थी। ताला और चाबी कभी वह साथ नहीं रखती थी। डिब्बा हो तो उसका ढक्कन कहीं और लुढ़कता होगा।

उसके चिढ़ने पर इला कहती—"ज़रूरत पड़ने पर वे सब साथ हो जाएँगे। तुम चिन्ता मत करो।"

फिर यह देखकर कि हवा में कुछ अलग रहा था, वह उदास हो जाती थी।

"हम मनुष्य हैं ही नही; चीज़ें है, चीज़ें ! जब तक आवश्यकता है, साथ हैं और···।"

एकाएक उसके हाथ से तीली छूट गई। ज़रा-सा जल गया वह। बुझी हुई तीली का लाल बिन्दु कुछ देर तक चमकता रहा। उसने एक और तीली जलाई। अब तो लालटेन ढूँढ़नी ही पड़ेगी, वरना यह तीली भी खत्म हो जाएगी और फिर···।

उसने और एक तीली जलाई और उसके उजाले को पकड़कर किचिन में गया। उसका पक्का खयाल था कि लालटेन मिलेगी तो उसका गोला साथ मे नही होगा—और यही हुआ। लालटेन तो मिल गई। सुनहरे उजाले में भी धूल तो उसकी नज़र में आ ही गई। एक फूंक से उसने धूल उड़ा दी। लालटेन को डाइनिंग टेबिल पर रखकर उसने बाती को ऊपर-नीचे करके देखा। इसके पहले कि लालटेन जलने लगे, ठण्ड का एक ऐसा झोंका आया कि उसके दाँत कड़कड़ा गए। लालटेन बुझ गई। उसने सोचा कि गोला जब तक नही मिलेगा, लालटेन नही जलेगी। गोला वह साथ ही रखती तो···।

लेकिन यह बात पूरी तरह उभरे, इसके पहले ही उस खयाल को उसने बीच में ही रोक दिया। इला यहाँ थी नही तो उसे उलाहना देने की बात उसके मन में

कैसे आ गई ?

उसने फिर से तीली जलाई। जैसे ही तीली की ज्योति प्रकट हुई कि उसमें जाने कहाँ से इला का चेहरा जगमगा उठा। क्या मालूम, उसे क्या हो गया कि फूंक से उसने तीली बुझा दी। एकदम ही अँधेरा धुंधला उठा। फिर भी उसे लगा कि जहाँ कहीं भी उजास था, वहाँ इला का चेहरा अब भी हँस रहा था। वह चिढ़ गया। उस उजाले हिस्से में उसने फूंक मारी, गोया इला कोई मोमबत्ती हो। उसने और भी तीली जलाई। उजाला उछल आया। उसने लालटेन जलाई। इस बार हवा कम थी। लालटेन जली। उसने लालटेन को इधर-उधर हिलाया तो परछाइयाँ ताला पकड़ती हुई दीवारों पर सरकने लगीं। उसने लालटेन उठा ली। परछाइयाँ दीवारों पर लहर उठीं। लालटेन के आगे हाथ रखते हुए वह गोला ढूंढ़ने लगा। कहीं से स्टूल ढूंढ़कर वह उस पर चढ़ गया। उसने लालटेन ज़रा-सी खिसका दी। परछाइयाँ कैरम की गोटियों की तरह एक-दूसरे से टकरा गईं। उसे लगा कि भीतर हिंडोला झूल रहा था।

उसने तो सोचा था कि अदालत की सीढ़ियों पर गुडबाइ कह देने से इला के नाम की हस्ती अपने नाम से अलग हो जाएगी और एक हफ़्ते के बाद पुराने घर में प्रवेश करने के बाद वह नए सिरे से जीने का प्रयत्न कर सकेगा। लेकिन समझ नहीं आया क्यों, व्यक्ति जितना ही दूर हो, उसकी छायाएँ हमारी ओर उतनी ही अधिक तेज़ी से दौड़ी आती हैं।

मेरे बिना अँधेरा होगा इस घर में !

इला का स्वर उदास बनकर आँखों के सामने कौंध गया। लालटेन लेकर वह सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। सीढ़ियों की छाया नीचे की ओर खिसक गई।

वह बहुत ही थका हुआ था। भूख भी लगी थी। लेकिन खाने की अपेक्षा सो जाने की इच्छा बलवत्तर थी।

उसने बेडरूम का दरवाज़ा खोलकर अन्दर धकेला। बेड पर किसी ने करवट ले ली थी। वह सिहर उठा।

—रूप ! बत्ती बुझा दो न। मुझे नींद नहीं आ रही है।

—लेकिन बत्ती है ही कहाँ कि···?

वह ज़ोर से बोल उठा। कोई कुछ बोला नहीं था तो इसका उत्तर कैसे दिया गया ? वह कुछ खिसिया गया। उसने पहले के समय को उत्तर दे दिया था।

उसने दराज़ खोली।

ज़ोर से खींचने से दराज़ पूरी की पूरी फ़र्श पर आ गिरी। धड़ाक! लालटेन की रोशनी ने उस आवाज़ को अधिक तेज़ कर दिया।

किसी भी काम को तुम धीरज से करना सीखोगे नहीं क्या ? पहले का सवाल आज के परिवेश में आकर बैठ गया था—कोई साँप छोटी-सी टोकरी में कुण्डली

मारकर बैठ जाए वैसे ही।

उसने आस-पास नज़र फेरी। दीवार पर की इला उसे ऐसे देख रही थी गोया वह आईना हो। पल-भर तो उसे लगा कि अपने भीतर कितने ही आईने खड़े किए जा रहे हैं और उनमें से अनेकानेक प्रतिबिम्ब उछल रहे हैं।

पंछी धरती पर से उड़ जाए फिर भी उसकी छाया धरती को नहीं छोड़ेगी।

पल-भर तो उसे लगा कि वह बकुची बाँधकर खड़ा है और ऊपर से आकाश को ढकते हुए पंख सरकते जा रहे हैं और उस छाया में वह···।

लालटेन जब तक जली नहीं थी तब तक सभी चीज़ें अपने आकार में अपने में ही सिमटकर बैठी थीं, और अब···।

एकाएक शेल्फ़ के पीछे छिपाकर रखे गोले की ओर उसका ध्यान गया। ज्योति थिरक गई और इला का फ़ोटोग्राफ़ अधिक प्रकाशित हो उठा। उसने सोचा कि कंगन पहने कोई हाथ उस गोले को लालटेन में बिठा रहा है।

एक हफ़्ते के बाद उसने घर खोला था या फिर अपने को ही खोलकर रख दिया था। उसने चाहा कि वह सिर पकड़कर बैठ जाए। लेकिन अपनी निर्बलता अपने सामने भी प्रकट न हो, इसलिए छट कहते हुए वह फिर तनकर खड़ा हो गया।

इला का फ़ोटोग्राफ उठाकर उसने अलमारी के खाने में छिपा दिया।

यह तो स्मृति बाहर निकाल फेंकने के बजाय उसे और गहरी गाड़ने जैसी बात हुई।

उसने चीखने जैसी मुद्रा बना ली। जैसे अपने भीतर पाताल-कुआँ हो, उ ने चीखना-चिल्लाना शुरू किया—तुम कहीं नहीं हो, इला, कहीं भी नहीं हो।

लेकिन उसकी आवाज़ चमगादड़ों की तरह कुएँ में टकराती रही।

फिर से वह भीतर में चिल्लाया—इसके बाद सचमुच ही अपना मुँह मत दिखाना।

लेकिन इसके साथ ही इला का चेहरा और आँखें सामने जगमगा गए। वैसे तो नहीं थी, फिर भी थी—माचिस और तीली के बीच, आईने और अपने बीच, दीवार और तस्वीर के बीच। गोला बिठाने को उसने लालटेन नज़दीक खींची तो उसने देखा कि कई दिनों से जमी धूल पर इला की उँगलियों के निशान बने हुए थे। मानो गोले पर से उस सबूत को मिटा देना हो, उसने गोला पोंछ लिया।

—कितनी बार तुमसे कह चुका हूँ गोला और लालटेन साथ रखा करो।

—ज़रूरत पड़ने पर साथ हो ही जाएँगे, तुम चिन्ता मत करो!

···और तब गोया कुछ और कहना हो, इला कान में फुसफुसाई—वह कोई तुम्हारी तरह तो है नहीं कि ज़रूरत हो तब भी साथ होने के बजाय···! उसने फूंककर लालटेन बुझा दी।

(अनु०—सरला जगमोहन)

तमिल

• ना. पार्थसारथी

• सुब्र. बालन

(अनुवादिका—वासवदत्ता पांडेय)

राजतंत्र

□

ना. पार्थसारथी

उस भोज का आयोजन ही इसलिए किया गया था। आयोजक द्वारा आमंत्रित किये जाने का उद्देश्य ही और था। आमंत्रणस्वीकार कर आनेवाला व्यक्ति भी आमंत्रित किये जाने का राज़ समझता था।

इनको उनसे एक राज़ का पता लगाना था। उन्हें उस राज़ को इनसे छिपाकर रहस्यपूर्ण बनाये रखना था।

इनके आमंत्रण पर वह आये थे। कुछ राजनीतिक कारणों से भोज, यह अपने निवासस्थान या दूतावास पर नहीं दे सकते थे। उन्हें भी इनके निवासस्थान पर या दूतावास पर न आ पाने का धर्म-संकट था। लेकिन दोनों की मुलाक़ात का समय निर्धारित किया जा चुका था।

कई हज़ार मील दूर के राज्यों में राजदूत के रूप में इन दोनों की नियुक्ति हुई थी। कई हज़ार मील दूर इन दोनों राजदूतों का देश भी पड़ोसी देश था। आजकल ये दोनों ही एक महादेश में कार्यरत हैं।

एक गुप्त संदेश के अनुसार उनका देश एक शक्तिसंपन्न महादेश के साथ अणु-हथियार समझौता अथवा 'न्युक्लियर अंब्रेला' जैसा एक समझौता करनेवाला है या पहले ही कर चुका है। जिस देश के साथ समझौते या सुरक्षा-प्रबंध की तैयारियाँ की जा रही थीं उसी देश की राजधानी में ये दोनों अपने देश के राजदूत के रूप में नियुक्त थे।

राजधानी से सौ मील दूर समुद्र-तट पर स्थित महँगे होटल के एक लक्ज़री-सूट में भोज का आयोजन किया गया था। उसमें और कोई भी आमंत्रित नहीं था। भोज का वर्णन आपस में इन्फ़ॉर्मल फ्रेण्डली आदि शब्दों से किया जाता रहा। दूतावास से इस भोज का कोई संबंध नहीं था। यह प्राइवेट था, प्योरली प्राइवेट···वीकएण्ड कर्टसी···जैसे नम्रतापूर्ण मधुर शब्द-जाल द्वारा इसका वर्णन किया

गया था।

भोज के आरंभ में ही 'योर इन्फॉर्मेशन कैन अॅलोन ब्रेक द आइस' वाला गुप्त केबल इनके कोट के अंदर की जेब में रखा था।

'नो हार्म···अटेण्ड विद टाईटलिप्स' लिखा केबॅल उनके कोट की अंदरवाली जेब में रखा था।

इनके एवं इनके परिवार के सदस्यों के स्वास्थ्य की कामना में चीअर्स का आदान-प्रदान हुआ। इनके साथ ही प्रारम्भिक औपचारिकता समाप्त हुई।

पहले राउण्ड की बातचीत का विषय था—लेटेस्ट ब्लू फ़िल्म···देश में किस नवयुवती का अंग-संचालन सुन्दर है, कौन-सा सेंट खुशबूदार है? इसके अतिरिक्त अन्य दिशा में बातचीत का विषय बदला ही नहीं, बदलने से मानो इनकार करता था—यही कहना चाहिए कि वहीं अड़ा रहा।

दूसरे राउण्ड की बातचीत का विषय 'न्यूक्लियर साइ' में नोबेल पुरस्कार-प्राप्त वैज्ञानिकों के बारे में था। चर्चा चलाकर बातचीत को धीरे से रोक दिया। इनका अनुमान था कि मात्र इंगित से 'न्युक्लियर अंब्रैला' तक विषय की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

उन्होंने भी मौक़ा हाथ से जाने नहीं दिया। सतर्कता से कहा—'यू नो··· बेसिकली आई अॅम् ए लिट्ररी मैन···आइ अॅम नॉट इण्ट्रेस्टेड इन साइंस्।"

"मे बी, बट नाउ-ए-डेज साइंस् डिसाइडस एवरीथिन्ग।"

"डिड् यू रीड जॉन कीमन्स लेटेस्ट बुक ऑन एग्जिस्टेंशलिज्म?"

जवाब दिये बिना ही वह टेबिल पर रखे चीज़ के टुकड़ों में से एक टुकड़े को मुंह में डालते हुए बोले—"आपने डेनिश चीज़ खायी है? असली चीज़ का स्वाद तो वहाँ की चीज़ खाने में ही आता है।"

"मुझे चीज़ ज्यादा पसंद नहीं है, मैं इसका कैसे जवाब दे सकता हूँ?"

दूसरी बोतल भी खुल गयी। पर इन्हें अपने प्रयास में रंचमात्र भी सफलता नहीं मिली।

शाम का सुहावना समय। समुद्री तट पर अंबरैला के नीचे दोनों बैठे थे। अपने विश्वास को खोये विना बातचीत की शुरुआत हुई।

"इस समय हम दोनों को मिलकर एक साथ बैठने में जैसे यह छाता काम में आ रहा है वैसे ही सब देशों की सुरक्षा के लिए अंबरैला प्रबंध की आवश्यकता पड़ सकती है न?"

उन्होंने इसका जवाब ही नहीं दिया; एक-दो मिनट चुप रहने के बाद—"सेब के अधिक उत्पादन से उसके पहाड़ जैसे अंबार लगे पड़े हैं। बाज़ार में दाम गिर न जाएँ—इसी लिए इन अंबारों में पड़े सेवों को समुद्र में फेंका जा रहा है, जिससे दाम में गिरावट न आ जाये।" चर्चा कर उन्होंने बातचीत का मुद्दा ही बदल दिया।

"अणु-हथियार, व्यवस्था एवं अणु-हथियार से सुरक्षात्मक खोज जैसी चीज़ को जब तक विश्व से नहीं हटायेंगे, तब तक विश्व के देश शान्त एवं निर्भीक जीवन नहीं बिता सकते।" इन्होंने कहा।

एक बार 'सिप' कर उन्होंने पूछा।

"हरे कृष्णा मूवमेंट रूस में भी प्रवेश कर चुका है, आपने पढ़ा ही होगा!"

और एक चीज़ के टुकड़े को मुँह में डालकर खाने के बाद इन्होंने धीरे से कहना शुरू किया—"सैनिक गठबंधन की तैयारी द्वितीय विश्व महायुद्ध के समय जैसी कारगर सिद्ध हुई थी, वैसी आजकल कारगर नहीं हो पा रही। गठबंधन परस्पर धोखा देने के काम में ही आता है।" उन्होंने छूटते ही उसका जवाब दिया।

"मेरे पिता ने द्वितीय विश्व महायुद्ध में वीर सैनिक के रूप में देश की सेवा की थी और भी बहुत सारी बातें बताई थीं।"

"दो पड़ोसी देश मिलकर आपस में मैत्री एवं सद्भावना के साथ न रह सकें, संधि भी न कर सकें, इसलिए संकटमय स्थिति पैदा कर महाशक्ति-सम्पन्न देश गुप्त रूप से बीच में आकर उनमें से एक देश को अपनी सैनिक शक्ति के जाल में फँसा लेता है। इससे उत्पन्न होनेवाले तनाव से विश्व की शान्ति में बाधा पहुँचती है।"

"हाँ। 'विश्वशान्ति' मंत्र के समान बार-बार उच्चरित होनेवाला एक मधुर शब्द है।"

"हा-हा! लगता है थोड़ी ढील दे रहे हैं इसी विश्वास में···मंत्र सभी प्रयोजन की सिद्धि एवं निकट-भविष्य में परिणाम की आकांक्षा करते हुए उच्चरित होते हैं।"

"हो सकता है—बट आई नेवर बिलीव वर्ड डेकोरेशन। डेकोरेशन वर्ड्स विल सर्व नो पर्पज़।"

"शांति अर्थात् विश्वशांति एक सजावट या आलंकारिक शब्द तो नहीं है। सौंदर्य प्रदान करनेवाला आडम्बरयुक्त शब्द भी इसे नहीं कहा जा सकता।"

"कार्य रूप में परिणत कर दिखाने की अपेक्षा आलंकारिक शब्दों का प्रयोग कर कार्य साध लेना मानो दुनिया का रिवाज़-सा हो गया है।"

"उस रिवाज़ को दूर करने का प्रयास क्या आज हमें नहीं करना चाहिए?"

"रिवाज़ अपने-आप छूट जाता है और पड़ भी जाता है। अगर हम चाहें तो उसे अपने आप दूर नहीं कर सकते।"

इसके साथ एक राउण्ड बातचीत समाप्त हो गई। इस बातचीत से कुछ भी मालूम नहीं हो सका। थकावट के कारण वह आराम करने चले गये। दूसरे दिन सुबह एयर पोल्यूशन के बारे में बातचीत शुरू हुई। उस दिन कई-एक पोल्यूशंस

के संबंध में चर्चाएँ होती रहीं। दिन में समुद्र-तट पर सन-बाथ लिया। तब भी 'आइस ब्रेक' नहीं हुई। इन्हें जो जानकारी लेनी थी, वह भी न ले सके। जिसकी जानकारी वह नहीं देना चाहते थे, उसे जताने के लिए उनके पास समय ही नहीं था।

उस दिन शाम दोनों को हेडक्वार्टर्स लौटना था। दूसरे दिन दोनों राजदूतों का सप्ताह का पहला कार्य-दिवस था। दोनों को अपनी-अपनी राजधानी से भरा हुआ डिप्लोमेटिक बैग पहुँच गया होगा।

लग्ज़री सूट और बीच रेस्टोरां के इन दोनों के बिल चुकाने का समय भी आ गया। इन्होंने क़रीब छह हज़ार डालर का भुगतान कर हिसाब चुकाया। उन्होंने उनको रिवाज के अनुकूल शुक्रिया अदा किया और दूसरे सप्ताहान्त सत्तर मील दूर स्थित एक पहाड़ी प्रदेश मे आने का निमंत्रण भी दे दिया। इन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। स्वीकार करने से इन्कार कर नहीं सकते थे। ऐसा करना उचित भी न होता।

वह सप्ताहान्त मानो क्षण में बीत गया। वीक-एण्ड भी आ गया। 'एमराल्ड हिल्स' ट्रिप शुरू हो गया। रिवाज के अनुसार एक दूसरे के स्वास्थ्य की कामना 'टोस्ट' कहकर की, परस्पर 'चीयर्स' का आदान-प्रदान हुआ और बातचीत का दौर शुरू हुआ। बातचीत का विषय गार्डनिंग, बॉटनी, फ़्लोरा और फ़ोना के चारों ओर ही चक्कर काटता रहा। उस पर्वतीय प्रदेश में सेंट्रल हीटवाले कमरे में पेड़-पौधे, लता-पुष्प आदि के बीच बैठे दोनों घबरा उठे थे।

दूसरे राउण्ड में ड्रिंक्स भी रहस्योद्घाटन में सहायक सिद्ध न हुआ। ग्रीक माइथोलोजी, अक्रोपुलिस आदि के बारे में ही चर्चा चलती रही।

तीसरे राउण्ड में स्कॉच व्हिस्की के विशेष गुण वोदका में भी आ सकते हैं या नहीं—इस विवाद में ही आराम से समय टल गया।

सात हज़ार तीन सौ डालर और पचास सेंट का बिल आया। मुस्कराते हुए उन्होंने बिल का भुगतान किया। इन्होंने शुक्रिया अदा कर अगली बार खुद होस्ट बनने की इच्छा व्यक्त करते हुए निश्चित स्थान भी उन्हें सूचित कर दिया। उन्होंने भी खुशी के साथ उस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। 'अम्ब्रैला' के ही बारे में कुछ पता नहीं चल पाया। दो ग़रीब देशों के सीमित अन्य आर्थिक ख़र्च में से और कितने हज़ार खर्च करें कि तथाकथित रहस्य को जानने एवं जानकारी प्राप्त न हो जाए की सुरक्षा हेतु खर्च करना होगा, मालूम नहीं।

'विण्टर कण्टिन्यूस समर केन ब्रेक द आइस' कोडवर्ड का टेलेक्स राजधानी भेजकर वह दूसरे वीक-एण्ड का इंतज़ार करने लगे।

(अनु०—वासवदत्ता पाण्डेय)

फूल का गमला



सुब्र. बालन

रंगैया खड़ा देखता रहा। नौकरी में परवशता जो थी···उससे यही हो सकता था। "साहब···आप जो कह रहे हैं···ग़लत है। ऐसा न कीजिए···।" भला यह उनसे वह कैसे कह सकता था?

मालूम नहीं क्यों? नये साहब बड़ी जल्दी अपने कमरे से बाहर निकलकर खिले हुए सुन्दर गुलाब के पौधे के पास आकर ऐसे खड़े हो गये, मानो उन्हें वहाँ खड़े होने के लिए पहले से किसी ने हिदायत दी हो। खड़े-खड़े सिगार को थोड़ी देर भीगने तक मुँह में दबाये रखा और जाने का विचार आते ही उन्होंने माचिस की तीली को माचिस की डिब्बी से न सुलगाकर घिसकर सुलगाया। धीरे-धीरे धुएँ को अन्दर की ओर खींच कर बाहर छोड़ने में सिगार की नोक की आग जलकर बुझ चुकी थी।

रंगैया को उस सबसे कोई मतलब नहीं था। सिगार पीते हुए धुएँ को बाहर छोड़ना जैसी छोटी बात पर संगीत के समान रस लेकर आनंदित होने वाले अपने साहब के प्रति उसके मन में रंच-मात्र आदर-भाव भी उत्पन्न नहीं हुआ। चिन्ता अगर थी तो मात्र एक बात की, जो उस गुलाब के पौधे के इर्द-गिर्द केन्द्रित थी। सिगार से झड़ने वाली राख ही उसकी असहनीय पीड़ा का कारण बनी।

रंगैया उस आफ़िस में चपरासी के रूप में नियुक्त था। वह माली का काम नहीं करता था फिर भी उस आफ़िस के चारों ओर नाना प्रकार के खिले फूलवाले पौधों के मिट्टी के गमलों से उसे बहुत ज्यादा लगाव था। इसके पहले साहब के अवकाश प्राप्त करने तक इन पौधों की देखभाल करने, उनमें खाद डालने जैसे कामों में रंगैया ही सहायता किया करता था।

"साहब! फूलों के पौधों पर तम्बाकू की राख नहीं पड़नी चाहिए।···चाहिए तो···सिगरेटदान को यहाँ ले आऊँ···राख

उसमें गिराइए साहब···।" इस बार भी वह यही कहना चाहता था पर वह अपने विचारों पर नियंत्रण कर चुप हो गया।

नये साहब के आने के बाद पुराने साहब के बारे में कोई चर्चा करें तो वह खतरनाक भी बात है। डर-डर कर जीना भी कोई जीना है? वह थक-सा गया था।

कल तक पुराने साहब के गुणों का वर्णन कर उनकी चापलूसी करने वाले मैनेजर, एकाउण्टेण्ट आदि सभी लोग आज नये अधिकारी के साथ आसानी से अपने विश्वास का आदान-प्रदान कर रहे थे। एक मामूली चपरासी के लिए यह सब सोचना क्या उसके हित में हो सकता है? ऐसी बातें तो बड़े लोगों की हुआ करती हैं। गुलाब के पौधे की बात तो छोटी-सी बात है। पुराने साहब रोज उस गुलाब के पौधे की देख-भाल वैसे ही करते जैसे एक बच्चे का पालन-पोषण करते हैं। उनका नियम था कि उसमें निकलने वाली नई कोंपलों और नयी कलियों को रोज देखकर प्रसन्नचित्त हो अपने ऑफ़िस जाया करते।

अब तो वह अवकाश प्राप्त कर चुके हैं। पन्द्रह सालों से परिचित बाग-बगीचा, इमारतों एवं लोगों से उन्हें बिछुड़ना पड़ रहा है। ये सब उनके लिए पराए हो चले हैं।

रंगैया को आज भी अच्छी तरह याद है—घनघोर बरसात के एक दिन इस पौधे को खरीदकर लाये थे और कहा था—"रंगैया, अच्छी नस्ल है, सावधानी बरतना···!" खुद अपने हाथों से उन्होंने गमले की मिट्टी में खाद मिलाकर उस पौधे को लगाया था।

मैनेजर से कर्मचारी तक में यही चिन्ता व्याप्त थी कि साहब का लगाया पौधा अच्छी तरह जड़ पकड़ जाये और वे लोग इसके लिए प्रार्थना भी करते रहे थे।

पौधा ठीक तरह जम गया था, उसमें नयी-नयी कोंपलें अंकुरित होने लगी थीं। पहली बार जब उसमें कली फूटी तो उसे देखकर साहब छोटे बच्चों की तरह ताली बजाकर खुशी से झूम उठे थे। उनकी खुशी में साथ देने के लिए अन्य लोग भी ताली बजाकर अपना आनन्द व्यक्त कर रहे थे।

उस दिन से आज का दिन है। इन सब घटनाओं का मौन प्रत्यक्षदर्शी रंगैया ही है। सबके सहयोग, स्नेह और सलाह से वह पौधा हरा-भरा हो बढ़ने लगा। उसमें बहुत सारे गुलाब के फूल खिलने लगे।

जब तक साहब थे, उन्होंने अपने हाथ से एक फूल भी नहीं तोड़ा। वह कहा करते—फूल के सौंदर्य को उसके पौधे पर ही देखना चाहिए।

रंगैया को आफ़िस की चौकीदारी से हटाकर गुलाब के पौधों की देख-रेख के लिए नियुक्त कर दिया गया था।

दिन में न जाने ऑफ़िस में कितने ही लोग आते-जाते रहते। रंगैया उस

ध्यस्त समय में भी किसी को उस गुलाब के पौधे के पास तक जाने की अनुमति नहीं देता था।

अब तो वे सब बातें बहुत पुरानी पड़ चुकीं। साहब पौधे के पास खड़े हो जाते और निर्निमेष दृष्टि से एक बार उसे प्यार से देखते और चले जाते।

अवकाश प्राप्त कर जब वे जाने लगे, न तब मालूम उनके मन में क्या विचार आया कि उन्होंने रंगैया को बुलाकर उसके हाथ में एकदम नया दस रुपये का नोट थमा कर कहा—"गुलाब के पौधे की देख-भाल सावधानी से करना रंगैया !" उनकी बात सुनकर रंगैया को लगा जो व्यक्ति गोशाला ही छोड़कर जा रहा हो उसे लाल सांड की क्या चिन्ता ?

साहब के स्वभाव से वह परिचित था। दस रुपये के नोट को खर्च न करके उसने अपने बक्से में सावधानी से रख दिया था। वह पौधे की ही रक्षा नहीं कर पाया था।

जब वह अतीत की स्मृतियों से उबरा तो उसकी आँखों में भविष्य तैरने लगा। नये साहब सिगार पीकर चले गए। गुलाब के पौधे के नीचे की मिट्टी में बुझाने के लिए ठूँसे गए सिगार के टुकड़े कभी बुझते और कभी जलते आँख-मिचौनी खेल रहे थे।

रंगैया ने जल्दी-जल्दी बाक़ी बचे सिगार के टुकड़ों को उठाकर घृणा से बाहर फेंक दिया। इनके साथ कैसा सलूक करें कि ये सुधर जाएँ, इसी असमंजस में जिस मार्ग से साहब गये उसकी ओर वह टकटकी लगाये देखता रहा। उसके बाद कंधे पर पड़े तौलिए को ज़ोर से झाड़कर फिर उसे अपने कंधे में डाल लिया।

उसने निश्चय कर लिया कि अपनी आँखों के सामने क्रोटंस पौधे के समान गुलाब के पौधे को नाश होते देख अब और चुप्पी साधकर नहीं रह सकता। इससे तो अच्छा यही कि सभी बकरियों को एकबारगी खोलकर चरने के लिए छोड़ दे। दया, समभाव, रसिकताहीन मनुष्यों के जाल में फँसकर नष्ट होने से कहीं अच्छा है—एक बकरी को पेट-भर खिलाकर पुण्य कमाना।

सुबह से रंगैया परेशान था। ऐसे ही समय मन में क्रूर विचार उत्पन्न हुआ करते हैं।

इसी समय बेसुरा-सा कॉलिंग बेल बज उठा। कॉलिंग बेल के स्वर के साथ ही साहब की नाराजगी भी पहली मंज़िल से मानो नीचे तक पहुँच गयी। बात जाने बिना ही लोग हड़बड़ी में इधर-उधर भागने लगे। अन्दर ज़ोर-ज़ोर से शोर-गुल सुनाई पड़ रहा था। उससे तो यही लग रहा था, न जाने, बिना कारण ही कौन डाँट का शिकार हो गया है।

रंगैया ने अन्दर जाने के लिए दरवाज़े से जैसे ही धीरे से झाँका, तो क्या देखता है कि क्रुद्ध मैनेजर लाल आँखों से बाहर निकल रहे हैं। लेकिन उनका

यह क्रोध कुछ क्षण टिकता, ऐसा ही कहना चाहिए, क्योंकि साहब ने जैसे उन्हें डाँटा था ठीक उसी तरह वह भी एकाउण्टेण्ट या अन्य किसी अधीनस्थ अधिकारी को डाँटकर अपना बोझ हल्का कर लेते।

रंगैया का झाँकना था, कि बेचारा फँस गया।

"निकम्मों की तरह खड़े-खड़े क्या देख रहे हो? फुर्तीले बनो! चिन्नैया कॉफ़ी लाने गया था। अभी तक उसका कोई पता नहीं···साहब की मीटिंग है। देर हो रही है···उन्हें जाना नहीं है क्या? भागकर जाओ···जल्दी से उसे साथ लेकर आओ!"

रंगैया जब जल्दी-जल्दी बाहर निकला तो क्या देखता है कि चिन्नैया आराम से चला आ रहा है। उसे डाँटकर जब अन्दर भेजा तो बात का पता चला, पौधे की एक शाखा से एक पत्ती फूटती दिखलाई दे रही थी।

पौधे की शाखाएँ हवा में झूल रही थीं। देखने से लगता था मानो वह कह रहा हो—" भले ही मुझे कोई उपेक्षा की दृष्टि से क्यों न देखे, मै तो खिल रहा हूँ।" रंगैया की आँखें भर आयीं।

तुम्हारे लिए शीघ्र ही एक बढ़िया उपाय सोचता हूँ—उसने कहा। उसके मन में बिजली की कौंध के समान एक पल में विचार उत्पन्न हुआ—क्यों, ऐसा करें तो कैसा लगेगा?

"लो, इस कूड़ा-करकट को आँखों से दूर ले जाकर कहीं फेंक दो! नहीं तो कोई ले जाने के लिए कहे उसे दे दो। जहाँ देखो वहीं कीड़े-मकोड़े और कूड़ा-करकट!" साहब जब नये नये आये थे, झुंझलाते हुए उन्होंने कहा था।

एकाउण्टेण्ट साहब के एकाउण्ट बन्द करने का समय हो चुका था। वह एकाउण्टेण्ट के पास जाकर बोला—"बाबूजी, बाहर गुलाब का जो पौधा है न, आप उसका दाम लगाकर बता दीजिए···दामाद साहब माँग रहे थे और कह रहे थे कि उनके ऑफ़िस में ऐसे पौधों की ज़रूरत है"—कहना झूठ तो है पर यह बहाना ठीक रहेगा। और ऐसा कहने में कोई ग़लती भी नहीं।—रंगैया ने जाकर उनसे पूछ ही लिया।

मैनेजर और एकाउण्टेण्ट आपस में न जाने क्या मज़ाक़ करते हुए अंग्रेज़ी में बातें कर रहे थे।—"ठीक है रंगैया दस रुपये देकर इसे ले जाओ। रुपये देकर रसीद जल्दी कटवा लेना···।"

रंगैया की खुशी का ठिकाना न था। घर में सावधानी से बचाकर रखे दस रुपयों का हवाला देकर एकाउण्टेण्ट बाबू से दस रुपये उधार लिए और रसीद कटवाकर वह बाहर आया। फूलवाले गमले का बिना हिलाये-डुलाये साइकिल कैरियर पर बाँध लिया। उसे लगा, ऐसे में वह साइकिल चला नहीं सकता। अत: धकेलकर साइकिल को बाहर ले आया।

रंगैया रास्ते-भर इसी सोच-विचार में उलझा था कि पुराने साहब को देखे हुए बहुत दिन हो गए। उनसे इसके बारे मे बात नही करेगा—और वह कह देगा कि साहब को यह गुलाब का पौधा बहुत पसंद था, इसीलिए ऑफिस से माँगकर ले आया। ऐसा कहने से शायद वह गमले को रख ले।

आध घण्टा चलने के बाद दूर से उसे उनका बँगला दिखलाई दिया। फाटक खोलकर अन्दर साइकिल को एक किनारे खडी कर कॉल-बेल बजायी।

पता नही, कौन अन्दर से आया। "साहब है ?" रंगैया ने पूछा।

"कौन हैं तुम्हारे साहब ? वह तो मकान खाली कर कोयम्बतूर चले गये। उन्हें गये दो माह हो गये, तुम्हे नही मालूम?" उस महिला ने जब उससे पूछा तो रंगैया के मन के किसी कोने मे तकलीफ-सी महसूस हुई।

रंगैया चुपचाप लौट आया। साइकिल मे बाँधकर लाए गए गुलाब के गमले का क्या होगा ? घर ले जाने पर वहाँ उसे बकरी खा जायेगी, इसे वह अच्छी तरह जानता था।

इसी उलझन मे वहाँ से चला आ रहा था। साइकिल के कैरियर में बँधा गुलाब का गमला अब बहुत भारी लगने लगा था।

किसी ने उसे बुलाया।

"ए भाई !···गुलाब का पौधा बेच रहे हो क्या ? कैसे दे रहे हो ?" नवयुवती ने पूछा। उस समय तक रंगैया को यह सूझा ही नही था कि वह आवाज लगाकर बेच भी सकता है। उस नवयुवती के अत्यधिक उत्साह एवं आनन्द ने मानो उसके मुँह को बन्द कर दिया था। वह बोल भी नही सका। उसकी आँखे डबडबा आयी थी। इसका दाम वह क्या और कैसे बतायेगा ? भ्रमित अवस्था मे उसने साइकिल उसके घर के आगे खडी की। रस्सी से बँधे गमले को साइकिल से सावधानी से उतारकर नीचे रखा।

"दाम कुछ भी मत दो ! तुम तो मेरी बेटी के समान हो···इसकी देखभाल सावधानी से करने का आश्वासन दो, बस ! मुझे और कुछ नही चाहिए। बिना दाम के ही दे जाऊँगा। किसी दिन इधर से निकलते समय·· कभी मेरा मन इस पौधे को देखने का हुआ तो चला आऊँगा। इसके लिए तुम अगर तैयार हो तो बोलो···झिझकना नही बेटी।"—उसकी आँखे सजल हो आयी।

वह बडे विचित्र ढंग से उसे देख रही थी। उसके देखने से लगता था, जैसे वह सोच रही हो कि वह उस पर विश्वास कैसे करे स्वभावतया मन मे उठने वाले सदेह से अपने आपको मुक्त नही कर पा रही थी। उसके जवाब देने तक उससे खड़ा नही रहा जा रहा था। मौन को स्वीकृति समझकर वह बाहर चला आया···।

वह अब भी उसे और उस मार्ग को देखती खडी रही, जिस मार्ग से वह गया था।

(अनु०—डॉ० वासवदत्ता पाँडेय)

तेलुगु

• विविन मूर्ति

• अल्लम शेषगिरि राव

(अनु०—पी. वी. राव, पी. अनुराधा राव)

एक डग



विविन मूर्त्ति

लड़की ने पलकें उठाईं। लड़के की आँखों से आँखें मिलीं और लड़की की नजरें झुक गईं।

बड़े-बूढ़े आपस में ढूँढ़-ढूँढ़ के रिश्ते-नाते जोड़ रहे थे। उनमें चुहलबाज़ी भी चल रही थी। बिचौलिया दोनों पक्षों के अजनबीपन को कम करने की कोशिश कर रहा था।

छोटे बच्चे आश्चर्य-चकित से देख रहे थे। उनकी नजरें कभी बड़ों की ओर तो कभी उनके सामने रखे हुए नाश्ते की ओर, तो कभी लड़की की ओर घूम जाती थीं।

खिड़कियों से चौधरानियाँ झाँक-झाँक कर देख रही थीं। हलचल, शोर और भीड़ का माहौल था।

उन्हीं के बीच दो दिलों में और दूनी चार आँखों में हरकत।

"भाई साब, जो कुछ पूछना है पूछ लीजिए। मेरी भतीजी निस्संकोच सब कुछ बता देगी।" हेडमास्टर बुद्धिराजू ने कहा।

"अच्छा बेटे, तुम्हारा नाम क्या है?" लड़के के बाप ने पूछा।

"जी, ललिता!"

"कहाँ तक पढ़ी हो?"

"आठवें दर्जे तक।"

सब छोटे-छोटे प्रश्न थे। एक गाना हुआ, फिर चाल भी देखी गई।

मूर्ति को यह सब नागवार लग रहा था। छी: ! क्या सोच रही होगी। जैसे जानवरों के लच्छन देखे जा रहे हों।

ललिता, जैसा कहा जाता, करती जा रही थी। क्या वह पसंद आयेगी? क्या यह उसकी आखिरी नुमाइश साबित होगी?

"बच्ची को अन्दर ले जाइए, बहिनजी।"

बुजुर्ग उठ खड़े हुए।

बाहर जाने के लिए बच्चे उनसे पहले ही दौड़ पड़े। हलवाहे

ने बैलगाड़ी जोत रखी थी। सब बच्चे गाड़ी में चढ़ने लगे। एक बुजुर्ग उनको डाँट रहे थे। बच्चे रोने लगे।

"अच्छा, आज्ञा दीजिए !" लड़के के पिता ने कहा।

"मुझे और मेरे भाई को आपके पत्र का इंतज़ार रहेगा।" बुद्धिराजू नेकहा।

"लड़के की माँ से मशविरा करके आपको पत्र लिखूंगा।"

"उनका क्या है? फ़ैसला तो आपके हाथ में ही है।"

"अच्छा, चलते हैं। चलो बेटे ! उस गाड़ी में बैठो।"

"चलिए। पहले जलदर्शन कराके चलते हैं।"

अँधेरे से उजाले में···भूख से अन्न की ओर···दो प्रकाशपूर्ण नेत्र···प्रकाश-पूर्ण दो नेत्र।

चारों आँखों की इच्छाएँ पूरी हुईं, कम से कम ऐसा लगा, जैसे पूरी हो गई हों। बीच में किसी का हस्तक्षेप।

गाड़ी आगे बढ़ रही थी। गाड़ी के ताड़ के पत्तों के छाजन से···गाड़ी के हिचकोलों से···आगे बढ़ती आँखें। खिड़की से देखती आँखें जो पिछड़ गईं।

"आपकी लड़की मेरे बेटे को पसंद आई। अब हम लोग बातचीत कर सकते हैं।"

"भाई साहब। मैं ठहरा कम उम्र का। ऐसे कार्यों में कभी हिस्सा नहीं लिया। रही लड़के की योग्यता की बात। आपने जितने का ज़िक्र किया, उससे अधिक ही दिया जाना चाहिए।"

"परन्तु आप मेरे सामर्थ्य का भी ध्यान रखें !" लड़की के पिता नारायण ने कहा।

"अगर आप दोनों ही अड़े रहेंगे तो बात कैसे बनेगी? बूढ़ा हूँ, मैं ही फ़ैसला किये देता हूँ। मेरा छोटा भाई छह कह रहा है। आप आठ कह रहे हैं। सात की संख्या शुभकारक नहीं होती, इसलिए छह तो दहेज मान लेते हैं—और एक सास और ननदों के लिए भेंट मान लेते हैं। अब रही···" बुद्धिराजू ने कहा।

"भैया, भैया ! कुल मिलाकर छह के लिए तैयार होना ही मेरे लिए ऊँची उड़ान है।" नारायण ने कहा।

— "ठहरो यार ! तुम नहीं दे सकते तो मैं ही दे दूंगा। क्या मेरे लिए वह लड़की पराई है? मेरी माँ की चचेरी बहिन की पोती है। अब रही रेशमी धोती और चाँदी के ढक्कनदार लोटे की बात ! रेशमी धोती मेरा भाई खरीदेगा। चाँदी का लोटा भाई साहब बनवा लेंगे।"

"आपने जो फ़रमाया वह रीति-रिवाज के अनुसार नहीं लगता, भाई साहब" लड़के के बाप ने कहा।

"रीति-रिवाज के अनुसार क्या है आजकल ? बूढ़ा हूँ, कुछ कटु भी कह दूँ तो बुरा मत मानना। सामर्थ्य के अनुसार अपनी लड़की को दे-दिवा कर विदा करना रिवाज था एक ज़माने में। अपनी शक्ति के बल पर दूसरे को झुकाना आजकल की रीति है। अब रही···"

"बुजुर्ग ठहरे। आपकी ही सही," लड़के के बाप ने कहा।

"ठीक कहा आपने। छोटे भाई, ऐसे कार्यों में ज़िद से काम नहीं चलता।"

"ठीक है भैया। जैसा आप कहें।"

"एक छोटी-सी बात रह गयी है," लड़के के बाप ने कहा।

"कोई बात नहीं। फ़ैसला किये देते हैं। बोलिए।"

"मेरे बेटे मूर्ति का कहना है, शादी में जल्दबाज़ी नहीं होनी चाहिए।"

"क्या···क्या ?"

"अगर वह राज़ी नहीं है तो यह मत सोचिए कि हम ज़बर्दस्ती उससे हाँ करवाएँगे। "नये ज़माने का लौंडा है। एक साल की मोहलत माँग रहा है।"

"क्या कहते हो, छोटे भाई ?"

"आप जैसा उचित समझें वैसा ही करें, भैया।"

"एक साल कौन-सा लम्बा अरसा होता है। पलक झपकाते साल निकल जाता है। अब ताम्बूल[1] ले लें तो कोई हर्ज नहीं। क्या ख़याल है, भाई साहब ?"

"बहुत बढ़िया।"

"प्रिय ललिता !

यह पत्र देखकर तुम्हें आश्चर्य होगा। आनंद भी होगा। तुम्हारे इर्द-गिर्द मूर्ख मानवों की नज़रें तुम्हें बींध रही होंगी। उनकी नज़रों में छुपी ईर्ष्या की वजह से तुम्हारे दिल की धड़कन बढ़ गयी होगी। तुम्हारे माथे पर पसीने की बूंदें उभर आई होंगी।

लेकिन तुम्हें लिखना आवश्यक हो गया है। मैं इस एक साल की अवधि को तुम्हें अपनी इच्छाओं और विचारों के अनुरूप ढालने में लगाऊँगा।

धैर्य के साथ जवाब लिखना।

ख़ूब आराम से लिखना।

मैं रात-दिन तुम्हारे पत्र का उत्सुकता से इंतज़ार करता रहूँगा।"

"ससुरजी !

मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मेरा ललिता को लिखा पत्र आप पढ़ेंगे

---

1. सगाई

या पढ़ने की धृष्टता करेंगे और जवाब लिखेंगे। कुछ आदमी सब-कुछ करने को तैयार रहते हैं।

हम होनेवाले पति-पत्नी हैं।

कुछ ग़लत काम तो नहीं किया ? मैं भी भला-बुरा समझता हूँ।

अब रही आपकी इजाज़त की बात।

मैं यह ज़रूरी नहीं समझता।

मैंने पिताजी से कहा था कि पत्र-व्यवहार की बात आपसे कह दें। मैंने सोचा, उन्होंने आपसे कह दिया होगा।

कम से कम अब तो पत्र ललिता को दे दीजिए।

कहिए, जवाब लिख भेजे।"

"शादी तो हुई नहीं। इसके ये रंग हैं। शादी के बाद मेरी लड़की का क्या होगा ? बस यही मेरी चिन्ता है, भैया।"

"............"

"अपने पिता के प्रति कुछ आदर की भावना रखता हो तो ठीक था···सो वह भी नहीं है···।"

"जाने भी दो। आजकल के लड़कों का ढंग ही ऐसा है।"

"आज वह चिट्ठियों की बात कर रहा है। कल सिनेमा चलने की बात कहेगा। चलो, भेज देते हैं। फिर परसों कहेगा, कमरे में भेज दो।"

"छीः-छीः ! ऐसी बातें मत सोचो।"

"आप ठहरे हेडमास्टर—पढ़े-लिखे। आपका जैसा धैर्य मैं कहाँ पाऊँगा। क्या मुसीबत है !"

"लड़की से पूछ लेते !"

"वह तो बौड़म है। उसे क्या मालूम।"

"क्यों नहीं मालूम ! सिनेमा देखती है, उपन्यास पढ़ती है।"

"सिनेमा···उपन्यास ! आजकल यही तो बच्चों को ज्ञान देते हैं।"

"तुम मेरी हर बात काट देते हो तो मैं क्या कहूँ ?"

"............"

"नई पीढ़ी के लोग हैं। नए विचार होंगे। औरतों के सुख-दुख का ध्यान वे ही हमसे ज्यादा रखते हैं। हम लोग तो दिन में पत्नी से बात करने में कतराते थे; ये लोग तो दिन-रात कमरे के किवाड़ भेड़े रहते हैं। हम लोग लाड़ के लिए भी बच्चों को नहीं उठाते थे। अब ये लोग बच्चों का मल-मूत्र भी साफ़ करते रहते हैं।"

"ख़ैर ! आख़िर आपका फ़ैसला क्या है ?"

"कोई नुक़सान नहीं है। देखना कि लड़की को उसका पत्र मिल जाये। इच्छा हुई तो जवाब देगी···।"

"अरे, वह क्या जवाब देगी। पूछेगी—पिताजी, क्या करूँ ?"

"तुम्हारा पत्र मिला। नन्हा-सा पत्र, सिर्फ़ चार ही लाइनें। मुझे दुख हुआ। गुस्सा भी आया कि तुमने मेरे उद्देश्य को समझने की कोशिश नही की।

मनुष्य का अपना व्यक्तित्व होना चाहिए।

माँ-बाप से डरना नही चाहिए।

यह तुम्हारा अपना जीवन है।

तुम्हारा पति ही तुम्हारे लिए सब-कुछ है। तुम सुखी रहना चाहती हो या दुख भोगना चाहती हो, यह तुम्हारे पति पर निर्भर करता है, सिर्फ़ पति पर।"

"कहती हो, क्या लिखूँ ! यह बहाना है।

तुम्हारे बाप ने मना किया होगा। बुद्धिहीन आदमी जो ठहरा। प्राकृतिक रूप से विकसित होने वाले पुष्पों के चारो तरफ़ लोहे के पिंजरे बनवा रहा है। उसके प्रति द्वेष की भावना बढ़ती जा रही है। यह मेरे लिए बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मेरी ललिता जैसी सौंदर्य और कोमलता की मूर्ति उसके घर मे जन्म ले। हर कष्ट को झेलना ही पडता है।

धैर्यवान बनो। आराम से जवाब लिखो।

तुम स्वयं ही अपने जीवन को सँवार सकती हो।

तुम स्वयं ही अपने सपनो को साकार कर सकती हो।

प्रेम'···चलो, इन ढाई आखरों की हम एक नई परिभाषा करे।"

"रोने से क्या फायदा ? शान्त होओ। शान्त होओ !" बुद्धिराजू ने कहा।

"·········"

"मालूम होता है, मन मे मैल नही है। थोडी-सी सनक है।"

"·········"

"अगर लड़की वाक्पटु हो तो उसे क़ाबू मे लाया जा सकता है।"

"पता नही क्यो, ताऊजी ! मुझे तो कँपकँपी आ रही है। समझ में नहीं आता, क्या लिखूँ।" ललिता बोली।

"बात सही है जी। बेचारी लड़की पे वह क्या जुल्म ढा रहा है," बुद्धिराजू की पत्नी बोली।

"मालूम होता है, सब्जी जल रही है, रत्नम।"

"क्यों नही जलेगी जी। बात सीधे ढंग से जो नहीं की जाती···।"

"बेटी ललिता, देखो, तुम्हारा पिता बिलकुल डरपोक है। यह मामला तुम ही निपटा लो तो अच्छा हो।"

"अच्छा ताऊजी, चलती हूँ।"

....

"रत्नम, देखो। मान लो, जैसा तुम चाहती हो, वैसे ही मैं इस रिश्ते को तोड़ देने की सलाह देता हूँ और ललिता का बाप भी रिश्ता तोड़ देता है। पर सारा मुहल्ला और सारी बस्ती जानती है कि खत आते थे। क्या और कोई उसके साथ ब्याह रचाने को तैयार होगा? अगर अनजाने में तैयार हो भी गया तो शादी के बाद तो एक दिन पता चलेगा ही। क्या वह चुप रहेगा? गाँव की जिन्दगी में राज़ भी तो नहीं होते।"

"पता नहीं जी। उस लड़की का भाग्य ही ऐसा है। बग़ैर किसी क़सूर के सज़ा भुगत रही है।"

"ऐसा ही समझो। सोच लो कि उसकी शादी हो गई और किसी तरह काम निकालते चलो। गठबंधन के बाद औरत क्या आदमी की चलने देती है, तुम्हारी तरह?"

"ठीक है जी। औरत तो जानवर की तरह भाँय-भाँय करती रहती है, पर होता वही है जो मंज़ूरे-मर्द होता है।"

"लिखती हो, ज्ञान क्या होता है। मैं बताता हूँ। परन्तु क्या तुम्हारी समझ में आयेगा? ज्ञान पैदाइश से ही आता है। उम्र के साथ बढ़ता जाता है। ज्ञानी अच्छे-अच्छे काम करते हैं। बढ़िया विचार रखते हैं। और तो और, पत्रों में प्रेम की बातें करने की जगह इतने गम्भीर विषयों पर बहस क्यों?

तुम्हारे बाप को कितना ज्ञान है, यह मैं पहले ही समझ गया। अब तुम्हें ज्ञान कहाँ से आये? तुम्हारा पत्र पढ़ने पर संदेह होता है कि पत्र तुमने लिखा है या तुम्हारे बाप ने।

होने वाले पति को जो इतनी भी खुशी नहीं दे सकतीं तो शादी के बाद उसे क्या सुख देगी?

ग्यारह पत्रों का आदान-प्रदान हुआ।

कोई बात नहीं।

तुम अपने पिता-जैसी जानवर नहीं हो। इसीलिए जो कुछ मैंने कहा उस पर ध्यान दिया। हरुफ़ सुघड़ होते जा रहे हैं। पढ़ी गई पुस्तकों की सूची भी बढ़ती

जा रही है। गाँव की बदबू से मुक्त हो रही हो। इस तब्दीली का प्रतीक है— तुम्हारा वह पत्र, जो अभी मुझे मिला। उसमे तुमने जो प्रश्न किया है, वह प्रश्न तुम्हारे हृदय से पैदा हुआ होगा।

कब ? जब हमारी निगाहे पहली बार मिली होंगी।

वह धीरे-धीरे बढता गया, मेरे प्रशिक्षण मे।

तुम्हारे पत्र ने मेरे सामने प्रश्न खडा किया—प्रेम क्या है ?

ललिता ! मेरी ललिता ! ओ ललिता !

प्रेम का मतलब है ?

एक दूसरे को सहने के लिए आवश्यक सहन-शक्ति।

एक-दूसरे को पहचानने की आवश्यक बुद्धिमत्ता।

एक-दूसरे को आदर की दृष्टि से देखने की सहृदयता।

एक-दूसरे के लिए बहाने के लिए आँसू।

इससे भी अधिक जानना चाहती हो तो—

आँखे ही बतला सकती है।

सपने ही बतला सकते है।

अनुभव कर सकने वाले मन ही बता सकते है।"

तीन और पत्रो का आदान-प्रदान हुआ—

"व्यक्तित्व का क्या मतलब है ?

तुम्हारा ढग ठीक नही है।

औरत सुन्दर होती है। उसके विचार भी सुन्दर होने चाहिए। उसे आनन्द फैलाना चाहिए।

प्रेम—जो पुस्तक यह कहे कि व्यक्तित्व वाले मनुष्यो को प्रेम राम नही आना वह पुस्तक बेकार है।

वैसी पुस्तको के बारे मे गम्भीरता से सोचना ही नही चाहिए।

तुम कहती हो कि मेरा 'तुम्हारा बाप', लिखना तुम्हे अच्छा नही लगा। नही लगा मुझे भी अच्छा नही लगा।

हम और हमारे परिवार के सिवा किसी और चीज पर तुम्हारा ध्यान नही टिकना चाहिए। मालूम होता है, तुम्हारी यह बकवास तुम्हारे बाप की सिखाई हुई है। वह तुम्हारे सुन्दर भविष्य पर गोबर लीप रहा है।

उसने तुम्हे जन्म दिया, यह सही है।

सिर्फ इसी वजह से अपनी लड़की का अनादर कर, क्या वह उसके पत्र पढेगा ? अपने फफूंद-जमे पुराने विचार तुम्हारे माथे मढेगा ? प्राकृतिक रूप से होनेवाली

तुम्हारी बढ़वार को रोकेगा ? तिस पर वह मेरे रास्ते में पत्थर बनके आयेगा ?

अब मैं तुम्हें एक सचाई बता रहा हूँ । सुनो !

अगर कोई अपना सचाई की कसौटी पर खरा उतरना चाहता है, तो उसे अपना सर्वस्व अर्पित करना होगा ।

औरत को सब-कुछ भूल कर आदमी मे विलीन हो जाना चाहिए । ध्यान रखना ! अबकी दफा तुम्हारा पत्र सुन्दर होना चाहिए ।"

ससुरजी ! आपको लिखे काफी अरसा हुआ । दो सप्ताह हुए, ललिता ने पत्र नही लिखा ।

क्या हुआ, मैं आसानी से समझ सकता हूँ ।

हालाँकि आप मेरी होने वाली बीवी के पिता है फिर भी आपको यह हक नही है कि उसको बन्धन मे रखे ।

उसका मन मै जानता हूँ । वह मेरा अपना है ।

केवल उसको जन्म देने के कारण वह आपकी सम्पत्ति नही बन जाती ।

अगर एक सप्ताह के अन्दर उसका पत्र नही मिला, तो मै यह रिश्ता तोड सकता हूँ ।

ललिता का मुँह लाल हो गया ।

नारायण आराम-कुर्सी पर लेटा हुआ था पर लगता था जैसे काँटो पर लेटा हुआ हो । माँ चिन्तित बैठी थी ।

"बेटी, रा कहा तुम्हारी समझ मे क्यो नही आता ?" पिता नारायण ने ललिता से कहा ।

"हाँ, भागवान । उसकी हजार मे ज्यादा तनख्वाह है । कहा जाता है घर, जमीन सब कुछ है ।" पिता ने माँ से कहा ।

"है या नही, वह और बात है । अभी तो खतो का मामला सभी मुहल्ले और बस्ती वालो की जुबान पर चढा हुआ है । लडकी बौडम है । वह क्या जाने । वो मास्टर कहता था लिखने दो, लिखने दो । अब देखिये तमाशा । कपडा काँटो मे उलझ गया है । बगैर फाडे निकाल लेने मे ही अपना कल्याण है," माँ ने कहा ।

"निश्कलंक लड़कियो की ही शादी नही हो पा रही है आजकल ।"

"आप तो ज्यादती करते है । उसका क्या क़सूर है ? क्या हम उसे सख़्ती से कह पाये कि खत मत लिखो । वह कलक हमारी बेवकूफ़ी की वजह से लगा है ।"

कुछ देर माँ-बाप मौन रहे ।

चौखट पर बैठी सिर को घुटनो पर टिकाये ललिता पैर के नाखून काट रही थी । ऐसी अशुभ मुद्रा के बारे मे लड़की को माँ ने टोकना चाहा पर चुप रही ।

पत्र मिले चार दिन हुए थे।

पत्र मिलते ही नारायण ने ललिता को बुलाकर जवाब लिखने के लिए कहा।

हर एक घंटे बाद माँ लड़की को याद दिलाती रही।

ललिता न हाँ कहती, न ना।

पिता हर रोज़ माँ से पूछ लेता कि जवाब लिखा गया कि नही।

लड़की की नवोदित शालीनता को पिता आदर की दृष्टि से देख रहा था। लेकिन लड़की इससे अनभिज्ञ थी।

पहले पिता अप्रत्यक्ष रूप से कहता था अब माता-पिता ने समस्या का विश्लेषण किया।

ललिता की आँखों के सामने उसकी पढ़ी किताबे घूम रही थी।

मूर्ति के पत्रो से टपकता उसका अहंभाव, उसकी अधिकारी-लिप्सा मानो हृदय मे घुस आया सेह अपने काँटे फैला रहा हो।

गंवारपन, शिक्षा, विचारहीनता से भरा उसका अतीत उसे भविष्य के प्रति आतंकित कर रहा था। उसका हित चाहनेवाले माता-पिता की निस्सहायता मानो उसके गले मे फंदा बन गई।

मानो उसकी पढ़ी हुई किताबे और मूर्ति के पत्रो से पैदा विचारों से भरा उसका वर्तमान कह रहा था---भविष्य के लिए डरने की कोई आवश्यकता नही। औरत को स्वेच्छाहीन रहने की जरूरत नही।

"हाँ नही कहते बनता। यह क्या तमाशा है, बेटी? स्वयं तुम्हारे पिताजी पूछ रहे हैं···" माँ ने कहा।

ललिता ने माँ की बात अनसुनी कर दी और कमरे मे जाकर किवाड़ बन्द कर लिए।

नारायण ने ललिता के पीछे जा रही उसकी माँ को आवाज़ दी—

"वह खुद ही लिखेगी। तुम चुप रहो।"

"लिखेगी। ज़रूर लिखेगी। इसका बाप भी तो निराला है। आपने भी तो मुझे और मेरे पिता को इससे ज्यादा रुलाया। औरत अगर रोष करने लगे तो क्या काम बनेगा? ज़रा इसके नखरे तो देखो।"

पत्नी जिस ओर गई, उसी ओर देखते हुए नारायण ने मन ही मन कहा—'उस ज़माने मे शादी के बाद लफड़े शुरू होते थे, पर आजकल तो शादी से पहले ही तू-तू मैं-मैं शुरू हो जाती है। हाँ, दामाद तो हमेशा एक-जैसा रहा है।'

× × ×

बुद्धिराजू ने कहना चाहा—छोटे भाई, रिश्ता तोड़ ही डालो! पर वह होता कौन है? अगर दूसरा कोई रिश्ता तय न हो पाये तो? अगर हो भी गया तो यह पक्का थोड़े ही है कि इस जानकारी के बाद उसका घर नही उजड़ेगा!

"मेरी वजह से ही यह सब हुआ, छोटे भाई।"

"जिससे भी हुआ हो, तो मैं और वह रो रहे हैं।"

नारायण की बातें बन्दूक की गोलियों-जैसी लगीं।

बुद्धिराजू ने आकाश की ओर देखा।

डूबते दिनकर की लालिमा विचित्र लग रही थी। शीतल हवा पत्थरों पर बैठे दोनों को छू रही थी।

मन्दिर का उत्तुंग शिखर धैर्य का प्रतीक लग रहा था बुद्धिराजू को।

"लड़के के नए विचारों की वजह से लड़की सुखी नहीं हो सकती। जब-तब प्रत्यक्ष होने वाला उसका अक्खड़पन लड़की का जीवन कंटकमय बना सकता है। हमने स्वयं अपने हाथों से उसका जीवन नरकप्राय बनाया है। इस लाटरी के तुम्हीं निर्णायक हो प्रभु! अनुकूल निर्णय देकर हमें उबारो!" बुद्धिराजू ने हाथ उठाकर मन्दिर को नमस्कार किया।

"क्षमा करें भैया! इसमें आपका क्या दोष? आवेश में सबके माथे दोष मढ़ देते हैं हम लोग।"

"नहीं छोटे भाई! तुम्हारी बातों से मैं व्यथित नहीं हूँ। उसके सुख के लिए ही भगवान से प्रार्थना कर रहा हूँ।"

"सब इस सन्देह से विदा करते हैं कि लड़की सुखी रहेगी कि नहीं। पर मैं यह जानकर कि वह वहाँ सुखी नहीं होगी, विदा कर रहा हूँ।"

"अगर हम उस लड़के को पसन्द नहीं आये तो यह हमारा दुर्भाग्य है। लेकिन वह उसके पास ज़रूर सुखी रहेगी। चलो, मैं भी उसे समझाता हूँ। वह ज़रूर जवाब लिखेगी।"

दोनों घर की ओर चल पड़े।

बुद्धिराजू की समझ में नहीं आया कि दोष लड़के में है या इस ज़माने की युवा पीढ़ी में।

घर के पास नारायण की छोटी विधवा बहिन सुन्दरी दिखाई पड़ी।

"तू कब आई?"

"कुशल-मंगल बाद में पूछना, भैया! कितना भी दरवाज़ा पीटो, ललिता दरवाज़ा नहीं खोलती। अन्दर कुछ जल रहा है।"

दोनों अन्दर की ओर भागे। कोलाहल मचा था।

"बेटी ललिता! ललिता!"

खिड़की और दरवाज़े को पीटने की आवाज़। यकायक दरवाज़ा खुला।

ललिता बाहर आई। वह अभी-अभी चमकाए गए हीरे-सी लग रही थी। भट्टी में तपाई गई धातु लग रही थी जो किसी वस्तु का रूप धारण करने जा रही हो।

गर्भाशय की गन्दगी से मुक्त होकर पहला स्नान किए हुए शिशु-सी लग रही थी वह।

"क्या कर रही थी बेटी अन्दर ?" माँ चीख पड़ी।

"पत्र लिख रही थी।"

माँ का चेहरा खिल उठा।

पिता के चेहरे पर कोई भाव नहीं था। बुद्धिराजू के मुंह पर मंदहास था।

"कौन-सा पत्र ?" ललिता की बुआ ने पूछा।

"पिताजी, आप यह पत्र पढ़ें !"

"नहीं बेटी। मुझे विश्वास है तुमने ऐसे लिखा होगा कि उसे चोट न लगे। इसे डाक में डाल देता हूँ।" काँपते हाथों से नारायण ने पत्र लिया।

"वह तो पहले ही उन्हें जानवर कह रहा है कि तुम्हें लिखा उसका पत्र उन्होंने पढ़ लिया। अब रहने दो।"

"पिताजी, आप पत्र जरूर पढ़ें, सबको सुनायें भी ! इसमें कोई रहस्य नहीं।"

नारायण के हाथ का पत्र बुद्धिराजू ने लिया।

"मूर्ति !

मैंने तुम्हारे सारे पत्र पढ़े।

मैंने उन जवाबों को याद किया जो मैंने तुम्हे दिये थे।

तुम्हारे पत्र पुराने अहंकार के प्रतीक हैं जिन पर नया रंग चढ़ाया गया है।

मेरे पत्र हमारे पुरानी दासता और निस्सहायता के प्रतिरूप हैं जिन पर तुमने नया रंग चढ़ाया है।

इसीलिए मैंने उन्हें जला डाला।

जहाँ तक शादी की बात है,

हमारे सगे-सम्बन्धी डरते हैं कि शायद वह रुक जाये। शादी ही वे जीवन का उद्देश्य समझते हैं।

शादी के बाद पति मर जाता है तो औरतें क्या करती हैं ? शादी के बाद आदमी छोड़ देता है तो वे औरतें क्या करती हैं ?

उनसे गई-बीती मेरी हालत नहीं है।

जहाँ तक भोजन का सवाल है, मृत पति की सम्पत्ति बिधवा को मिल जाती होगी। कचहरी परित्यक्ता के लिए उसके भूतपूर्व पति से कुछ मुआवजा दिला देती होगी। मेरे चरित्र पर दाग़ लगा है। अगर मेरी शादी नहीं हुई तो ? मैं बर्तन-भांड़े माँजकर जी सकती हूँ। कपड़े सीकर भी गुज़ारा कर सकती हूँ।

अगर कोई मेहनत करने के लिए तैयार होता है तो उसे काम की कमी नहीं होती।

अन्दर के भय को आँखों के सामने लाया जाये तो संसार नहीं दिखाई देता।

आँखों के सामने के भय को दूर किया जाये तो सारा संसार अपना ही आता है।

अलविदा—हमेशा के लिए !

तुम्हारी पत्नी बनने के खतरे से बाल-बाल बची !

—भाग्यवती-ललिता।"

बुद्धिराजू ने जैसे ही पत्र समाप्त किया, ललिता ने कहा—"पिताजी, अगर आप इसे डाक में डालना चाहें तो डाल दें, वरना मैं ही डाक में डाल दूंगी।"

(अनु०—पी. वी. राव)

ऑपरेशन फाल्कन

□

अल्लम शेषगिरि राव

कोण्डु ने शर्म, अपमान और बेबसी के मारे सिर झुकाये झोंपड़ी के अन्दर क़दम रखा।

उसके शरीर का हर अंग जैसे शिथिल हो गया था मानो ताक़त ही न हो। हाथ की कुल्हाड़ी फिसल कर गिर गई। चिलका से नज़र नही मिला पाया। तभी कोण्डु के कन्धे पर चिलका ने हाथ रखा।

"इस तरह क्यों काँप रहे हो? क्या उसका सिर काट दिया? तुम तो मर्द हो। चलो, उसका सिर लेकर कहीं भाग चलते हैं, या इसी तालाब के कीचड़ में पाट देते हैं," कहती हुई चिलका अनजाने में खुद ही काँप उठी।

"उसे नहीं मारा। मारने के लिए कुल्हाड़ी उठाई थी। लेकिन हाथ रुक गये।"

"क्यों, ऐसा क्यों कह रहे हो? मैं तुम्हारी बीवी होती, तब न।"

कोण्डु ने उसकी बात बीच में ही काट दी—"चिलका, चलो, हम यहाँ से चलते हैं। यहाँ नहीं रह सकते। कहीं और चलेंगे। हम अपना जीवन खुद ही जी सकते हैं।"

"कहाँ? क्यों?" चिलका ने कहा। कोण्डु के बात बदलने का मतलब उसकी समझ में नहीं आया।

"उन पहाड़ों में। मेरे बाजुओं में दम है। मैं शिकार कर सकता हूँ। हम लोग कुछ न कुछ उगाकर जी सकते हैं। यहाँ हम लोग नहीं जी सकते—यहाँ कोई नहीं है हमारा!" कोण्डु गुस्से में बोला।

"क्या अजीब-सी बातें कर रहे हो। तुम तो कहते हो, उसको मार नहीं पाये। और यहाँ से भागने की कह रहे हो। देखो, मेरी बात मत टालो। उसने मेरी इज्जत लूटी है। मैं उसे नहीं छोड़ूँगी।

तुमसे नही होता हो तो वह कुल्हाड़ी मुझे दे दो। मौक़ा देखकर उसे मैं खुद ही खत्म कर दूँगी।" प्रतिशोध-भरे स्वर में चिलका बोली।

कोण्डु ने छोटे बच्चे की तरह रोना शुरू कर दिया—"बेकार, बेबस और मूर्ख हूँ। मैं तुम्हारा बदला नही ले सका।" कोण्डु हिचकियाँ लेता हुआ बोला।

"तुम्हें उससे इतनी हमदर्दी क्यों है? क्या वह तुम्हारा भाई है, रिश्तेदार है या फिर तुम्हारा बाप है?"

आखिरी शब्द कोण्डु को कोड़ों की भाँति लगे। उसने शून्य मे देखते हुए जवाब दिया—"हाँ!"

"क्या मतलब?"—चिलका भौचक्की-सी बोली। "मैं उसी का बेटा हूँ! चौधरी मेरा बाप है।" अँधेरे मे आकाश मे टिमटिमाते हुए तारो को देखते हुए उसने बताना शुरू किया—जब वह जगल मे काम करवा रहा था तो मेरी विधवा माँ को उसने सहारा दिया। उसको आशाएँ बँधवाई। और मेरी माँ गर्भवती हो गई। चोरी से मुझे जन्म दिया और मेरे पैदा होते ही चल बसी। मेरी नानी ने सिर पीट लिया और तुरन्त चौधरी से लड़ने पर आमादा हो गई। बस्ती के सब लोगों को चौधरी से पहले से ही नफ़रत थी। वह अत्याचारी था। मजदूरो को गाली देता, मारता-पीटता और बहुत सताया करता था। चौधरी की इस करतूत की हवा जब पहाड़ी के बस्ती वालो को लगी तो उन्होंने उसे धमकी दी कि वह उसे घर ही मे जिन्दा जला देंगे। और क़सूर के लिए हर्जाना भी देने को कहा। इतना कठोर आदमी भी सब लोगों के विरोध से घबड़ा गया। डर गया कि सचमुच ही जला देंगे। वह मुझे पालने-पोसने को तैयार हो गया, लेकिन बाद मे उसका वहाँ रहना मुश्किल हो गया, इसलिए वहाँ का काम छोड़कर, मुझे और नानी को लेकर यहाँ आ गया। बुढ़िया का डर था कि कही चौधरी मुझे छोड़कर चला न जाये। इसलिए वह उस पर हमेशा कड़ी नज़र रखती थी। यहाँ आने के बाद भी वह उससे कई बार उलझ पड़ी। बुढ़िया ने उसे सारी वसीयत मेरे नाम लिखने को कहा, वरना सारे गाँव वालो के सामने ही उसका कच्चा चिट्ठा खोल देने की धमकी दी। उसकी बोली से डरकर हमें यहाँ रखा। पैसा भी देता रहा। लेकिन वसीयत लिखने मे वह आनाकानी करता रहा। एक बार मेरे सामने ही बुढ़िया शेरनी की तरह उसकी गर्दन से लटक गई और बोली—लिखते हो या गर्दन मरोड़ दूँ? दुर्भाग्य ने मेरा पीछा छोड़ा नही था। बुढ़िया अचानक बीमार पड़ गई और एक दिन के अन्दर ही चल बसी। मरने से पहले वह मुझे ये सारी बातें बता गई। बुढ़िया ने बताया 'तुम उसके बेटे हो। शहर मे जो पढ़ रहा है वह तो उसका गोद लिया हुआ है। पता नही, किसका बेटा है। जायदाद उसके नाम करने की सोच रहा है। तुम उसके लिए राजी मत होना। खूब सँभल कर रहना, वरना वह तुम्हें भी मरवा सकता है!' यह चेतावनी देकर मर गई। "लेकिन अब

इस बात का कौन विश्वास करेगा ? यहाँ पर मेरा कोई नहीं है। कोई आसरा भी नहीं है—बस तुम्हारे सिवाय। चलो, हम बस्ती चलते हैं।" कोण्डु दीनतापूर्वक बोला।

चिलका ने सारी बातें ध्यान से सुनीं। वह एकटक तालाब को देखती रही।

"कोण्डु, इसका मतलब उसका खून और तुम्हारा खून एक ही है ?" सोचती हुई चिलका संदेहपूर्वक बोली।

मछुआरों की बस्ती में मुर्गे बाँग देने लगे थे। सुबह होने वाली थी, लेकिन छुटपुट अँधेरा था।

"उसका दोग़ला खून तुम में भी बह रहा है। इसीलिए नही मार पाये।"

कोण्डु शर्म से सिर झुकाकर उँगलियों से ज़मीन पर निशान बनाने लगा।

"वह कुल्हाडी मुझे दो !" चिलका गुर्राई।

"तुम्हारा दिमाग़ तो नही फिर गया है ? खून का मुकदमा हो सकता है। फाँसी की सज़ा भी हो सकती है।" कोण्डु ने कहा।

"तुम्हे तो नही होगी ! वाह, कितना प्यार उमड़ आया है, बाप पर !" व्यंग्य-पूर्ण स्वर मे चिलका बोली।

"चिलका, तुम्हारा बहुत उपकार होगा। मुझे इस तरह मत सताओ। मैं पहले ही लाचार हूँ। शर्म के मारे मरा जा रहा हूँ। क्यो गिद्ध की तरह नोच खा रही हो ? हो सके तो कुल्हाडी से मुझे मार दो।"

चिलका कोण्डु के रुखे बालों मे हाथ फेरते हुए मुस्कराई जैसे मार खाकर खड़े हुए निस्सहाय बच्चे को माँ दुलार रही हो।

"चिलका, कल अँधेरा होने के बाद आ जाना। नाव में भाग जायेंगे।"

"आऊँगी। तुम्हारे साथ ही चलूँगी। मुझे लेकर जाना। लेकिन कल मेरी प्रतीक्षा मत करना। मौका देखकर मैं खुद ही खबर भेजूँगी। मुझे भगाकर पहाड़ों पर ले जाना। लेकिन अपने बाप की तरह मुझे छोड़ तो नही दोगे ?" चिलका हँसती हुई बोली। "चलती हूँ". कहकर कुछ दूर चली गई। फिर सरपट पीछे दौड़कर आ गई और कोण्डु से बोली—"एक बात है ! अगर मेरे बच्चा हुआ तो वह तुम्हारा बेटा होगा या तुम्हारा भाई ?"

"तुम्हें मजाक सूझ रहा है ?" कोण्डु गुस्से मे बोला।

ज्वालामुखी की चटचट करती चिनगारियो के समान हँसती हुई वह भाग खड़ी हुई। वह हँसी क्रोध, अपमान और संदेह की मिली-जुली निरर्थक-सी अभिव्यक्ति लग रही थी।

"मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा"—कोण्डु ने घने अँधेरे में लुप्त होती हुई चिलका को हाथ हिलाकर आवाज़ लगाई।

हँसी दूर होती चली गई। ग्राम-देवी चुक्कमा की पूजा मे बजती हुई ढपली

की आवाजें चरम सीमा पर पहुँचकर कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट सुनाई दे रही थीं।

कोण्डु को सारी रात नींद नही आई। तरह-तरह के ख़याल उसके मन को विचलित करते रहे।

वह झोंपड़ी के बाहर आकर खड़ा हो गया। तालाब और उसके चारों ओर घना कोहरा बादल की तरह छाया हुआ था। झोंपड़ी की छत से ओस की बूँदें टप-टप गिर रही थी। आँखें फाड़कर देखने पर कहीं भी कुछ नज़र नहीं आ रहा था। हर तरफ़ कोहरा ही कोहरा फैला हुआ था। बारीक रेत के कणों की तरह ओस की बूँदें शरीर मे सुइयाँ चुभो रही थी। पेड़ों से सूखे पत्तों पर गिरती हुई बूँदों की आवाज़ नीरवता मे स्पष्ट सुनाई दे रही थी।

निराशा और प्रतिशोध से कुढ़ते कोण्डु को लगा, जैसे प्रकृति भी दुश्मन बन गई हो। उसे लगा जैसे सफेद पिशाच आत्मीयता से उसका गला घोंट कर, उसे नीरव खाइयों में धकेल रहे हों। वह अजीब से भय से काँप रहा था। वे सुपरिचित तालाब, पेड़, झाड़-झंखाड़ और वह आबो-हवा, जिसकी गोद में वह पला, मानो विकृत रूप धारण करके उसके ऊपर टूट पड़े हैं।

पागल हाथी के से विध्वंसक विचार उसके मस्तिष्क को खाये जा रहे थे। उसने नाव खोली। मंजिल का पता नही था। उसने पतवार ज़ोर से खेनी शुरू की। कोहरे के बीच से नाव तेजी से भागने लगी। रास्ता बिलकुल नही दिख रहा था। जंगली घास-फूस को ठेलते हुए नाव झूमती-इठलाती दौड़ी जा रही थी। ओस से भीगे पंखों को फड़फड़ाते हुए बाज़ नाव में एक तरफ दुबक करके बैठ गया।

गाँव में मुर्गे बाँग देने लगे। बछडे रँभाने लगे। पहाड के नीचे ताड के पेडों के शिखर कोहरे के घूँघट में से अस्पष्ट नजर आ रहे थे। तालाब के ऊपर छाया घना कोहरा भी छँटने लगा। पानी के परिन्दे चिल्ला रहे थे। सूर्य का प्रकाश धूप में परिवर्तित हो रहा था। आकाश में रंग बदलने लगे। क्रमश: बत्तखो के झुण्ड के झुण्ड छँटते हुए कोहरे मे से पहाड़ों के मोड की तरफ़ उड़ रहे थे।

उजाले मे कहीं-कही पानी के पौधो के झाड व मछली पकडने वाली नावें एक-एक करके दिखने लगी। कोण्डु की नाव तालाब पर एक काले धब्बे की तरह नज़र आ रही थी। ऊषा की उजली किरणे कोहरे की कुनकुनी दरारो मे से निकलती हुई तालाब पर सुनहरे रंग बिखेरने लगी।

धूप बहुत चढ गई थी। कोण्डु की नाव दौड़ती रही।

दोपहर हो गई। कोण्डा की नाव फिर भी भागती रही। मंज़िल का पता नहीं था। रास्ते में आने वाली बेलों, घास और दूब को कुल्हाड़ी से चीरता हुआ वह आगे बढ़ता गया। मछली फाँसने वाली टोकरियों और जालों के बीच रास्ता बनाता हुआ वह आगे जा रहा था। वह विक्षिप्त-सा नाव खे रहा था। सूरज सिर

पर आ गया था लेकिन उसे समय का पता नहीं चला । भूख-प्यास की खबर नहीं थी । वह बस आगे ही आगे बढ़ता जा रहा था । बस, खून ही खून, नाव में खून, शरीर पर खून । उसने सिर ऊपर उठाकर देखा । बाज ने आकाश में एक बगुले को पकड़ लिया और उसे नाव में लाकर नाखूनों से चीरते हुए चोंच से उसकी गर्दन नोचने लगा । कोण्डु को चौधरी के गले की गाँठ याद आई ।

"मार डालो, जैसे भी चाहो मारो । यहाँ के परिन्दों, कीड़ों और इन्सानों सबको मार दो । कल मेरे और चिलका के साथ कहीं दूर चलना ।" हवा में बाज को सावधान करते हुए कोण्डु चीख पड़ा ।

गुस्से मे जब उसने पतवार पूरा जोर लगाकर चलाई, तो नाव पानी पर उछलती, हिचकोले खाती आगे बढती गई । बाज रक्त-पिशाच की भाँति उड़ते पक्षियों के ऊ' चोट पर चोट किये जा रहा था । तैरती हुई मछलियों को बाज बिजली की-सी तेज़ी से झपट्टा मारकर ले उड़ा जा रहा था और नाव में आकर मज़े से खा रहा था । फिर जाकर कोण्डु के कन्धे पर बैठ गया । कोण्डु और बाज दोनों की साँस धौकनी की तरह चल रही थी । एक का असमर्थता का आवेग था तो दूसरे का विजय का उल्लास था । दोपहर ढल गई । कोण्डु ने नाव की दिशा समुद्र की गहराई की तरफ मोड दी ।

तपती हुई धूप एकदम बुझ-सी गई और वातावरण शीतल हो गया । आकाश में चारों तरफ बादलों की गडगड़ाहट गूँज उठी । काले पनीले बादल नम हवाओं पर झूमते फैलने लगे । आकाश मे एकाएक बादल घिर आये । बादलों से घिरे आकाश को प्रतिबिम्बित करता तालाब धुँधलके मे निरीह नज़र आ रहा था । सफ़ेद बगुलों के झुण्ड पनीले बादलो के बीच से उड़ते चहचहाते चले जा रहे थे । विविध प्रकार के पक्षी तालाब के ऊपर से उडते हुए किनारों के पेड़ों पर जाकर बैठ रहे थे । पक्षी वर्षा-आगमन का अंदेशा पा गये थे । इसलिए उनका शोर कम हो गया । ठण्डी हवा के झोंके तेजी से चल रहे थे'। कोण्डु की नाव समुद्र की गहराई की तरफ़ बढ़ी चली जा रही थी । नाव की गति धीमी हो गई । पतवार भारी हो चली थी । मगर वह पीछे नही मुडना चाहता था । आगे बढने की धुन मे वह नाव को खेता हुआ समुद्र की गहराई तक पहुँच गया । बेमतलब की धुन थी उसकी । साये बढ़ते जा रहे थे । बादलो से घिरे आकाश के तले अँधेरा पिघलते हुए कोलतार की तरह फैलता जा रहा था ।

कोण्डु ने नाव को किनारे से दूर ले जाकर रोका । अपने हाथ की ताक़त, विजय और ज़िद को उसने खुद ही सराहा । मन को थोड़ी-सी राहत मिली । वह इस दुनिया में लौटा । 'कल चिलका आ जायेगी, जल्दी घर पहुँचना है'—उसने सोचा । एक-दो बूँदे ऊपर गिरी ।

बिजली गिरी तो उफनता हुआ सागर भी चमका ।

कहीं दूर बिजली गिरी, जैसे पहाड़ों पर तोपें चल रही हों।

कोण्डु ने नाव को वापस घर की ओर मोड़ा। सूखे पत्तों पर गिरती बारिश की बूँदों की आवाज़ नज़दीक आती गई। हवा की ध्वनि समुद्र के शोर में समा रही थी। बारिश की बौछार चारों तरफ़ फैलती हुई तालाब के ऊपर से निकल गई।

पानी लगातार बरस रहा था। कोण्डु पूरी तरह भीग गया। समुद्र अँधेरे में रेत के कगारों को काटता हुआ तालाब के ऊपर तेज़ी से बढ़ता गया। उसके बाद नाव ऊपर उठकर उलट गई। बाज़ खुद को बचाता अँधेरे में पंख फड़फड़ाता दिशाहीन उड़ने लगा। कोण्डु ने पानी में हिचकोले खाती नाव को टटोलते हुए पकड़ा। खारे पानी के मुँह और आँखों में घुस जाने से वह विचलित हो उठा। अपनी सारी शक्ति बटोरकर उसने डूबती तैरती नैया को सीधा खड़ा किया और उसमें बैठ गया। बाज़ भी अँधेरे में पंख फड़फड़ाता कोण्डु की पीठ पर आ बैठा और सुस्ताने लगा।

आसमान में बिजली अजगर की तरह जीभ फैलाकर अँधेरे को चीरती जाती थी। बिजली की दिल को दहलाने वाली गड़गड़ाहट से सारा वातावरण प्रलय के समान हो गया था।

नाव बिना पतवार चलाये ही भागती जा रही थी। ऐसा लग रहा था मानो देवी ने प्रसन्न होकर कुम्भवृष्टि कर दी हो। अँधेरे में नाव को सम्हालते हुए कोण्डु बड़ी मुश्किल से झोंपड़ी पहुँचा। नाव को बाँधकर खूंटे से लगी कुल्हाड़ी उठाई और बाज़ को लेकर झोंपड़ी के अन्दर घुसा।

समुद्र में जाने के पूर्व का उसका आक्रोश प्रकृति के साथ के संघर्ष से कुछ शान्त हुआ।

'सुबह होते ही मैं मुक्त हो जाऊँगा', यह सोचता हुआ वह लेट गया। चिलका के आने का सपना देखता हुआ वह बाहर की तेज़ हवा की लोरी सुनता सो गया।

लचकते हुए बाँस की खपच्ची पर बैठा बाज़ हवा के साथ झूलता हुआ बिजली के कड़कने पर अँधेरे में सहमा-सहमा-सा देखता।

रात-भर की मूसलाधार बारिश सुबह कम हो गई। आकाश बिलकुल साफ़ था। दिन चढ़ गया था। धूप तेज़ हो चली थी। कोण्डु घोड़े बेच के सोया हुआ था। कोण्डु के उठने तक दिन काफ़ी चढ़ चुका था। वह आँखें मलता हुआ झोंपड़ी के बाहर आया। उसने आँखें मलीं, आँखों पर पड़ती हुई धूप को रोकने के लिए उसने आँखों पर हाथ रखा और तालाब की ओर नज़र दौड़ाई। तालाब बारिश के पानी से भरा था। पानी का रंग कीचड़-सा हो गया था। कहीं-कहीं पर डूबती घास, झाड़-झंखाड़ और पौधे पानी की सतह पर तैर रहे थे। नावें बिलकुल नहीं चल रही थीं।

किनारों पर लोगों की आवाज़ें दूर से सुनाई दे रही थीं। लोगों की भीड़

लगी हुई थी। सब इधर-उधर भाग रहे थे। सबकी नज़रें तालाब पर ही टिकी थीं। कोण्डु भी भागता हुआ गया। कोण्डु को देखते ही भीड़ में हलचल पैदा हुई। वहाँ चौधरी भी था।

"चिलका मर गई! पानी में डूबकर खुद ही अपनी जान ले ली," किसी ने कहा।

"मछलियाँ पकड़ने गया तो शव पानी पर तैर रहा था। घबराकर नाव लेकर भाग आया।" और किसी ने कहा।

कोण्डु कुछ नहीं बोला। उसकी आँखों की ज्योति जैसे लुप्त हो गई। वह शून्य में देखता रहा। पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ा रहा।

चिलका की सौतेली माँ फूट पड़ी। चौधरी मुँह मोड़े खड़ा था।

कोण्डु का हृदय जैसे बर्फ़ की तरह जमकर भारी होता जा रहा था। जैसे वह साँस लेती लाश हो।

"चलो, शव को लेकर आते हैं। धूप बहुत तेज़ है। अब तक तो बदबू मार रहा होगा।"

"रुक जाओ!" कोण्डु चीखा। मानों लाश भूत बन गई हो। सबको गुस्से से देखता हुआ कदम आगे बढ़ा रहा था। सब आश्चर्य-चकित हो उठे। फिर डरकर रास्ता देने लगे। आगे बढ़ता हुआ कोण्डु चौधरी के पास जाकर रुक गया। चौधरी ने अपनी सारी हिम्मत बटोरकर कोण्डु से नजर मिलाने का प्रयत्न किया, मगर मिला नहीं पाया। परन्तु मिलाने का दिखावा करता रहा। कोण्डु की साँस धौंकनी की तरह चल रही थी। कोई भी कुछ नहीं बोल रहा था। सब तरफ़ शान्ति थी। शान्त कोण्डु अचानक वापस झोंपड़ी की तरफ़ भाग खड़ा हुआ। सब लोग ताज्जुब से उधर ही देखने लगे। वह झोंपड़ी में से कुल्हाड़ी लेकर बाहर आया। उसने किनारे पर बँधी नाव खोली और खेता हुआ किनारे पर खड़े लोगों के पास आकर रुका। नाव से छलाँग लगाकर किनारे पहुँचा और कीचड़ से निकलता, लोगों को चीरता हुआ चौधरी के पास आकर रुका। कुल्हाड़ी पर उसकी पकड़ कस गई।

लोग आगे आने की कोशिश में थे। "रुक जाओ! आगे मत बढ़ो! मैं खुद ही चला जाऊँगा। अपने साथ चिलका की लाश लेता जाऊँगा।" कहकर पीछे मुड़ा। फिर अचानक पीछे मुड़ते हुए हाथ से चौधरी का मुँह ऊपर उठाया और बोला—

"मैं जा रहा हूँ! यह मत समझना कि तुम बच गये हो। लौटकर आऊँगा। तब तुम्हारी लाश को साथ लेकर जाऊँगा।" कहते हुए चौधरी को एक धक्का दिया। औंधा गिरते-गिरते चौधरी ने अपने आपको बचाया।

जिस तेजी से कोण्डु भागा, उसी तेजी से वह पीछे मुड़कर नाव में छलाँग लगाकर बैठा और खेने लगा।

चौधरी के साथ कोण्डु का व्यवहार किसी की समझ में नहीं आया। नाव लोगों की आँखों से दूर होती चली गई। लोगों ने कोण्डु की नाव के पीछे-पीछे उसके बाज़ को भी उड़ते देखा।

नाव दूसरे किनारे पर पहुँच रही थी। इसका आभास पाते ही बाज़ पंख फड़फड़ाता हुआ उड़ने का प्रयत्न करने लगा।

लाश पानी पर मुँह के बल तैर रही थी। सिर्फ़ पीठ का ऊपरी हिस्सा दिख रहा था।

मक्खियाँ भिनभिनाने लगीं।

बाज़ तेज़ी से पंख फड़फड़ाता हुआ आया और पंख फैलाकर सहमा-सहमा देखने लगा।

हवा के तेज़ झोंकों से लाश में से सड़ने की बदबू आ रही थी।

नाव रुक गई। पानी के हिलोरों से लाश भी हिल रही थी। वह नाव में खड़ा एकटक चिलका की लाश को बहुत देर तक देखता रहा। उसने सारे तालाब पर एक विक्षिप्त-सी नज़र दौड़ाई। सारा दुख जैसे उसके हृदय में सिमट गया हो। लाश कन्धे पर उठाकर उसने नाव में रखी। लाश की नाक और उसके कानों को मछलियाँ कचोट रही थीं। नाक में से पानी बह रहा था।

बाज़ लाश की दुर्गन्ध पाकर, आवाज़ निकालता हुआ उसके सिर पर चक्कर काटने लगा।

नाव चल पड़ी। पास में शव था। नाव और पीछे उड़ता हुआ बाज़ पहाड़ों की तरफ़ जा रहे थे। किनारे पर खड़े लोगों को नाव एक काले धब्बे की तरह दूर जाती दिख रही थी।

पहाड़ों के मोड़ पर नाव को रोककर लाश को कन्धे पर उठाकर कोण्डु ने पत्थरों को लाँघते हुए घने जंगल में क़दम रखा। नाव हवा के झोकों की वजह से लड़खड़ा रही थी।

लाश कन्धे पर झूल रही थी।

बाज़ जब कन्धे पर बैठने लगा तो कोण्डु ने उसे हाथ से झटक दिया।

चारों तरफ़ पहाड़ थे। सायंकाल की परछाइयाँ फैलने लगीं।

उसने लाश को नीचे उतारकर, कमर में से कुल्हाड़ी निकालकर लकड़ियाँ काटीं। सूखी टहनियों से चिता बनाई। उसके ऊपर लकड़ियाँ लगाईं। फिर लाश को उठाकर चिता पर उल्टा लिटा दिया—उसने अस्त-व्यस्त साड़ी को कस के बाँध दिया।

खाई में पड़ती हुई परछाइयाँ घनी होती हुई कालिमा में बदलने लगीं। सूर्य अस्त हो गया। चारों तरफ़ घुप्प अँधेरा था।

चिता में आग प्रज्ज्वलित होने लगी। धुएँ में से चिनगारियाँ ऊपर उठने लगीं।

लाश के जलने की बदबू हवा में तैरने लगी।

कोण्डु चुपचाप लाश को उलटता-पुलटता रहा। चरबी के जलने पर आग की लपटें रह-रहकर ऊपर उठ रही थी। धुएँ के आस-पास उड़ते हुए बाज के पंखों पर लपटों की रोशनी पड़ने पर पंख चमकने लगे। लाश की बदबू की महक पाकर लकड़बग्घा झंखाड़ों मे से भयानक रूप से चिल्लाया।

कोण्डु दूर बैठा लपटों को देखता रहा। चिलका की हँसी उसके मानस-पटल पर थिरकने लगी। चारों तरफ़ पहाड़ थे। जिस तरफ़ देखो, बस शून्य ही शून्य था। वह अचानक फूट-फूटकर रोने लगा। ऐसा लगा मानो पहाड़ भी गला फाड़-कर रो रहे हों।

'क्लिट-क्लिट !' रुँधे गले से उसने बाज़ के लिए सीटी बजाई। बाज़ उसके कन्धे पर आ बैठा। उसने उसको प्यार से हाथ मे लिया। उसके पंखों को सह-लाया। "तू जा, चला जा। मैं तुझे छोड़ रहा हूँ। इतने दिन तक तू मेरे लिए और मैं किसी और के लिए, गुलामों की तरह जीते रहे। अब अपनी इच्छा से जी !" यह कहकर उसने बाज़ को उड़ा दिया। बाज़ लपटों के उजाले में चारों तरफ़ घूमता रहा, पर भागा नहीं। "तुझे भी गुलामों की ज़िन्दगी की आदत हो गई है। तुझे जाने को कह रहा हूँ तब भी तू नहीं जा रहा !" खीझकर कोण्डु ने उसे पत्थर मारे। पत्थरों को बचाते हुए बाज़ आँखों मे ओझल हो गया।

कोण्डु भारी क़दमों से पहाड़ों की तरफ़ चल पड़ा। पाँव आगे नहीं बढ़ रहे थे। उसने पीछे मुड़कर आख़िरी बार चिलका की चिता को निहारा। बुझी हुई चिता में हवा के चलने पर चिनगारियाँ चमकने लगीं।

उसने चिता को दण्डवत् प्रणाम किया। फिर कुल्हाड़ी हाथ में लेकर उसने चिता पर प्रतिज्ञा की--"मैं लौटकर आऊँगा। तुम्हारा बदला लेकर आऊँगा !" कहकर गुस्से मे कुल्हाड़ी से झाड़-झंखाड़ को चीरता हुआ वह परशुराम की तरह पहाड़ों में चल पड़ा।

पंख फड़फड़ाता हुआ बाज़ हल्के से कोण्डु की भुजा को छूकर झोंपड़ी की तरफ़ उड़ा जा रहा था।

उस रात कोण्डु की झोंपड़ी में चौधरी और उसके अनुचर शराब पीकर धुत्त पड़े थे।

"गंगा ! साला कहता था लौटकर आएगा !" विकृत-सा मुँह बनाकर, गले में अटकी शराब की घूंट को जबर्दस्ती सटकते हुए चौधरी बोला।

"आने दो ! हरामज़ादे को तालाब की बलि चढ़ा दूंगा। मेरी ताक़त का अंदाजा तो है ही !" गंगा ने बोतल को हवा में हिलाते हुए कहा।

"पता नहीं, किस दोगले की औलाद है। बड़ी नीच बुद्धि का है।" किसी ने कहा।

चौधरी को यह बात तमाचे की तरह लगी जिससे उसका सारा नशा उतर गया।

"उसके बारे में बातें करना छोड़ दो, उसे भूल जाओ! हम लोग मौज मनाएँगे। जितना पी सकते हो उतना पियो। इतना पियो कि नशा चढ़ जाये।" गंगा ने कहा।

"वह कहीं आज की ही रात तो वापस नहीं आ जायेगा!" चौधरी ने बुदबुदाते हुए कहा।

"वह बहुत कोशिशों के बाद भी आज की रात वापस नहीं आ सकता। हम कल सुबह ही उसे शिकारी कुत्तों की तरह ढूँढ़कर तुम्हारे क़दमों पर लाकर डाल देंगे। उसके बाद उस पर चिलका के ख़ून का दावा कर के जेल भिजवा दूंगा!" गंगा ने कहा।

गंगा की इस तरकीब की दाद देते हुए सबने उसकी सराहना की। वे लगातार पीते जा रहे थे।

सारी रात शराब का दौर, गाली-गलौज उल्टियाँ कराहना चलता रहा और सब नशे में धुत्त सो गय।

भोर हुई। तालाब पर परिन्दे चहचहा रहे थे। धूप की किरणें खिड़की से झोंपड़ी में आ रही थीं। सबने एक-एक करके उठना शुरू किया। अलसाये-से उठते हुए भद्दे ढंग से अँगड़ाइयाँ ले रहे थे।

मछुआरे नावों में मछली पकड़ते घूम रहे थे।

ताड़ के पेड़ों के झरोखों से झोंपड़ी में पड़ती हुई सूरज की किरणें क्रमशः गरम होने लगीं।

दिन बहुत चढ़ आया था। चौधरी ने अपनी निगाहें तालाब के चारों ओर दौड़ाईं। बाक़ी लोग आसपास ही नशे में धुत्त पड़े थे।

अचानक खिड़की में से आती हुई धूप में एक परछाईं उभरकर आई। सुरमई उजाला था। उजाला होने को था पर छुटपुट-सा अँधेरा था।

नशे में धुत्त सब आश्चर्यचकित से देख रहे थे।

किसी परिन्दे की चीख़ सुनाई दी। रोंगटे खड़े करने वाली चीख़ थी वह। बाज़ खिड़की से सरसराता हुआ अन्दर घुसा। उसके फड़फड़ाते पंखों की परछाईं दीवारों पर विकृत दिखाई दे रही थी।

पंखों की आवाज़ हो रही थी। बाज़ के चीख़ने की आवाज़ भी थी। वह नोच रहा था, चीर रहा था और मांस को कचोट रहा था।

"मरा! बाप रे बाप। मैं मर गया!" पकड़ो! की चीखें, आवाज़ें और कराहटों की गूंज सुनाई दे रही थी।

हमला बिजली की-सी तेज़ी से हुआ। और उसी तेज़ी से खिड़की में से निकल

गया । तालाब के ऊपर से हवा की तरह सरसराता निकल गया ।

सब खून से लथपथ थे । चौधरी की आँखे फूटकर बाहर आकर लटक गई थी । हर तरफ हाहाकार मचा हुआ था ।

देखते ही देखते बाज तालाब पर से पत्थरो, जगलो को पार करता सूरज के सामने से, एक पुच्छल तारे की तरह निकलता हुआ, पूरब की पहाडियो मे अदृश्य हो गया ।

(अनु० पी० अनुराधा राव)

पंजाबी

- गुरदेव सिंह रूपाणा
- मुख्तार गिल

(अनुवादक—लेखक)

डिफेंस लाइन



गुरदेवसिंह रूपाणा

दीदारसिंह को अगले मोर्चे से बदलकर दूसरी सुरक्षा रेखा पर लगा दिया गया। यह रेखा महाज़ से लगभग पन्द्रह किलो मीटर पीछे राष्ट्रीय राजमार्ग के साथ-साथ उत्तर-दक्षिण की ओर थी। बीस मील लम्बे टुकड़े पर मोटर-साइकिल के पीछे बैठा एक क़स्बे की चुंगी से दूसरे क़स्बे की चुंगी तक चक्कर लगाता रहता था। फ़ौजी नज़रिए से यह सड़क बहुत ही महत्त्व रखती थी। यह महाज़ को सारे देश के साथ जोड़ती थी, यह सड़क कई नहरों और बड़े नालों के ऊपर से जाती थी और दुश्मन ने इस इलाक़े में अपने छाताधारी उतारे हुए थे।

वातावरण पूरी तरह फ़ौजी था। सड़क के पूर्व की ओर फ़ौजी ट्रकों, जीपों तथा टैंकों को घास-फूंस और पेड़ों की टहनियों से छिपा कर खड़ा कर रखा था। टेलीफ़ोन की अस्थायी तारें बिछी हुई थीं। मोर्चे खोदे जा रहे थे। सड़क पर जगह-जगह 'जय जवान टी स्टाल खुल गए थे, जहाँ पर लोग फ़ौजियों को चाय-दूध पिलाकर अपने को धन्य समझते थे। लोग दूध-लस्सी के ड्रम और मक्खन मोर्चे पर बैठे जवानों को पहुँचाते। हर जगह फ़ौजी जवानों का हीरो-जैसा आदर किया जाता। सड़क के किनारे लगे बड़े-बड़े इश्तिहारों में फ़ौजी जवान दिखने लगे थे। एक खाद बनाने वाली कम्पनी के बोर्ड पर एक किसान के साथ पहले जहाँ एक सुन्दर जवान छोकरी खड़ी होती थी, अब उसकी जगह एक फ़ौजी जवान दिखाई देता—जवान और किसान। एक रेडियो बनाने वाली कम्पनी के इश्तिहार में एक भोले-भाले चेहरे पर घुंघराले बालों वाला जो बच्चा पहले गाल पर उँगली रख कर हैरानी से रेडियो सुनता दिखाया गया था, अब वह बच्चा वर्दी पहने कंधे पर बंदूक रखे था। चेहरे पर ख़ुशी और हैरानी की जगह गुस्से ने ले ली थी। और सबसे बढ़कर युद्ध का वातावरण बना रहे थे—महाज़ से लगातार आ रहे तोपों के धमाके।

दोपहर का समय था। एक जगह भीड़ देखकर दीदारसिंह ने अपने साथी पुल्ला रेड्डी को मोटर साइकिल रोकने के लिए कहा। भीड़ में एक किसान खड़ा था, जिसने अपने कन्धे पर कस्सी, हाथ में बरछा और पैण्ट की तरह कमीज़ के ऊपर से चादर बाँध रखी थी, वह कोई बात कह रहा था। वह कपास को पानी दे रहा था कि अन्दर कुछ हलचल-सी सुनाई दी। आगे बढ़कर देखा तो चार हथियार-बन्द लोग बैठे थे—छाताधारी। पहले उन्होंने रोटी के लिए विनती की। वे चार दिन के भूखे थे। उनसे पुलिस या सेना के हवाले करने को कहा। उन्होंने हाथ तक नहीं उठाया। उनके पास इतने हथियार थे कि वे सारे गाँव को भून देते। लेकिन नहीं, वे तो असल में एकदम निढाल हुए पड़े थे।

बात खत्म करके वह फिर शुरू हो जाता। कभी उनकी निढाल हालत को बयान करने पर ज़ोर देता तो कभी अपनी चतुराई पर कि कैसे उसने सूंघ लिया था। या फिर कभी उनके बात-चीत करने के तरीके के बारे में बताता—"अपनी तरह बोलते थे, बिल्कुल जैसे मैं बोल रहा हूँ।"

"जय हिन्द!" दीदारसिंह के पास आकर एक बीस-बाईस साल के लड़के ने कहा, "चाय पियोगे या दूध?" दीदारसिंह को उसकी आवाज़ जानी-पहचानी सी लगी। बस, जय हिन्द ही नई थी। उसने दुकान को ध्यान से देखा। एक कोठड़ा-सा, आगे छप्पर, पीछे की तरफ़ बौर से भरी, खूब मैली छतरी वाली बेरी।

दुकान के आगे नामुराद-सा कीकर, जिसका पता नहीं लगता था, सूखी है या हरी। सारा दृश्य जाना-पहचाना था। बस, दुकान के साथ पक्की ईंटों का बरामदा ही न था। वह जल्दी-जल्दी मे बनाया हुआ लगता था। अन्दर की तरफ़ दीवार के साथ सीमेण्ट के दो बैंच बने हुए थे तथा बाहर दरवाज़े पर एक जवान सैल्यूट करता हुआ बना हुआ था। नीचे लिखा था—जय जवान टी स्टाल।

दीदारसिंह ने ढाबे के सामने सड़क की दूसरी ओर देखा। किसी गाँव को जाने वाली सड़क वहाँ से निकलती थी! मील के पत्थर पर उस गाँव का नाम तथा दूरी लिखी हुई थी। सड़क पार करके वह उस जगह जा खड़ा हुआ। गाँव का नाम व दूरी पढ़कर वह हैरान रह गया।

'पहली बार ही में क्यों नहीं आई?' दीदारसिंह ने ऊँची आवाज़ में सोचा। उसके पीछे पुल्ला रेड्डी पहुँच गया था। बोला, "कौन साली नहीं आई?"

'पहचान!' दीदारसिंह अभी भी हैरानी में था।

"अरे सिह, सीधे-सीध कह ना", पुल्ला रेड्डी ने कहा।

दीदारसिंह ने उसे बताया कि जिस गाँव का नाम लिखा है, वहाँ उसकी ससुराल है, जो यहाँ से एक किलोमीटर दूरी पर है। वह कई बार यहाँ आ चुका है। लेकिन आज वह यह जगह नही पहचान सका। यह दुकान वाला लड़का भी इसी गाँव का है। इसकी दुकान पर वह अटैची रखा करता था।

सुनकर पुल्ला रेड्डी कहने लगा, "हम साला जंग का अंधा लोग है। पहले अक़ल का अंधा होता था। हम लोग जंग का अंधा है। हम लोग पैराट्रूप देखना माँगता······साला दुश्मन देखने को है···अपना घर भूल गया हम लोग।" जब दीदारसिंह ने उसे बताया कि उसकी पत्नी हरबंस कौर और उसका पुत्र भोला इसी गाँव में आए हुए हैं।

"साला, तू अपना फैमिली के पास-पास घूमता फिरता है। साला, तेरे को···!"

दीदारसिंह ने खेतों की तरफ़ देखना शुरू किया। वहाँ भी बेरी का पेड़ था, जिस पर अमरबेल चढ़ी हुई थी। कपास के खेत में खड़ी बेरी के नीचे एक जीप खड़ी हुई थी जिसे जाल तानकर हरे पत्तों और टहनियों से छिपा दिया गया था। कपास खिली हुई थी। जगह-जगह टैंकों तथा फ़ौजी ट्रकों ने फ़सल को कुचल दिया था। यह खेत हरबंस के मायके वालों का था पिछले साल जब वह आया था तो सारा परिवार कपास चुन रहा था। ढाबे पर अटैची रखकर वह सीधा उनके पास चला गया और उनके साथ कपास चुनता रहा, बंसो की झोली भरता रहा। सभी ने वहीं पर चाय पी। गुड़ की चाय का क्या स्वाद आया था। दीदारसिंह को उदास देखकर पुल्ला रेड्डी भी उदास हो गया। एक-दूसरे से बात किए बिना वे मोटर साइकिल पर सवार हो गये। तोपों के धमाके सुनाई दे रहे थे। परन्तु इधर-उधर का सारा शोर उनकी चुप्पी ने जैसे समेट लिया था।

पुल्ला रेड्डी ने यह बात सभी को बारी-बारी से बताई। इसका परिणाम यह हुआ कि दीदारसिंह को एक रात की फरलो छुट्टी मिल गई। चार बजे के लगभग पुल्ला रेड्डी मोड़ पर बने एक घर के आगे दीदारसिंह को छोड़ गया। मोटर-साइकिल के डिब्बे में से रम की बोतलें निकालकर वह बोला, "अरे सिंह, यह तीसरी डिफ़ेंस लाइन है, फ़ायरिंग ज़्यादा नहीं करना।" दोनों हँस पड़े। सुबह भाभी के हाथ की बनी मक्की की रोटी और साग खाने का वायदा लेकर, पुल्ला रेड्डी बाहर से ही चला गया।

उधर घर में सिर्फ़ औरतें ही थी। वर्दी में पहले दीदारसिंह को कोई पहचान न सकी। गाँव के आस-पास फ़ौजी आम घूमते रहते थे। उन्होंने सोचा कोई पानी-वानी पीने आ गया होगा। जब पहचान लिया तो सारी काम छोड़-छोड़कर उसके पास आ गई। वे तो दीदारसिंह की चिट्ठी का इंतज़ार कर रही थी। उसको देखकर सबको चाव चढ़ गया। लड़ाई लगी होने पर किसी रिश्तेदार फ़ौजी का इस तरह घर आ जाना भगवान की कृपा तथा अच्छी क़िस्मत ही तो है।

सबके बाद बंसो उसके पास आई। मैले-कुचैले कपड़ों में बिचारी-सी लगी। "तूने यह क्या हाल बनाया हुआ है?" दीदारसिंह ने धीरे से कहा। "यहाँ सिंगार करके मैंने किसे दिखाना है?" बंसो ने धीरे से कहा।

दीदारसिंह को ज़िन्दगी का मज़ा आ गया। थकावट उतर गयी। कोई एक

ऐसा भी है जिसका हार-सिंगार केवल उसी के लिए है। लड़ तो वह महाज़ पर रहा था, किन्तु विजय उसकी उस जगह हो रही थी, जिसे पुल्ला रेड्डी ने उसकी तीसरी डिफेंस लाइन कहा था।

बंसो की भाभी जसमेल कौर ने सुना। बोली, "बीबी, तू नहा ले। मैं पानी डाल देती हूँ।"

छोटी साली गुड्डी ने, जो नौ-दस साल की थी, भोले को गोदी में उठा रखा था। वह दीदारसिंह के पास आ खड़ी हुई।

"ले पापा के पास जा!" भोला उसके गले से चिपट गया। "अब जाता नहीं। रोज़ तो आवाज़ें लगाता रहता है। जा, तेरा पापा है।" भोला नहीं गया।

"आपको, इतना याद करता है कि जब भी तोप का धमाका सुनता है तो कहता है, मेरे पापा चलाते हैं।'—यह गुड्डी ने बताया।

दीदारसिंह ने हाथ आगे बढ़ाये, पर भोला पीछे हट गया। गुड्डी ने फिर कहा, "हमारे पेट पर उँगली लगाकर ठाँ करता है और कहता है कि मैं अपने पापा की तरह बन्दूक़ चलाता हूं। हमको हवाई जहाज़ नहीं देखने देता। मारने लग जाता है कि मेरे पापा का हवाई जहाज़ है। तुम मत देखो।"

जसमेल कौर बोली, "भइया, हमारा भोला तो बड़े तमाशे करता है।" फिर भोले से कहने लगी, "अब देखो, कितना सीधा बना हुआ है। पापा को 'नमस्ते' कर!"

दीदारसिंह की सास अमरकौर ने भी हिस्सा लिया—"काका तुझे चारों पहर याद करता है। जिस दिन से पाजेबें पहनाई हैं, पापा-पापा करके नाचता फिरता है। कहता है कि पापा को नाच के दिखाऊँगा। अरे, अब पापा को नाच के क्यों नही दिखाता!"

गुड्डी ने उसको गोदी से उतारने की कोशिश की। किन्तु भोला पहले से भी ज्यादा उसके साथ चिपट गया। उसने बनावटी गुस्से से डाँटा—"अब छोड़ दे।"

बंसो नहा के आई। नया सूट, कंघी की हुई, बाज़ू चूड़ियों से भरे तथा होठों पर हल्की-सी सुरखी लगाई हुई। वह दीदारसिंह के पास ऐसे आ खड़ी हुई मानो कहती हो, 'अब खुश है'। दीदारसिंह को वह पहले से ज़्यादा सुन्दर लगी।

बंसो ने भोले को गुड्डी से ले लिया और उसके जरिए दीदारसिंह से बातें करने लगी। "पापा को नमस्ते की है? ले, जा, तेरा पापा है। हथेली पर गीर-गण्डा करवा ले।" दीदारसिंह ने हाथ बढ़ाये और भोला उसकी गोद में बैठ गया। बंसो चारपाई की पाटी पर बैठ गई। "कितनी छुट्टी है?" उसने धीरे से पूछा। दीदारसिंह ने सारी बात ऐसे बताई कि सबने सुन ली।

बंसो के तीन भाई बारी-बारी ऐसे आये कि जैसे उन्हें दीदारसिंह के आने की खबर जहाँ बैठे थे, वहीं मिल गई हो।

पहले बंसो से छोटा जोगिन्दर आया। धरती पर उसके पैर खुशी के मारे मुश्किल से टिकते थे। दीदारसिंह के साथ हाथ मिलाकर उसे छाती से लगाया। दो-एक बातें करके वह मुर्ग़ा लाने चला गया। फिर सबसे छोटा जो पाँचवीं क्लास में पढ़ता था, छलाँगें लगाता घर में घुसा और दीदारसिंह के गले से लिपट गया। बंसो देखके गद्गद हो गयी। "तुझे इतना प्यार आता है छिन्दा!" उसने पूछा। छिन्दे ने 'हाँ' में सिर हिला दिया। साथ बैठकर छिन्दा लड़ाई के बारे में पूछने लगा। बाद में सबसे बड़ा बलवन्त आया। बलवन्त की शादी हो चुकी थी। उसकी चाल में कोई जल्दी नहीं थी। रसोई के पास बिछी चारपाई पर घर की औरतों के बीच बैठे दीदारसिंह को देखकर वह हैरान हो गया। माथा पकड़कर, मुँह एक तरफ़ करके दीदारसिंह के साथ हल्का-सा हाथ मिलाया और रिवाज़ी तौर से राज़ी-खुशी पूछी। वह हमेशा ऐसे ही मिलता था। पहले उसको गुस्सा आता, फिर धीरे-धीरे उतरता और दीदारसिंह की सेवा में किसी से कोई कसर रह जाये, तो सभी पर झुँझला पड़ता। सारे उसको कड़वे स्वभाव का जानकर गुस्सा नहीं करते थे।

बंसो उससे झेंप कर चारपाई से उठकर दीवार के पास पड़ी पीढ़ी पर बैठ गई।

जोगिन्दर मुर्गा छीलकर ले आया था।

"कौन-सा काटा है?" बलवन्त ने पूछा।

"नया पट्ठा।"

"बड़े-बूढ़े नहीं मारते थे।" बलवन्त बोला, "कोई ढंग की चीज़ तो घर में रहने नही देते।"

"जल्दी बड़ा नही बनना। टाइम कम है न। रात को कोई रोशनी तो करने नहीं देता।" जोगिन्दर ने सफ़ाई दी। बंसो की माँ अमरकौर को बलवन्त के इस तरह बोलने पर क्रोध आ गया। परन्तु उसका क्रोध उसे ही नुक़सान पहुँचाता है। विधवा औरत जवान बेटे पर कितना गुस्सा कर सकती है।

अभी उसकी एक लड़की विवाह-योग्य थी। छोटे पुत्र की पढ़ाई पूरी होनी थी, एक जवान पुत्र विवाह-योग्य बैठा था। वह चाहती थी कि छोटे-मोटे सभी काम निपट जाने तक सारा परिवार इकट्ठा ही रहे। बहू को बड़ा सहेज कर रखती। गुस्सा करती भी तो बहुत नरमाई से। अपनी बात मनवाने के लिए बेटे को खुश रखती थी। वह उस बिल्ली की तरह थी, जो अपने बच्चों को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए पहले खुद आगे-आगे चलती है, फिर 'म्याऊँ-म्याऊँ' करके अपने पीछे आने के लिए कहती है और जब भी बच्चे इधर-उधर बिखरने लगते हैं तो पीछे मुड़कर अपने साथ चलने के लिए उन्हें इकठ्ठा करती है, म्याऊँ-म्याऊँ।

बलवन्त की इतनी रूखी बात के उत्तर में उसने बस इतना ही कहा, "किस लिए मुर्ग़ा मारा पुत्तर? परिवार के साथ ही दाल-रोटी खा लेता।"

"क्यों, क्यों नहीं मारना था ?" बलवन्त कड़क कर बोला।

फिर उसने जोगिन्दर से कहा, "जा, ठेके से एक बोतल ले आ। ठेकेदार से कहना, अगर अच्छी न हुई तो तेरे सिर में मारकर फोड़ देंगे।"

"रहने दे बोतल को !" बंसो ने कहा।

"तुझे ज़्यादा पता है···रहने दे !" बलवन्त खीझकर बोला।

बंसो ज़रा हँसकर बोली, "तुम्हारा सरदार रम लेकर आया है।"

"यह क्या बात हुई ?···आपकी लाई हुई हम नहीं पीने देंगे !" बलवन्त ने अपने आपसे बोलते हुए कहा, "चलो ठीक है, माँ, सरदार को पैसे दे देना।"

"देने हैं पैसे ! इसके लिए कौन से पौंड लगे हैं !" बंसो बोली।

सारे हँस पड़े। दीदारसिंह भी हँस पड़ा। सबको हँसता हुआ देखकर भोला चारपाई पर कूदने लगा।

अमरकौर को तसल्ली हो गई कि बलवन्त की रूखी बात को दीदारसिंह ने गंभीरता से नहीं लिया। बोल का चाहे कड़वा है, लेकिन वह दीदारसिंह को बहुत चाहता है दिल से। बाक़ी कसर उस समय निकल गई जब ऊँची पीढ़ी पर बैठ कर बलवन्त अपने आप मुर्ग़े को भूनने लगा।

बलवन्त ने बापू की मौत के बाद न पीने की क़सम खा रखी थी। दीदारसिंह के साथ जोगिन्दर बैठ गया। मुर्ग़ा भूनकर वह भी उनके पास आ बैठा। रम के साथ खाने के लिए सब्ज़ी और मूली के टुकड़े रखे थे।

बलवन्त ने पिछली दीवार के ऊपर से सिर निकाल कर अपने पड़ोसी राजेन्द्र को आवाज़ दी, और कहता सुनाई दिया, "हिरण का अचार ला के दे, ओए, सरदार आया है !"

अमरकौर ने दीदारसिंह को सुनाते हुए धीरे से कहा, "बोली का रूखा है। वैसे दिल में कुछ नहीं है।"

बंसो ने बात को सहारा दिया—"अब इसका दिल कर रहा है कि मैं सब-कुछ सरदार को खिला दूँ।"

सभी सहज और ख़ुश हो गये थे। छिन्दा दीदारसिंह से लड़ाई के बारे में सब कुछ जान लेना चाहता था। सवाल पर सवाल किए जा रहा था—मोर्चों पर रोटी कैसे पहुँचती है, फ़ौजी लड़ाई के दौरान सोते कैसे हैं ? अफ़सरों के हुक्म उन तक कैसे पहुँचते हैं ? ज़ख़्मियों को कौन और कैसे उठाकर लाते हैं ? मरनेवालों की लाशें उनके रिश्तेदारों को कैसे भेजी जाती हैं ? हर एक आदमी की पहचान कैसे की जाती है ? दुश्मन के क़ैदियों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है ? इस तरह के अनेक प्रश्न जो उनके बालमन को परेशान किए रखते थे।

दीदारसिंह सभी सवालों का जवाब दे रहा था। वह कुछ घटनाएँ अपनी तरफ़ से जोड़ देता। हर घटना का केन्द्र अपने को रखकर बातें करता।

मीठा-मीठा मौसम। बड़ा रंग बिखरा हुआ था। सूरज डूब चुका था। झुट-पुटे में सब कुछ रोमांटिक-सा लग रहा था। लड़ाई के बीच से आकर परिवार में बैठने का जो आनन्द था, वह बयान से बाहर था।

इस दौरान उसको चौके में बैठी अमरकौर और जसमेल की कुछ खुसुर-पुसुर सुनाई दी। बलवन्त भी उनकी बात-चीत में शामिल हो गया।

"कोई नहीं," अमरकौर कह रही थी, "एक रात के लिए आया है···बच्चों के साथ सो जाएगा।"

बलवन्त अपने असली 'रंग' में आ गया, "यह कंजरख़ाना यहाँ नहीं चलने का। अपने घर जाकर···।"

सब चुप हो गये, जैसे सहम गए हों। भोला चारपाई पर झटपट दीदारसिंह की गोदी में सहम कर बैठ गया। बलवन्त के स्वर में कुछ ऐसी बात थी, जो सभी चीजों पर छा गई—घर वालों पर, घर पर, घर के रिश्तों की आब पर।

दीदारसिंह को ऐसा लग रहा था कि जैसे दुश्मन को लताड़ता हुआ वह अचानक दुश्मन के घेरे में फँस गया हो।

उसने माँ और बेटे के बीच हुई बात का अनुमान लगाने की कोशिश की। 'बुढ़िया ने कहा होगा, आज की रात छत पर चौबारे के आगे जहाँ बलवन्त और बहू सोते हैं, दीदारसिंह और बंसो सो जाएँगे।'

'इस पर बलवन्त ने उसे कंजरख़ाना कहा होगा। पहले भी वह कई बार बंसो को लेने आया था। बुढ़िया ने कभी पहले इस तरह नहीं सोचा था, ना ही उसने आप ऐसी कोई इच्छा जाहिर की थी। वह जानता था कि मायके में कोई लड़की अपने पति के साथ नहीं सोती। चोरी-चोरी थोड़ी-बहुत मेल-मुलाक़ात चलती है। सबके सामने तो वे बात भी नहीं करते थ। बुढ़िया ने शायद सोचा होगा कि मोर्चे से आया है। पता नहीं, फिर कभी आये या न आए। इसीलिए उसने यह बात कह दी होगी। जैसे कि आजकल हर बात में फ़ौजियों को प्राथमिकता दी जाती है। जैसे कि मरने से पहले आदमी की आख़िरी इच्छा पूरी की जाती है।'

"खबरों का समय हो गया है", छिन्दे ने कहा और अन्दर से रेडियो उठा लाया।

समाचार आने लगे। हमारा रेडियो कह रहा है कि हमारे जवानों ने बर्की पर क़ब्ज़ा कर लिया है। थाने की इमारत पर झण्डा लहरा रहा है। पीछे रह गये बूढ़े और विकलांग लोगों की देखभाल हमारे जवान कर रहे हैं। कुछ पत्रकार उन लोगों से मिलकर आये हैं। उन बूढ़ो और विकलांग लोगों ने अपने देश की फ़ौजी सरकार को दोष दिया है, जो पड़ौसी देश के साथ लड़ाई छेड़कर अपनी गद्दी पक्की करना चाहती है। अपनी कमज़ोरियों को छुपाने के लिए लोगों का ध्यान दूसरी ओर लगा रही है।

समाचार का सबसे ज्यादा असर छिन्दे पर हुआ—"हमारे बहादुरों ने दुश्मन की ऐंठ निकाल दी।"

दीदारसिंह ने उसे पूरी शेखी नहीं मारने दी—"बहादुरी पीछे रहने वालों को लगती है। बहादुरी···डर से लोगों का पेशाब निकलते देखा है हमने। चीखते··· हाय माँ···हाय अमडी। जब साथ वालों के धड़, लातें तथा बाँहें हवा में उड़ती हैं तो पता लगता है बहादुरी का···। गद्दों पर लेटकर सोचने पर जवान बड़े बहादुर लगते हैं···।" साले बहादुरी के।"

तनाव बहुत बढ़ गया। दीदारसिंह ने बिना किसी की तरफ़ देखे अपना गिलास आधे से भी ज्यादा भर लिया और बिना पानी के पी गया। बंसो ने देखा तो उसका मुँह खुला का खुला रह गया···इतनी!

बंसो ने बोतल उठाकर चूल्हे की रोशनी में देखी। चौथाई बची होगी। उसने बोतल अंदर छिपा दी।

"पड़ी रहने दे!" दीदारसिंह ने कहा, "शराब पी के मरो या गोली खाकर कोई अन्तर नहीं।" उसकी ज़बान तुतला रही थी और कंठ भर आया था।

"मरें हमारे दुश्मन" अमरकौर बोली, "हम क्यों मरें! दिल खराब मत कर शेरा। हमारा भगवान तो नहीं बिका है···सहारा।" अमर कौर का भी गला भर आया।

"हम सब तो रोज़, यही प्रार्थना करते हैं कि लड़ाई खत्म होते ही सारा परिवार घर में इकट्ठा होकर बैठे। इस घर में किसी बात की कमी थोड़े ही है।"

अमरकौर को पता था, सबको पता था कि दीदारसिंह का मन बलवन्तसिंह की बात सुनकर छोटा हो गया था। पर उसने दीदारसिंह की बात को मौत के साथ जोड़कर बात का रुख़ बदलने के लिए यह सब-कुछ कहा था। उसे हौसला दिया था और नौकरी छोड़ देने की सलाह दी।

बंसो ने माँ की बात पकड़ते हुए कहा, "घर की कमाई तो सभी मिलजुल कर खा रहे हैं। हम तो वर्दियों और गोलियों के बीच हैं।"

दीदारसिंह को पता था कि माँ और बेटी बात को टरका रही हैं। पर उसके लिए हमदर्दी और चिन्ता भी ज्यादा थी। उसका मन पिघल गया और उसे अपने आँसू रोकने मुश्किल हो गये।

'दीदार भाई' उसने मन ही मन अपने आप से कहा, 'तू बीवी के साथ रात काटने के लिए मन खराब कर रहा है।'

दीदारसिंह के अन्दर तूफ़ान उठ रहा था, नशा चढ़ रहा था, सिर चरका रहा था।

"साले परदा रखते हैं···। अठारह महीने का बच्चा हो गया!" उसके तीनों साले उसके साथ की चारपाइयों पर सोए पड़े थे। बलवन्त भी आँगन में ही लेट गया

था। बात करने के लिए दीदारसिंह साथ था, पर कोई बात नहीं हुई। छिन्दे ने एक-दो बार कुछ पूछना चाहा, दीदारसिंह ने कोई जवाब नहीं दिया। बलवन्त ने डाँट कर छिन्दे को चुप करा दिया।

दीदारसिंह कोशिश करके अपने मन पर क़ाबू रखना चाहता था कि कहीं कोई ऐसी-वैसी बात मुँह से न निकल जाए और झगड़ा बढ़ न जाए। बन्दूक उसके पास थी। बिना छुट्टी के आया था, झगड़ा हो जाने की हालत में बंसो की क्या दशा होगी! वह किसका पक्ष लेगी। अगर उसका पक्ष लिया तो सारी उम्र भर के लिए भाइयों से अलग हो जायेगी। फिर सोचता, 'नहीं, बलवन्त उसके साथ झगड़ा नहीं कर सकता, गाली दे दे तब भी।'

बलवन्त उसकी बहुत क़दर करता है, इस बात का पता उसको शादी के समय ही लग गया था। दो दिन बारात रुकी थी। जितनी बार वह नहाया बलवंत खुद पास खड़ा रहा। साबुन की नयी टिक्की निकालकर दी, नया सूखा तौलिया। खाने के समय भी वह दीदारसिंह के साथ-साथ रहा। अपने हाथ से पकवान उसकी थाली में रखता और खाने के लिए कहता। सेवादारों को हिदायतें देते-देते उसका गला बैठ गया था। आवाज़ नहीं निकलती थी। विदाई के समय उसने कैसा समाँ बाँधा था। उसने बरातियों से हाथ जोड़कर माफ़ी माँगी थी कि सेवा में कोई कसर रह गई हो तो माफ़ करना।

रोती हुई बंसो को कार में बिठा कर उसने दीदारसिंह से कहा, "सरदारजी, हमारी बहिन नादान है। इसकी भूल माफ़ कर देना। अब यह हमसे ज्यादा तुम्हारी है।"

'अगर मेरी ही ज़्यादा है तो मेरी बनने क्यों नहीं देता? उसे मेरे पास क्यों नही आने देता! मुझे बिछी हुई चारपाई पर बैठे देखकर जलना क्यों है? नही, परदे-वरदे की कोई बात नहीं, उसके दिल में कोई और ही बात है।'

ध्यान हटाने के लिए उसने सिरहाने पर रखा रेडियो चला दिया। लाहौर से समाचार आ रहे थे। अगर वह समाचारों पर यक़ीन कर ले तो इस समय उसे दुश्मन के जीते हुए इलाक़े में होना चाहिए था। समाचारों के अनुसार पाकिस्तान की फ़ौजों ने भटिण्डा क़ब्ज़े में कर लिया था! "साले गप्पी।" उसने रेडियो बन्द करने के लिए बटन घुमा दिया।

मीटर वाले बटन पर हाथ चला गया था। स्टेशन बदला गया। दूसरा बटन घुमा कर रेडियो बन्द कर दिया। दीदारसिंह ने अपने ऊपर सख़्ती के साथ पाबन्दी लगा दी। शाम के बेस्वाद होने के बारे में सोचना बंद कर दिया। पिछली बार जब वह छुट्टी आया था, तब की कोई बात याद करने लगा।

सर्दी के दिन थे। धूप में बैठकर ताश खेलना, शाम को बोझ उठाना, गोला फेंकना—सब में कितना मज़ा आता है। हाँ, उस समय चुनाव के दिन थे। दिन

में ही चुनाव-प्रचार तेज़ होता। गाँव में पहले दिन कई पार्टी वाले लाउडस्पीकर ले आये।

लाउडस्पीकर बोल रहा था, "हमें जो आज़ादी मिली है, ऐसे ही नहीं मिल गई। क़ुर्बानी के कारण मिली है। भगतसिंह जैसे फाँसी पर झूल गये और अब इस आज़ादी को कायम रखने के लिए हमारी पार्टी को वोट देकर सफल बनाओ!"

दो-तीन दिन बाद एक दूसरी पार्टी वाले आये। उन्होंने भी इसी तरह की बातें कीं। बताया कि भगतसिंह फाँसी चढ़ा था, इसलिए हमें वोट दो!

कुछ दिनों बाद एक तीसरी पार्टी वाले आये। उन्होंने कहा—"भगतसिंह देश के लिए, आजादी के लिए फाँसी चढ़ गया। देश में से गोरे अंग्रेज चले गये। पर अपनी जगह पर काले अंग्रेज़ों को बिठा गये। इसलिए आज़ादी अभी पूरी नहीं मिली। हमारी पार्टी भगतसिंह की असली वारिस है। इसलिए अधूरी आज़ादी को पूरा करने के लिए हमारी पार्टी को अपना क़ीमती वोट देकर सफल बनाओ।"

"साले! भगतसिंह के बाप के साले!" दीदारसिंह ने उनके भाषणों का इस समय उत्तर दिया। "भगतसिंह! भगतसिंह एक ही बोली बोलते थे। उसका तो नाम ही है। असल में बात कोई और है—बिल्कुल कोई और बात।"

न चाहते हुए भी फिर उसके मन में कई बातें उलझ गईं। भगतसिंह की शहीदी की ओट में वोट—ओट ओहला और भोला—भोला अब चलने लगा है—पिछली छुट्टियों में नहीं चलता था। चारपाई पकड़कर खड़ा हो जाता था। अब तो नाचने लगा है, नाचे चाँदी की कड़े और चाँदी के घुँघरू—अब बातें भी करने लगा है, छोटी-मोटी—सब कुछ बंसो ने सिखाया है। जहाज़ देखकर कहती होगी, तेरे पापा का जहाज़। धमाका सुनकर कहती होगी—तेरे पापा ने तोप चलाई। पेट में अँगुली लगाकर कहती होगी, पापा ठाँ करके चलाते हैं बंदूक···। भोले ने पहचान लिया था···नहीं···बंसो के कहने पर मान लिया था, गुड्डी के कहने पर नहीं···और किसी के कहने पर नहीं।

बंसो ने कहा, तेरा पापा है। झट गोदी में आ घुसा। चेहरा बिल्कुल बंसो के जैसा।—तगड़ा बनेगा, मेरे-जैसा खिलाड़ी होगा—नहीं, भोला कोई समझदारी का काम करेगा—दिमाग़ी काम अक़ल वाला काम, अकल भी नीरोग शरीर में बढ़ती है। शारीरिक तौर पर तो हम कम नहीं, फिर समय पर अक़ल क्यों नहीं आती। जो और-और बातें दुनिया में हो रही हैं। लोग पहले बाजे बजाते हैं और फिर ओट रखते हैं।

"साले छुपाकर रखते हैं।" फिर भोला कहाँ से आ गया, बताओ कोई? उसके अन्दर फिर जहर घुलना शुरू हो गया। ऐसी बातें भूल जाने का अपना वचन अपने को याद दिलाया। रेडियो सुनते हैं गाना सुनते-सुनते नींद आ जायेगी। रेडियो पर कोई देश-भक्ति का गीत बज रहा था। धरती माँ का गीत—प्यारी

माँ, हम तुझ पर बलिहारी जाते है। ऊँचे पहाड़ों वाली, बहते दरियाओं वाली धरती माँ! हम तुझे नमन करते हैं। पीरों और फ़कीरों वाली, रागियों, राँझों और हीरों वाली, जंगलों वाली, झूलों वाली, तेरी धरती पर गाय और बछड़े चरते अच्छे लगते हैं तथा धरती माँ, तेरे पुत्र अनोखे जवान, तेरी जवान लड़कियाँ शरम-हया की पुड़िया हैं। हम आँखों की शरम वाले तेरे पुत्र-पुत्रियाँ प्रण करते है—तेरी ओर बुरी नजर से देखने वाले की हम आँख निकाल देंगे! तेरी पवित्र धरती के एक-एक कण पर हम सौ-सौ जानें वार देंगे। धरती माँ, हम तुझे शीश झुकाते हैं!

"साले मरने के लिए करते हैं।" दीदारसिंह ने जहर घोला। गीत के पीछे उसे कोई और बात सुझाई दी तो उसने सुई घुमा दी।

नये स्टेशन मे भी देश-प्रेम का कोई गीत आ रहा था। बिल्कुल अभी सुने गीत-जैसा, "बागों वाली, बहारों वाली, धरती माँ, हम तुझ पर न्यौछावर जाते हैं। पीरों और फ़कीरों वाली, राँझों और हीरों वाली, हम तेरे अनोखे बेटे-बेटियाँ तेरी आजादी के लिए सब-कुछ क़ुर्बान कर देंगे। हम क़सम खाते हैं धरती माँ, जो हाथ तेरी ओर उठेंगे, वे काट दिए जायेंगे। कोई बुरी नज़र तेरे पर डालेगा, उसकी आँख निकाल देंगे। धरती माँ···! तेरे एक-एक कण पर हम लाख-लाख जानें न्योछावर कर देंगे। धरती माँ···।"

उद्घोषिका ने स्टेशन का नाम बताया—लाहौर! दीदारसिंह ने रेडियो बन्द कर दिया। दुश्मन का रेडियो भी वही गीत गा रहा था। वही बोली; 'वही हीर-राँझे, वही पीर-फ़कीर और दरिया-पहाड़।' अगर यह गीत जालन्धर से सुना जाये तो अपने देश के साथ जुड़ सकता था। वह भी धरती माँ के लिए क़ुर्बान होने के लिए आतुर हैं तो हम भी वारे-वारे जाते है। धरती एक ही—बीच में लकीर, एक फ़ुट इधर। धरती माँ एक फ़ुट उधर। धरती दुश्मन। यह लड़ाई माँ की रखवाली के लिए आ रही है। नहीं, नहीं, यह धरती माँ हमारे पिता सूरज के पास चली जाए तो सब कुछ पिघल कर एक हो जायेगा। कौन-सी दुश्मन धरती, कौनसी माँ धरती! सब आँखों की शर्म मे घुल-मिल जाएगी। पवित्र कण से अपवित्र कण अलग करने मुश्किल हो जायेंगे। नहीं, पर यह लड़ाई धरती के लिए नही—कोई और ही बात है।'

सोचते-सोचते दीदारसिंह को क्रोध आने लगा, "साले धरती के लगते आँखों के···।"

खतरे का सायरन वजा। वह लोगों से धरती में बनी खाई में लेट जाने के लिए कह रहा था। कई लोग छतों पर चढ़ने लगे। सीढ़ियों पर पैरों की धम धम आवाजें आ रही थीं। फ़ौजी होने के कारण उसे भी चारपाई से उतर कर किसी बचाव वाली जगह पर लेट जाना चाहिए था। पर वह चारपाई पर ही

लेटा रहा। गिर जाए बम, उसने सोचा, यहीं गिर पड़े बेशक !

तभी बड़ी जोर से धमाका हुआ। छतों पर से आवाजें आने लगीं—नहर के पुल पर फेंक दिया है। नहीं, बड़े नाले के पुल पर लगता है। साथ ही हवामार तोपों ने फ़ायर करना शुरू कर दिया। बीच अँधेरे में ही एक तरफ़ से दूसरी तरफ़। छतों पर फिर आवाजें तेज हो गईं—"आहा—लग गई आग ! ठोक दिया ! भुन गया काँटों के बीच, हाय··· गिर पड़ा··· नहीं, झुक गया। हद से इधर की तरफ़ गिर पडा। चलते-चलते हद फलाँग गया गिरता-पड़ता !"

एक बूढ़ी औरत की आवाज पड़ोस के आँगन से आई, "मर जाएँगे माँओं के पुत्तर। पागलो, क्यों लड़-लड़ मरते हो ? अपना-अपना खाना-पीना।"

एक जवान आवाज ने जवाब दिया, "तुझे पता तो है नहीं किसी बात का ! जिन पर बम फेंकने आया था वो भी तो किसी माँ के पुत्तर हैं।"

"यही तो मैं कह रही हूँ। माँओं के पुत्तर मर रहे हैं। किसी का कुछ नहीं बिगड़ता।"

दीदारसिंह ने खेस तानकर अपने इर्द-गिर्द घना अँधेरा कर लिया। आँखें बन्द कर लीं। कुछ भी नहीं सोचने का यत्न किया। दोनों आँखों के बीच, जहाँ पर भवें जुड़ती हैं, वहाँ उसने ध्यान लगाने का प्रयत्न किया। ध्यान लग गया। उस बिन्दु से रोशनी का एक टिमटिमाता तारा उभरता और दूर होता-होता रोशनी का अँधेरा बन जाता और दूर जाकर फट जाता। फिर उसी जगह से एक टिमटिमाता तारा उभरता और दूर जाकर टूट जाता। कितनी देर उसका ध्यान इस अजीब खेल की तरफ़ लगा रहा और पता नहीं कब उसे नींद आ गयी।

सुबह उसके कहे अनुसार उसको जल्दी उठा दिया गया। दर्द से उसका सिर फट रहा था। उसने पानी पिया और दही माँगा। अमर कौर मलाई वाला दही का बड़ा कटोरा ले आई। उसने बची हुई रम लाने के लिए कहा। बंसो बोतल और गिलास ले आई। पहले आधा दही पिया और फिर दिल पक्का करके रम का पैग अन्दर उँड़ेल लिया और ऊपर से बचा हुआ दही—भी पी गया।

वह नहा के हटा तो बलवन्त अपने जानवरों को चारा डालने में लग गया। जसमेल दूध निकालने की तैयारी करने लगी। छिन्दा सर्दी के मारे सुकड़ा पड़ा था। अपना खेस उसके ऊपर डालकर जोगिन्दर बाहर निकल गया। खाली होकर उसके बाद बलवन्त भी घर से चल दिया। अमर कौर ने पहले दीदारसिंह के लिए चाय बनाई और फिर परिवार के लिए पतीला रख दिया।

बंसो ने भोले का बासी मुंह धोकर उसे दूध पिलाया, ताकि चलते समय उसका पापा उसे प्यार करके जाए।

वह तैयार हो गया था। तभी बंसो बैठक में चाय लेकर आई। दीदारसिंह ने उसके हाथ से चाय वाला लोटा लेकर दीवार पर रख दिया और उसे दोनों

कन्धों से पकड़ लिया। भोला को उसने अपनी गोदी में उठा रखा था। बंसो ने बाहर की तरफ देखा। कोई नजर नहीं आ रहा था। दीदारसिंह ने अपना मुँह बसो के नजदीक किया तो भोले ने उसके गाल पर छोटे-से हाथ का चाँटा मारा।

"यह हाथ नहीं लगाने देता अब !" बसो ने कहा।

दीदारसिंह ने अपना मुँह बसो के मुँह के और नजदीक कर दिया।

भोला जल्दी-जल्दी चाँटे मारने लगा। भोला चाँटे मारता रहा कि उसने अपना मुँह बसो के गाल पर रख दिया। भोला छोटे-छोटे हाथ से उसे पीछे धक्का देने लगा। वे दोनों अलग होकर हँसने लगे। भोले ने मुँह बना लिया। फिर उनके मुँह जुड़ गए। जोर लगाकर भोले ने दीदारसिंह को दूर धकेला। उसने जान-बूझकर बहुत देर तक मुँह लगाए रखा। भोले से उसका चेहरा दूर न हुआ तो वह रोने लगा। जोर से चिल्लाने लगा। बसो दीदारसिंह से परे हट गई। "पापा गन्दा है। हम पापा को मारेंगे।" यह कहते हुए उसने दीदारसिंह के कन्धे पर हल्का-सा थप्पड़ मारा।

भोला के रोने का स्वर ऊँचा हो गया और वह बसो के गले से चिपट गया।

बड़ी मुश्किल से दीदारसिंह ने उसको अपने करीब किया। "नहीं भाई, भोले की बीबी है। हम नहीं हाथ लगाते, नहीं लगाते। भई, बस-बस !" अब कहता हुआ दीदारसिंह हल्का-फुल्का हो गया जैसे बाकी की सभी बातों का बोझ उसके मन से उतर गया हो। "अच्छा तो यह बात है भोले बादशाह ! यह बात है तो फिर।"

बर्की के थाने की इमारत पर झूलते तिरंगे की खबर की उसे याद हो आई। थाने की इमारत एक बड़े किले में बदल गई और इस किले को जीतने की खुशी में वह चाय पीना भी भूल गया। पुल्ला रेड्डी बाहर लगातार हॉर्न बजाए जा रहा था। दीदारसिंह उसकी तरफ तेज भागा जैसे कोई और किला जीतने की उम्मीद में उसका इन्तजार कर रहा हो।

(अनु०—गुरदेवसिंह रूपाणा)

नदिया-किनारे वृक्ष



मुख़्तार गिल

पक्की और कच्ची फसल के बीच सफ़ेदे के वृक्षों की एक लम्बी पंक्ति थी। बाबा कृपा की दिन-प्रति-दिन कमज़ोर होती नज़र इन सफ़ेदों पर लगी हुई थी।

अकस्मात् उनके कद्दू वाले खेत के सम्मुख बारह में तेरहवाँ सफ़ेदा कड़क से टूट गया। अलाटी मास्टरों के डेरे के बाहर फसल के पास कड़कती हुई आवाज़ से टूटते हुए इस युवा सफ़ेदे का केले के नरम तने की तरह टूटना अच्छा न लगा। परन्तु तूफ़ान क्या था। सफ़ेदे का नरम तना इसकी मार को सहन कैसे कर सकता था! देखते-देखते वह टूटा और साथ वाले सफ़ेदे की दुसाँग में अटक गया। यह सोचकर बाबा कृपा आसमान की ओर देखने लगा, चाहे उसे धूल के ढेर के कारण आसमान दिखाई न दिया।

कल पूरा दिन कितनी गर्मी थी, एक घुटन-सी थी। कामगारों के साथ पौध उखाड़ते हुए वह भी सिर से पाँव तक भीग गया था। माथे से चल रही धारा कमज़ोर आँखों को नमकीन कर रही थी, परन्तु उसे कमीज़ की आस्तीन से साफ़ करने का उसके पास अवकाश नहीं था।

"बाबा! वर्षा ला दो, गर्मी से मरे जा रहे हैं···।" मास्टर के साथ चल रहे शीरी मज़दूर के हाथ से बम्बे से लाये पानी के बर्तन को पकड़ते हुए एक और मज़दूर ने कहा।

"आज वर्षा न हुई तो तूफ़ान अवश्य आयेगा, इतना चौमासा, तन जल रहा है।" बाबा कृपा ने सन को ज़ोर से बाँधते हुए कहा।

बर्तन मुँह से लगा एक साथ पानी पीकर दूसरा मज़दूर कद्दू वाले खेत में बैठ गया। उसको पानी और भी तपता हुआ लगा।

"आओ, ज़रा काम कर लें···बहुत काम बाक़ी रह गया है।" बाबा की बात की ओर ध्यान न देते हुए एक मज़दूर गोदाम में से

टूटी-सी सन की खटिया उठा लाया।

पनीरी में कद्दू के कारण और उसकी बाट में किसी चूहे के बिल के कारण पानी ज्यादा आ गया था, जिसके कारण उस कामगार ने खटिया रख दी और बैठकर पौध उखाड़ने लगा। देखते-देखते दूसरे कामगार भी आ बैठे। इसलिए पहले तो नमी के कारण चारपाई के पाँव ज़मीन में धँस गए, फिर वे सभी स्वयं कुआँनुमा खटिया में पीछे की ओर गिर गए और हँसने लगे।

"अरे कलियुग के मारो! कभी खाट पर बैठकर भी पौध उखाड़ने का काम हो सका है···" बाबा कृपा ने अभी अपनी बात पूरी नहीं की थी कि धूल का ढेर सामने आता हुआ दिखाई दिया। पल-भर में ही पूरा आसमान ढँक गया। धूल व तिनके आँखों में पड़ने शुरू हो गए। सिर व तन धूल से भर गया।

इतने अंधकार में भी कृपा पीछे की ओर देखने लगा।

× × ×

उसकी चेतना चलने लगी अपने निजी गाँव की ओर, उस कमरे की ओर, जहाँ वह जन्मा था। जिसके दरवाज़े से बधाई देते हुए बारवालों की खेमों आई थी। जहाँ ताई निहालो ने शहद की गुडनी दी थी और अपने चाँद को नज़र लगने से सुरक्षित करने के लिए अपनी उँगली की सहायता से काले रंग का टीका लगा दिया था। और जहाँ युवतियों ने—

गीगा जम्मिया-सी रात, गुड़ वण्डिया प्रात।
साडे पैरा हेठ सलाइयाँ, असी काँबु वेले दीयाँ आइयाँ।
साडि पैरों हेठ रोड़, सानू छेती-छेती तोर।

आदि गीत गाये थे।

कृपा को अपनी गर्मी में जन्म देने वाला वह कमरा कब का ढेरी हो गया था और ताई भी मर चुकी थी। हाँ, उसको खिलाने वाली नाइयों की मीतो, दूसरी बार विधवा होकर अपने पिता के घर आ बैठी थी। परन्तु उसने अब भी अपने डण्डे के सहारे न तो जजमानो की बातें पूरी करनी छोड़ी थीं और न ही बहुओं और सासों की निन्दा करनी छोड़ी थी।

उन्हीं दिनों परिवार इकट्ठा था। बाबू था, ताया था, चाचे थे और बाक़ी का परिवार। कृपा का बचपन पोने वाले तालाब, साईं की कुल्ली वाले कुएँ, पणसालिये के नहरी क्वार्टरों के इर्द-गिर्द बीता था। यदि पोने में नहलाती हुई चाचियाँ व ताइयाँ बुरा-भला कहतीं तो साईं की कुल्ली मे स्नान करते। यदि वहाँ से साईं भगाता तो नहर जाकर शरारतें करते और यदि वहाँ भी पणसालिया खदेड़ देता तो बेरियों के काँटों सहित बेर, खरबूज़े और कभी-कभी कच्चे आम होते। धीरे-धीरे शरारतें करते-करते, 'छुआ-छू' खेलते-खेलते बचपन बीत गया। मौलवी व पीर के डण्डे से डरता कृपा एकाध बार ही स्कूल गया।

बाद में गुरुद्वारे के भाई से, फ़र्श पर राख बिखेर कर उँगली से लकीरें खींचकर वह चार अक्षर जरूर सीख गया।

मुरब्बेबंदी के समय चालाक चाचों ने अफ़सरों के साथ मिली-भगत करके, खिला-पिलाकर, कुछ दे-दिलाकर कम क़ीमत में ज्यादा ज़मीन बना ली। ताया इन दिनों निःसन्तान चला गया और बापू ने भी ज्यादा ज़ोर नहीं लगाया। चाचे साथ वाले गाँव चले गए। बापू व कृपा के दोनों भाई अपने निजी गाँव में रह गए। बापू का शरीर धोखा दे गया, हल चलाने योग्य शक्ति न रही। ज़मीन न्याई होने के कारण अच्छी थी। उसके भाइयों ने मज़दूर रखकर खेती जारी रखी। कृपा नम्बरदार हो गया। (साधारणतया किसानों के घरों में चाहे दो भाई हों या दस, एक नम्बरदार अवश्य होता है, जिसका काम बाह्य कार्य—जैसे बीज, खाद, डीज़ल, थाना-कचहरी, ब्लॉक, सहकारी बैंकों से ऋण आदि के लिए जाना होता है, और उसका उठना-बैठना बुरी संगत वालों के साथ हो जाना अनिवार्य हो जाता है।) कृपा का बड़ी भाभी ने रिश्ता करवा दिया क्योंकि वह जानती थी कि यह पत्नी तो रखेगा नही, इसलिए ज़मीन बाहर किसी दूसरे के पास क्यों जाए?

नयी पत्नी के आने से कृपा अपने साथियों का स्नेह न त्याग सका। दूसरे, अच्छी ज़मीन को हिस्से व ठेके पर दे देने पर भी उसका नशा व दोनों सदस्यों का निर्वाह हो जाता था। और उसकी पत्नी भी परमात्मा का नाम लेने वाली धैर्य-वान स्त्री थी। घर से भी एक दिन अलग होना था, वह भी हो गए। क्योंकि ज़मीन का तो पहले ही विभाजन हो चुका था।

कृपा की पत्नी प्रसूति का समय व्यतीत करने के लिए गाँव गई हुई थी जहाँ ऑपरेशन से मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ और स्वयं भी वह मर गई। कृपा बहुत दुःखी हुआ। आगे चलकर बुरी संगत भी और बढ़ गई। दीपो महरी की भट्ठी की ओर उसके चक्कर बढ़ गए। उसका स्वामी जीता। पैंच साइकिल के पीछे झोला रखकर, पीछे थाल, कड़ाही, पौनी बाँधकर मेले मे जाया करता जहाँ वह पकौड़ों की दुकान करता था। पीछे दीपो पाँच-सात घरों का पानी भरकर, सायं-काल का ईंधन लाकर धुले हुए वस्त्र पहनकर भट्ठी पर आ बैठती। वह ग्राहक की ओर कम ध्यान देती, परन्तु इधर-उधर नज़र ज्यादा घुमाती।

कृपा खेतों की ओर चला गया। खेत तो पहले ही हिस्से व ठेके पर दिये हुए थे। बालों को ठीक करके, दाढ़ी को ठीक तरह से बनवा कर पंजाबी कुर्ता पहन-कर, नीचे चादर व कढ़ाई वाला जूता पहनकर खूब चमक-दमक के साथ अड्डे पर घूमता रहता। नशा आदि पूरा करके सायंकाल को भट्ठी के चक्कर काटता और रात्रि के समय भट्ठी के किनारे बैठकर अपने-जैसे बाँके युवकों के साथ जवान लड़कियों, भाभियों की रस-भरी बातें करता रहता, परन्तु ज्यादा बातें दीपो की ही होतीं।

की भी बात बन गई। कारण चाहे पैसा, सूट (वस्त्र) या एकाध मुंदरी थी।

× × ×

"नदिया मे क्या गिरा ?" धड़ाम-की आवाज़ और पानी देखकर वापस लौटे कामगारो के बोल सुनकर कृपा जैसे गहरी नीद मे अकस्मात् उठा हो।

चाहे वह जानता था कि पानी के ज़ोर से कोई मिट्टी का ढेला गिरा होगा, फिर भी, 'कोई अपनी महबूबा से मिलने के लिए गया होगा', वह कह गया।

"ओह ! यह कैसे ?" कामगार ने शरारत से पूछा।

"बेटे, बात इस तरह हुई। यौवन के समय हम भी माने हुए युवक थे। कन्धों से पीछे की ओर थूकते, नाक पर मक्खी नही बैठने देते थे। कामगारों, नीच जाति की लड़कियों के पीछे चक्कर लगाना मरदारी समझते थे। अपने पति से दुःखी व पैसे के लालच से दीपो को हमने फंसा लिया।"

यों तो कामगारों व नीच जाति की लड़कियां कहने से बड़े कामगार ने कुछ गुस्सा करना चाहा, परन्तु फिर भी उनमे से दो इकट्ठे बोल उठे—"फिर बाबा। मार डाला···!" लड़कों को नशा-सा होने लगा।

"चुप कर आदरणीय बुजुर्ग की बात सुननी चाहिए।" दूसरे ने उससे गुस्सा होकर कहा और बोला—"आह ! बाबा, फिर दीपो महरी···।"

"एक रात आसमान बादलों मे भरा था। मै अड्डे से ही पीकर आया था, परन्तु पता नही, मास्टर छोटी जेबी बोतल कहाँ से ले आया। मुझे चक्कर काटते हुए देखकर बोला—'साढू ! ले लो एक पैग।' हम कुएँ के पास बैठकर तीन-चौथाई पी गए तो फिर अजैबा तो वहाँ ही पड़ गया।

"बुजुर्ग कहते है कि ऐसे अवसर पर मानव मे इक्कीस हाथियो की शक्ति आ जाती है। मैने सोचा, देखा जायेगा। मैने जैबे को अपनी पीठ पर उठाया और कामरेडों की भूसेवाले कमरे में उसे पटक दिया, फिर कुएँ के किनारे पड़ा पत्थर, जिस पर स्त्रियाँ कपड़े धोती थी, धकेल कर कुएँ में फेंक दिया। लोग इधर से धड़ाम की आवाज़ सुनकर शोर करते हुए आये, उधर मैंने शोर मचा दिया—'लोगो, जैबा अमली कुएं मे गिर गया है, भागो, भागो रे'···!'

"लोग शोर सुनकर कुएं की ओर दौड़े आए। कोई जीते पैच से रस्सी लाने के लिए कह रहा था। वह रस्सी पकड़े हुए कुएँ की ओर भाग रहा था और मैं पीछे की ओर से घर के अन्दर···अपनी दीपो के पास।"

व्यंग्यमयी हँसी हँसता हुआ कृपा अँधेरे को घूरने लगा। हैरान हुए कामगारों में से किसी एक ने पूछ ही लिया—"फिर बाबा, जैबे शराबी का क्या हुआ ?"

"सुबह किसी अमली ने बताया, 'पहले तो कोई डर के मारे कुएँ के भीतर न गया। फिर लकड़ी के एक टुकड़े मे रस्सी बाँधकर गामे सुनार को उतारा

गया, परन्तु वह अँधेरे से डरकर चिल्लाने लगा। फिर रस्सी के साथ लैम्प बाँधकर नीचे किया गया, परन्तु वहाँ कुछ होता तो पता चलता···। तब किसी व्यक्ति की तेज आँख ने कुएँ के पास पड़े हुए पत्थर के न होने से अनुमान लगाया कि किसी ने कुएँ में पत्थर फेंक दिया है। इस तरह डेढ़ घंटा खराब होने के बाद लोग अपने-अपने घर की ओर जाने लगे। उधर कमरे के बाहर मैंने शोर मचा दिया—'मुझे जैबे अमली ने अपने आलिंगन में जकड़ा हुआ है, कोई मुझे छुड़वाये।'

"लोग अमलियों की शरारत समझते हुए अपने-अपने घर चल दिए।"

अँधेरी कुछ कम हो गई थी। वे वर्षा के कुछ छींटों में ही फिर पनीरी के भीतर जा घुसे।

× × ×

जब कृपा दो वर्ष पहले मास्टरों के डेरे पर आया तो उसके साथ घोड़ी, गाय, एक शिकारी कुतिया और मोल ली हुई एक स्त्री थी। कृपा ने पहले कबूतर तथा फिर ख़रगोश पालने का शौक़ रखा। वह घोड़ी, कुतिया, गाय और स्त्री की एक जैसी देखभाल करता था। बाबा छड़ा (अविवाहित), बाबा लुण्ड, बाबा कुतिया वाला और फिर बाबा कुदेसण वाला (जो सबसे प्रसिद्ध एक प्रकार का नाम उसके साथ जुड़ गया।) साधारण मजाक़ का कारण बनता रहा।

बात यह कि चाहे कृपा में अनेक बुराइयाँ थी, परन्तु स्त्री उसे सदैव टिकने वाली मिल गई। वह ज़्यादा खर्च नहीं करती थी, परन्तु कृपा का पूरा ध्यान अवश्य रखती थी।

यदि दोनों को किसी बात की चिन्ता थी तो वह सन्तान की थी। क्योंकि कृपी पीरों-फ़क़ीरों, स्याने पुरुषों की सभी जड़ी-बूटियों का प्रयोग कर चुकी थी, कभी किसी की मन्नत माँग बैठती। परन्तु कहीं से भी उसकी गोद में पुत्र का दान न मिला। वह न अच्छी तरह खाती और न पहनती। परिवार की स्त्रियों से निःसन्तान होने के ताने सुन-सुनकर उसने गाँव छोड़ने का मन बना लिया। वे दोनों कृपा की एक विधवा बहिन के पास चले गए। वहाँ वह अपने पति की मृत्यु पर खेत के किनारे बैठी अपने पुत्रों का पालन-पोषण कर रही थी। उसने कृपा की घोड़ी, गाय, कुतिया सहित अपनी भाभी के लिए दो कमरे बनवा दिए। दोनों ने मन लगाकर काम किया और भानजों को बहुत प्यार किया। बलाएँ लीं।

दिन व्यतीत होते गए। लड़के जवान हो गए। जैसा अक्सर होता है, विवाह के पश्चात् दोनों लड़के कृपा और कृपी से मुँह फेरने लगे। बुढ़िया की भी कोई बात नहीं सुनता था। वे जरा भला कहते, परन्तु वे कितनी देर सहन करते। अन्त में तैयारी कर ली—बुढ़िया, नयी भरी हुई घोड़ी, एक दूध से भागी हुई गाय और साँसियों के घर में लाकर दी कुतिया में पोली पूरी हो गई।

वे सीमा के पार मास्टरों के डेरे में आ गए। जंगल में बैठे मास्टर ने प्रभु

का धन्यवाद किया, क्योंकि वह शहर मे जब भी कृपा से मिलता, उसे अवश्य आन का निमंत्रण देता था। मगर इसके पीछे का स्वार्थ कृपा से भी छिपा हुआ नहीं था। कृपा मे अब वैसी ताकत तो नही थी। फिर भी कृपा कामगारों से काम, बम्बी की सुरक्षा और कृपी घर के छुट-पुट कामो के लिए क्या बुरे थे ?

गाँव की बची-खुची ज़मीन भी कृपा ने बेच डाली और सारा धन खुले बैंक मे जमा करवा दिया। वह नीले रग की कापी कृपी को दिखाता और अपनी जेब मे डाल लेता।

मास्टरनी चाहे अनपढ़ थी परन्तु बहुत चतुर थी। उसने कृपा की दाल मे ज्यादा घी, रोटी को भी तनिक-सा ज्यादा घी लगाकर व रात्रि के समय दूध के गिलास मे चम्मच भर मलाई डालकर जल्दी ही उसे अपने वश मे कर लिया था।

जैसा मास्टर ने चाहा था, कृपा पूरा काम सँभालने लगा। वह अपने आपको मास्टर का बुजुर्ग समझता। वह उसके बेटे-बेटियों को अपनत्व से परखता, काम बताता और उनसे 'बाबा जी' कहलवाकर प्रसन्नता अनुभव करता।

दिन व्यतीत होते गए।

कृपा जब बच्चों के साथ उनकी भाषा मे बात करता, हँसता हुआ उनके साथ खेलता तो खाट पर सिकुड़ी हुई कृपी अपने आप मे दु:खी होती रहती। जब कृपा व मास्टरनी हँस-हँसकर काम की बातें करते रहते तो कृपी ईर्ष्या से जल जाती। उधर मास्टरनी समझती थी कि कृपा को प्रेम के रिश्ते से ही बाँधकर रखा जा सकता है, परन्तु कृपी किसी-न-किसी बहाने झगड़ती रहती। किसी कुएँ मे छलाँग लगा देने या किसी जगह चले जाने की धमकी देती रहती।

पहले वह अलग होकर अपना रोटी आदि का काम अपने कमरे मे ही करने लगी। फिर वह घर के कार्य मे भी मन चुराने लगी। फिर नये दाँत लगवाने की बात कही जो कृपा ने पूरी कर दी। फिर 'अपना देश' देख आने की जिद को लेकर रूठ गई।

कृपा चाहता हुआ भी उसकी प्रतिदिन बढ़ती हुई जिदो से तग आ गया। अब कृपी के पास दो ही रास्ते थे—या तो चली जाए या किसी कुएँ मे छलाँग लगा कर उसे गन्दा कर जाए। उसने प्रथम मार्ग का चुनाव किया। वह 'अपने देश', जहाँ से मोल देकर लाई गई थी, वहाँ बिना मोल के चली गई।

कृपा को अब उसके अस्तित्व का अनुभव हुआ। रात्रि को उसकी बात सुनकर हामी भरने वाला कोई न रहा। वह कभी-कभी पास पड़ी ख़ाली खटिया को देखता। वह मास्टर के घर भी कम ही जाता। कभी बीरो, कभी धनवंत तो कभी स्वय मास्टरनी यहाँ ही उसका खाना दे देते; अब उसका आशय मोल ली हुई लाल घोड़ी, लाखे रग की गाय तथा गत वर्ष शहर के आढ़तियों को उठाकर लाई गई बगियाडी नसल की कुतिया थी। वह इनसे अपना मन लगाता रहता, परन्तु बात

न बनती। उसे वे दिन याद आते।

बाढ़ का पानी अब फसल को छू रहा था। गत तीन दिनों से वर्षा बहुत हो रही थी। सभी ओर जल-ही-जल हो रहा था। कमरे की छत का एक हिस्सा कृपा की खटिया पर आ गिरा था। वह भयभीत हो गया। कृपा का क्या हुआ होगा।

अगले दिन कामगारों को धान लगवाते हुए उसका ध्यान कृपा की ओर गया हुआ था। परन्तु फिर भी उसने कामगारों से कहा—"देखो, नदिया के पानी की मार को रोकने के लिए भले ही तागों से बांधकर बोझल पत्थर फेंके थे, परन्तु क्या कभी नदिया के बहाव को भी रोका जा सका है…!"

प्रात: वह सब कुछ बीच में छोड़ कर, किसी कच्चे धागे के आश्रय पर घोड़ी चढ़कर या उसे आगे लगाकर और कुतिया को पीछे लगाकर शायद वह उस देश के लिए चल दिया जहां से आती हुई कोई आवाज़ उसके मन के साथ टकरा-टकराकर उसे सोने नहीं दे रही थी।

नदिया-किनारे का वृक्ष भी पानी के बहाव के साथ बह गया था।

कृपा कब का घने वृक्षों के झुण्ड में खोया हुआ था।

(अनु०—हरमहेन्द्रसिंह बेदी)

बाँग्ला

- सैयद मुस्तफ़ा सिराज
- सुनील गंगोपाध्याय

(अनु॰—सिद्धेश नारायण राव, साधना शाह)

कथा एक स्तम्भ की

□

सैयद मुस्तफ़ा सिराज

खरजूना की खँडहरनुमा रेशमकोठी का यह स्तम्भ पाँच-सात मील की दूरी से ही नजर आने लगता है। चौकोर भारी-भरकम खम्भे की शक्ल के इस स्तम्भ की ऊँचाई कोई कहता नब्बे फ़ुट, कोई कहता डेढ़ सौ फ़ुट। गँवार जनता द्वारा ऊँचाई नापने के लिए ताल के पेड़ों की कमी नहीं है। उनके हिसाब से यह स्तम्भ ताल के दो पेड़ों की ऊँचाई के बराबर है। सालों पहले एक भूकम्प में यह स्तम्भ ज़रा-सा टेढ़ा हो गया था और उसमें कुछ दरारें भी पड़ गई, लेकिन जमीन में धँसा नहीं। नीचे से ऊपर तक लोहे के जो हुक लगे हुए थे, जंग खाकर बीच-बीच से गिर गये थे। इसीलिए अब और ऊपर चढ़ा नहीं जाता। सुना जाता है, पागलों का ऊँचाई से मोह होता है लेकिन इलाके के किसी भी पागल ने ऐसी कोशिश नहीं की। जिन दिनों लोहे के हुक सही-सलामत थे, तब इस स्तम्भ के ऊपर चढ़कर जिस आदमी ने सबसे पहले विजय-गान किया था—वह एक शराबी था और उसका नाम था—गुलाई। एक आकाश-विहारिणी देवी के विश्राम-स्थल उस स्तम्भ के ऊपर जाकर बेअदबी करने के कारण कुपिता देवी ने उसे लात मारकर नीचे गिरा दिया था। गुलाई का लड़का है धर्मध्वज। धर्मध्वज का लड़का है पहाड़ू। खरजूना में उनकी सिर्फ़ तीन पीढ़ियाँ हैं। गुलाई जब टट्टू घोड़े की पीठ पर जाँता लाद खरजूना के हाट में बेचने आया था, तब भी स्तम्भ लिये रेशम-कोठी खँडहर-जमी ही थी। उसका जाँता ढोने वाला घोड़ा भी यहाँ हाँफते-हाँफते मर गया था और फिर गुलाई गाँव नहीं गया। जिसके लिए वह गाँव जाता, वह उसके साथ ही थी। वह है दुलारी और उसकी कोख में तब धर्मध्वज था। रेशमकोठी की दीवार से सटाकर गुलाई ने अपनी जो झोंपड़ी बनायी थी, वहीं धर्मध्वज का आविर्भाव हुआ। आविर्भाव, क्योंकि धर्मध्वज का रूप देखकर हो, या किसी कारणवश ही हो, आकाशविहारिणी वह देवी उसकी मोह-माया में पड़ गयी थी। इसीलिए बाल्यावस्था में ही उसके सिर में जटा-जूट निकल

आये थे। हाट के मालिक कुंजबाबू ने उसे वेदी भी बनवा दी थी। उस वेदी पर बैठ धर्मध्वज के मुँह से देवी भविष्यवाणी किया करती और हाट के दिन काफ़ी पैसा इकट्ठा होता। कुंजबाबुओं द्वारा रखवाए एक ढूलि (बंगाल का विशेष प्रकार का ढोलक बजानेवाला) ढांग-ढांग करते हुए ढोल (बड़ा ढोलक) और उसका नाक बहाता लड़का काँसी बजाया करता। दिन ढलने पर कुंजबाबू के हाटवारी बनवारी बाबू पैसा लेने चले आते। दुलारी हर तरफ़ पीछे-पीछे घूमने के बाद झोंपड़ी में जाकर फफक-फफक कर रोने लगती और उस समय धर्मध्वज बिल्कुल भोला-भाला बालक रहता। उसकी एक ही प्रिय कविता है :

लंगोट कंबल लोटा,
खाया बैंगनभुरता।

आकाश-देवी ने उसे यह कविता सिखायी थी और बड़ा होने पर धर्मध्वज ने हाट में एक दिन भविष्यवाणी की, 'कुंजू सिंह के पुत्र रनोसिंह की पत्नी की कोख से हाँटवारी जी का बच्चा जन्मेगा और वह अन्धा होगा !' खबर फैलते ही रणंजयसिंह ने धर्मध्वज का जटाजूट उड़ा दिया। दुलारी का बेटा लहूलुहान हाट में पड़ा रहता और वेदी उखाड़ रणंजय ने पीपल का बीज रोप दिया था। झोंपड़ी भी सुलगा दी। आतंकित होकर बनवारी बाबू भी धूलियान भाग गये और बीड़ी का धंधा शुरू किया। बाद में उनकी काजल-छाप बीड़ी पूरे भारत में मशहूर हुई थी। ट्रेनों में फेरीवाले सुर में गाते :

बनवारी की काजल बीड़ी पीना न भूलें।
एक कश में जैसा-तैसा, दो कश में क़ल-मल !

इधर रनोसिंह भी पत्नी नारायणी ने सचमुच ही एक अंधे बच्चे को जन्म दिया। हालांकि बच्चे को देखने से पहले ही रनोसिंह का एक दंगे में खून हो गया था। खरजूना के दंगा-फ़साद पर बड़े-बड़े दारोगा भी काबू नहीं कर पाये। हमेशा से बेहया कुंजूसिंह अंधे पोते को गोद में लिये घूमते होते और कहते, "देखो सालो ! अच्छी तरह से आँखें फाड़ कर देखो ! इसके मुँह की जगह किसका मुँह लगा हुआ है।"

दुलारी और उसका बेटा लापता हो गये थे। तकरीबन पाँच साल बाद धर्मध्वज वापस आकर उस स्तम्भ के नीचे खड़ा हुआ तो लोगों ने अचरज से देखा, उस स्तम्भ के ऊपरी छोर पर एक टुकड़ा लाल झण्डा हवा में तेज़ी से लहरा रहा है। उस साल बेहद सूखा पड़ा था। बारिश के महीने में धूल उड़ाते हुए लू चल रही थी। पोखर-ताल और मैदान का पानी धरती ने सोख लिया था। बाज गिरे ताल के पेड़ पर बैठा चातक पानी की आस में गला फाड़ चुका था। सारी रात हाट में लावारिस कुत्ते रोते रहते। हाट में एक दिन हाट लूट लिया गया कुंजूबाबू का धान का गोला, रामसिंह लक्ष्मण पटवारी की आढ़त तक लोगों ने रौंद दिया। धर्मध्वज

तालियाँ बजाते हुए हँसते-हँसते गाने लगा—

'लंगोट कंबल लोटा
खाया बैंगनभुरता।'

मामले की गम्भीरता महसूसते हुए कुंजू सिंह ने अपने लड़के के रोपे सूख गये पीपल के पेड़ की बुनियाद से लगकर फिर वेदी बनवा दी। ढोलकी घगा अपने लड़के खगा को साथ लिये हाँफते-हाँफते ढोल घंटा बजाने आया। आकाश-देवी प्रसन्न हुई। साधु धर्मध्वज को उस वेदी में लाकर बैठाते ही अग्नि, वायु व दुधारू गाय-बछड़े की तरह एक बार आने लगा मेघपुंज। उनके पेट देखते ही बनते थे। अमर्त्य स्तनधारा पहले रिमझिम, फिर झर-झर और अन्त में कल-कल बहने लगी। आकाश देवी भी मंद-मंद मुसकराने लगी। उस मुसकान में रह-रह कर दृष्टि-रेखा की धारा ठहरी होती और अन्दर साधु धर्म-ध्वज अपने द्वितीय प्रजन्म का जटा-जूट हिलाकर वेदी में खड़े उछल-कूद करते हुए कविता बघारने लगे :

'लंगोट, कम्बल, लोटा,
खाया बैंगन भुरता।'

उस बार खरजूना के खेत में फ़सल आबाद हुई, धान को बढ़ने का पूरा समय नहीं मिला? पेट मे शिशिर घुमकर जल्दी-जल्दी किसी कुँवारी के गर्भधारण की तरह पेट तो थोड़ा हो गया, लेकिन फ़सल तीन-चौथाई हुई थी, इतने में ही बेइन्तहा दंगा-फसाद, हर माथे पर चमकता खून, बीस मुक़दमे, तेरह जाँच-पड़ताल, डिप्टी, सब-डिप्टी, सर्किल अफ़सर और दारोग़ा की आवाजाही, और इसके बीच नवान्न की धूम भी मची रही, जँवाइयों को दावत दी गयी। स्तम्भ के हाट में बेहुला की नौटंकी, केस्टो-जात्रा, जियागंज की मधुबाला का कीर्तन, और अन्तिम जलसे में बीरभूम के मल्लारपुर से झूमर कन्याएँ भी आयी थीं, भरी दुपहरिया में पाकुड़ और निमतिता से हॉस्टल के विद्यार्थी चोरी-छिपे आकर लड़कियों के साथ बेतरह लिपट-सिमटकर गये, वे दाँतों से ताँबे का पैसा पकड़े होते हैं। एलोकेशी, चाँपा, तूफ़ानी और कमला कूल्हे मटकाती रसीले-गीत गाते-गाते नजदीक आकर दाँतों से पैसा छीन ले जाती हैं, एक पैसे में अधर से अधर, व दो पैसे में गोद, और एक आना में उसका दोगुना। दो आना पकड़ने पर तो महफ़िल से दूर बिल्कुल स्तम्भ के पीछे; वहाँ एक क़तार में सामने की दीवार अनेक दरवाजे खोले खड़ी है। कुछ महीने पहले ही तो उस खाली दरवाजे से खाली मैदान की लू-हवा धूल-धूसरित शरीर लिये दौड़ी चली आया करती, और कूद पड़ती हाट की जगह। फिर हाट से सड़कों को पार करते हुए गाँव के भीतर। झूमर-नृत्य से थका-कमज़ोर एक-एक शरीर ही उस भयंकर बात को भुलाने के लिए काफ़ी है। यात्री देवी भी जानती हैं कि मनुष्य निरा मूर्ख है, उसका सबूत साधु धर्मध्वज के मुँह में है, बातों-

बातों में वह अपने द्वितीय आविर्भाव-काल में 'अरे मूर्ख' कहकर लोगों को सम्बोधित करता—चाहे वे स्वयं कुंजूसिंह हों, या गार्गसिंह या उसका भाई लक्ष्मणसिंह पटवारीजी। हाट के एक दिन साधु धर्मध्वज ने आँखें तरेरकर कुंजूसिंह को कह डाला—'अरे मूर्ख, मैं विवाह करूँगा।' यह सुनते ही कुंजूसिंह को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उन्हें लगा, यह वाणी देवी की नहीं है। गुलाई के पुत्र की अपनी इच्छा है। उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा—'तू तो विवाह करना चाहता है, लेकिन उसके बाद तो और साधू नहीं रहेगा, जटा गिर जायेगी।' तब इसके हाट के दिन देवी ने भविष्यवाणी की—'गुलाई का बेटा ध्वजा विवाह करेगा। उसकी वधू इसी स्तम्भ के नीचे आयेगी। वह वधू अभी अपनी माँ का स्तनपान कर रही है...।'

इस भविष्यवाणी की काफ़ी खिल्ली उड़ायी गयी थी। बाद में तो लोग उस बात को भूल ही गये। एक ज़माने बाद, ठंड की एक शाम बूँदाबाँदी के बीच स्तम्भ के हाट में झोंपड़ियों की कतार के बीच एक कोठरी के एक दरवाज़े के पास ही आनन-फ़ानन में एक और झोंपड़ी खड़ी कर दी गयी। वह आदमी बहुत बूढ़ा हो चला था। लेकिन उसके हाथों में कमाल था, उसका नाम था तराज़ू। वह मोची था। खरज़ूना हाट में जूते पहने सभ्य लोगों के पैरों की ओर नज़र लगाये वह लोहे की पौंटी में हथौड़ी चलाया करता था। मरियल जूते में जान आ जाती, पुलिस चौकी के सिपाही उसके पौंटी में जूते रखकर मूँछों पर ताव दिया करते। तराज़ू लोगों के चेहरे नहीं पहचान पाता। क्योंकि पैरों की ओर ही देखने की उसकी आदत बन गयी थी। इसलिए उसमें डर और शर्म कुछ कम ही थे—और उसकी लड़की कसीला इधर-उधर खेलती रहती। अपने में खोयी खेलती, चोर-पुलिस का खेल भी वह स्तम्भ के चारों तरफ़ दौड़ती-भागती अपने साथ आप ही खेलती। हाट के दिन बाज़ार लगाने वालों की साग-सब्ज़ी चुना करती। उसके चेहरे पर स्वर्ग की माया थी। हाट लगाने वाले स्वप्नाच्छन्न स्थिति में आपस में कहा करते—'यह लड़की कौन है रे? लगता है, यह एक दिन दुनिया ख़रीदेगी।' और दिन ढलने पर हाट जनशून्य हो जाने पर कसीला बाल सँवारकर माथे पर बिन्दी लगाकर टुकड़ा वर्क-चढ़ा कागज ढूँढने में खो जाती। अपनी झोंपड़ी को उसने ढेर सारे वर्क-चढ़े और रंगीन काग़ज़ों से सजा दिया था। और मुग्ध आँखों से उस सजावट को देखते-देखते वह भी जल्दी ही सयानी हो गयी थी। वह सोचा करती, उसके बढ़ने के साथ रंगों का सीधा सम्बन्ध है।

और उस वेदी के पास रनो सिंह का रोपा हुआ पीपल का पौधा इतने दिनों में पेड़ बन चुका है। और पत्ते हिलाकर वह पेड़ तराज़ू की बेटी को पास बुलाया करता। जनशून्य दुपहरिया में कसीला तब आकर उस पेड़ की लता बन जाती। साधु धर्मध्वज उसे अपनी दूर दृष्टि से निहारा करता। बीच-बीच उतर न पाने का भान करते हुए जब शोर मचाती, वह वेदी के ऊपर जाकर दोनों हाथ उठा

देता। तब कसीला कहती—'साध, अपनी गरदन बढ़ा, उतरूँगी।' उत्तर में धर्मध्वज कहता—'उँह, हाथ-हाथ से नीचे आ तुझे पत्तल-पत्तल खाऊँ।' ऐसी गम्भीर बात सुनकर भी कसीला खिलखिलाकर हँस पड़ती। अन्त में पीछे घूमकर धर्मध्वज उसकी ओर गरदन बढ़ा देता। फिर उसकी गरदन पर पाँव रख एक छलांग में नीचे उतर कसीला भाग जाती, धर्मध्वज उसका पीछा करता।

× × ×

काफी दिनों बाद एक शाम कुंजूसिंह के बैठकखाने में मित्रों सभासदों के साथ बैठे कुंजूसिंह के सामने तराजू ने अपनी बेटी के कन्धे पर हाथ रख खड़े होकर फफक-फफककर रोते हुए शिकायत दर्ज की—'हरामी ध्वज साधु है न और कुछ है, हुजूर। उसने मेरी बेटी की इज्जत ली है।' उसने लालटेन की रोशनी के सामने कसीला के तार-तार कपड़े और कुछ ताज़ा लाल छींटे दिखाये। कसीला की आँखें गीली थीं, नीचे के होंठ कटा हुआ और नाक का छेद स्फीत। तराजू आग-बबूला होते हुए जाँघों पर ताल ठोककर दहाड़ने लगा—'हुक्म कीजिए, साले की जान ले लूँ।' लेकिन वह बेहद बूढ़ा है। आखिरकार थककर धम से ज़मीन पर बैठ गया और सफ़ेद सिर को दोनों हाथों से जकड़ इधर-उधर हिलाने लगा।

कुंजूसिंह ने कहा—'चलो, देखता हूं!' मित्र सभासदवृन्द भी उनके साथ हो लिये। सबसे आगे तराजू, कसीला का कन्धा थामे ठेलते-ठेलते चलने लगा। पीछे लालटेन और छड़ी लिये कुंजूसिंह धीरे-धीरे डग भरने लगे। और उनके पीछे अमात्यवर्ग। हाट में स्तम्भ के समीप उस वेदी पर धर्मध्वज खड़ा था। आँखें लाल थीं। लालटेन ऊपर उठाकर कुंजूसिंह ने उसे देखा। तब धर्मध्वज बग़ल बजाने लगा। तराजू भर्रायी आवाज़ में चीखता हुआ साधु को अपने गुप्तांग के बराबर बता रहा था। फिर कुंजूसिंह ने कहा—'चुप-चुप पहले सुनने दो। बता रे ध्वजा, तू पहले बता।'

धर्मध्वज ने फिर बग़ल बजाते हुए कहा—'कसीला मेरी पत्नी है! कसीला मेरी पत्नी है।'

घड़ी भर में चारों ओर सनसनी फैल गयी। लोगों को ताज्जुब हुआ। याद आने लगा—एक दशक पहले की वह भविष्यवाणी। देवी ने कहा था—' का बेटा ध्वजा विवाह करेगा। लेकिन वधू आयेगी इस स्तम्भ के नीचे!'

इसके बाद धर्मध्वज ने एक छलांग में वेदी से नीचे उतर बाघ की तरह ...ट कर कसीला को दबोच लिया। लोगों ने मुँह बनाकर हाथ चलाते हुए आवाज़ लगानी शुरू की—'आ बा बा बा बा!' बिलकुल पुराने ज़माने की रणध्वनि की तरह। और तराजू ने जैसे ही धर्मध्वज की टाँगें पकड़ीं, कुंजूसिंह ने उसके हाथ पर छड़ी मारी।

बाद में हाट के एक दिन वेदी में आकर आकाश-देवी ने घोषणा की—'कसीला की कोख में जो बच्चा आयेगा, उसका नाम होगा पहाड़ू। क्योंकि उसके

शरीर में पहाड़ की शक्ति होगी।'

× × ×

पहाड़ू के जन्म की रात पृथ्वी की स्थिति देख महसूस हुआ था, ध्वजा की पत्नी लड़के को जन नहीं रही है, शायद माँ वसुमती का ही पुत्र भूमिष्ठ हो रहा है—ऐसा ही हड़कम्प था। आँधी-बारिश और मेघ-गर्जना के साथ आश्विन का वह दिन प्रलय की घड़ी का आभास दे रहा था। कसीला प्रसव-वेदना से जितनी रो रही थी, ध्वजा उतना ही बगल बजाते हुए कविता गा रहा था :

'लंगोट कम्बल लोटा,
खाया बैंगन भुरता।'

और इस दुर्योग की घड़ी में बूढ़ा तराजू झोंपड़ी-दर-झोंपड़ी लोगों को बुला रहा है। ऐसी रात में मनुष्य के जन्मकाल में भी सबको जाति-पाँति की बात याद आ जाती है। ध्वजा की जाति के बारे में लोगों को खास कुछ मालूम नहीं है, लेकिन हाट के बूढ़ों को कहते सुना गया है कि जब से यह ध्वजा साधु हुआ, कुंजू बाबू का परिवार उसकी आवभगत कर रहा है, क्योंकि हर चीज में कुंजू बाबू पैसे का रास्ता ढूंढ़ लेते हैं। वैसे ध्वजा का बाप गुलाई पूर्णिया ज़िले का अछूत और कसीला का बाप मोची। इसलिए झोंपड़ी में रहने वाली दूसरी जाति की महिलाएँ उसे नहीं छुएँगी। कली ने तो मुँह पर ही कह दिया कि लाश होने पर छूने में उसे कोई हर्ज नहीं, क्योंकि लाश फेंकना ही उसके परिवार का काम है। हाट में झाड़ू लगाकर वह मरा चूहा, बिल्ली, कुत्ता कूड़ाघर में फेंक आता है। इस काम के लिए कुंजूसिंह उसे तनख्वाह देते हैं। बूढ़े तराजू ने कपाल ठोकते हुए कहा, 'अबके बीड़ी माँगने आने पर वह उसके मुंह में बार-बार कही हुई वह चीज़ ही ठूँस देगा। क्योंकि लाज़िमी तौर पर वही उसका हक़ बनता है।'

तेरह साल की उम्र में माँ होना उस युग में बहुत मामूली बात थी। लाचार बूढ़े बाप ने झोंपड़ी के अन्दर से धीरज बँधाया था—'चुप बैठी रह, खुद ही हो जायेगा। समय से पहले कुछ भी नहीं होता।' इसके थोड़ी ही देर बाद नवजात शिशु का रोना सुन तराजू झोंपड़ी से बाहर निकल आया। सूखी लकड़ी जलानी होगी। सेंक-वेंक करना होगा। दामाद तो सिरफिरा है—साधु का ढोंग रचाये रहता है।

लेकिन झोंपड़ी से बाहर निकल तराजू अवाक रह गया। बारिश थम गयी है। आँधी भी रुक गयी। आसमान झिलमिला रहा है। और काली खड़ी मीनार के सिर पर अटका पड़ा है एक टुकड़ा चाँद। पहली बार तराजू ने स्तम्भ की महिमा देखी, हाथ जोड़े, ज़मीन पर लेटकर उसने उस दिव्य-ज्योति को प्रणाम किया। और उसके जराग्रस्त कपाल पर कीचड़ पुत गया। उसके बाद बेटी-दामाद की झोंपड़ी में घुसकर उसने देखा, ढिबरी के टिमटिमाते उजाले में उसका साधु दामाद गोद में बच्चा लिये बैठा है। उसकी बेटी सूखी लकड़ी तोड़ स्तूप बना रही है। यह देखते ही तराजू झोंपड़ी से चमड़ा काटने वाला नियाँद ले आया।

नाड़ी ठीक से नहीं काटी गयी। पहाड़ू का नाभि जमीन से दो-ढाई इंच लटका रहता। गिर जाने पर उसे उसकी बालिका माँ कलि ने डोमनी की नजर बचाकर बहुत दूर एक जगह गाड़ दिया था। हालाँकि उसके पहाड़ू को सभी प्यार करने लगे थे, जिनमें कलि भी एक थी। कलि उसे आँचल में छुपा रखे ताड़-गुड़ के टुकड़े या एक टुकड़ा बताशा देती। कसीला की आड़ में उसके गाल पर ठोना मारकर दुलारती। और डोमनी-अनुताप में पिघलकर हौले से कहती—'हमरे लिए कौनुनो दोष-पाप न लेना, परभु हमरे हाथ-पाँव बाँध दिये हैं।' और हाटवाले भी पहाड़ू की माँ की तरह ही पहाड़ू की माया में बँधे थे। उनकी सब्जियों के भीतर या कभी उनके बग़ल के बीच से वह घुटरन चलकर मुंह बाहर करता। दुधिया दाँत निपोर हँसता। ऐसे में हाटवाले मज़ाक़ से उसके मुँह में आलू, परवल या प्याज ठूंस देते, जिसे पहाड़ू मज़े से चबा लेता। भीड़ के पैरों के नीचे से घूमता रहता। कभी अगर कोई अनजाने में उसे पैरों से दबा देता, तो फिर उस आदमी की शामत आ जाती। मिठाई वाली बुढ़िया के टाट के छेद से पहाड़ू ज्यों ही झाँकता, वह 'छू मत, छू मत' के शोर से हाय-तोबा मचा देती, लेकिन बेसन की बनी थोड़ी मिठाई पहाड़ू को अवश्य दिया करती। इसी तरह पहाड़ू बड़ा होने लगा था, जिसकी बात खरजूना की आकाश देवी ने पहले ही बता दी थी।

पहाड़ू जब छह साल का था, तब कुंजूसिंह इस दुनिया से कूच कर गये। कुंजूसिंह हाट के दिन स्तम्भ के नीचे स्थापित वेदी पर देवी से पगलाये धर्मध्वज के मुंह से अपनी मृत्यु की तिथि जानना चाहते। वह माथा टेककर बोलते, 'बोल माँ, अधम संतान को एक बार बता दे माँ।' देवी निरुत्तर रह जातीं और कुंजूसिंह की अकालमृत्यु हो गयी। उन्हीं दिनों उनका एकमंजिला बरामदा दोमंजिला हुआ था। अफ़वाह फैल गयी थी कि उनका अन्धा नाती, जन्मेजयसिंह, जो तब परिपक्व युवा और संगीतप्रिय था, ने किसी बुरे आदमी के उकसाने पर सीढ़ियों से धक्का देकर दादाजी को नीचे गिरा दिया था। वजह शायद यह रही कि मक्खीचूस कुंजूसिंह को उसकी संगीतप्रियता बिल्कुल नहीं रास आती। सम्भवत: इसमें सचाई नहीं है। अन्धे लोग इस विशाल रहस्यमय पृथ्वी पर स्वयं ही दयनीय होते हैं। इससे भी अहम बात, संगीत और घातकता के बीच छत्तीस का सम्बन्ध है।

जन्मेजयसिंह के अन्धे होने की वजह से उसके दादा की सम्पत्ति की देखभाल करने में उसे कठिनाई हो रही थी। उसकी माँ नारायणी महिला होने के कारण समझदार नहीं थी। उस जमाने में इज्ज़तदार घरों की ज्यादातर औरतें परदानशीं हुआ करती थीं। वैसे नारायणी सचमुच दिलफेंक माशूका थी। सुना जाता है, ससुर के जिन्दा रहते हुए गंगा-स्नान के बहाने वह गुपचुप धूलियान चली जाया करती और बनवारी बाबू के साथ सम्बन्ध बनाये रखती। ससुर के गुज़र जाने के बाद धूलियान की गंगा में डूबने की उसकी सनक बढ़ गयी थी। जबकि उसके काले

आखों में तो बमुश्किल एकाध सफेद बाल नजर आ जायं और तब कलेजा थर्रा जाता।

पहाड़ जब आठ साल का था, तभी बनवारी बाबू मशहूर काजल बीड़ी का मालिकाना और ट्रेडमार्क तक बेचकर खरजूना लौट आये थे और हाटवाले बाबू हो गये। वह भीष्म की तरह चिरकुमार बने रहना चाहेंगे। लेकिन यह बनवारी बाबू, वह बनवारी बाबू नहीं हैं, यह पराक्रमी सिंह हैं। जीवन का काफ़ी घात-प्रतिघात सहा और मुसीबतों का मारा एक जिन्दादिल शख्स, कलेक्टर, डिप्टी, सब-डिप्टी, सी.ओ. और दरोगा बाबू उनका दाहिना हाथ या वह खुद ही उनका दाहिना हाथ है। खरजूना में वापसी के साथ ही उन्होंने अपने अन्धे नाती जन्मेजय का भागलपुर में विवाह करवाया। जमीन-जायदाद, बाजार, महाजनी कारोबार उनके हाथों का स्पर्श पाकर सोना बन चमकने लगता। तब पहली बार खरजूना की सड़कों पर कोलतार डाला गया और मोटरगाड़ी आयी। पहले तो लोगों ने मोटर-गाड़ी में बैठ कर उसे उलटी से भर दिया, अन्त में जीवन की दूसरी चीजों के साथ तालमेल बिठा कर भोग पर भी राज करने लगे।

हाट के दिन साधू के जरिये देवी की वेदी से औसतन आमदनी थी चौदह आना। किसी-किसी हाट के दिन तो तीन रुपये से भी ज्यादा हो जाती। कुजूबाबू के पर-लोक सिधारने पर कोठी बाबू के भोले-भाले चरित्र के कारण कसीला आमदनी में हिस्सा मांगा करती। बनवारी सिंह ने बाधा भी दी थी। कसीला ने तब बहस की थी और आखिर में जी भरकर रोयी थी। वह अपने साधु पति को हाट के दिन बाँधे रखने की कोशिश करती, लेकिन नहीं कर पाती। बनवारी के लोग धर्मध्वज को जबरन उठा ले जाकर वेदी पर बैठा देते। कुछ दिनों यह सब देखने के बाद पहाड़ इधर-उधर चहलकदमी करते-करते अचानक झपट्टा मार कर पैसे ले भाग जाता। एक दिन उसका पीछा कर धनेश पाछव ने उसे खूब पीटा। फिर कसीला आहत लड़के को लिये बनवारी बाबू के पास शिकायत करने गयी। बनवारी बाबू मुसकराते हुए बोले—"आओ, आपस में सुलह कर लें!"

कसीला अपनी जीत समझ आंखें पोंछकर बोली—'तब तो यही कीजिए।'

तब बनवारी बाबू बोले—'आधी तेरी, लेकिन तुझे मेरे संग रहना होगा।'

खरजूना इलाके में 'संग रहना' अत्यन्त अश्लील समझा जाता है। यह रखैल का पर्याय है। जबकि राढ़ इलाके में रखैल रखना अशोभनीय नहीं था। तमाम रईस परिवारों में रखैल रखना शान समझी जाती थी। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान दोनों इस सामाजिक प्रथा का पालन किया करते, यहाँ तक कि साध्वी महिलाएँ भी अपने पति के मिजाज की टोह लेकर खुद ही रखैल की व्यवस्था करवा देतीं। लेकिन खास-तौर से विधवाओं में से ही रखैलें चुनी जातीं। विधवाओं के जीवन को चबा-चबा कर खाने के लिए दानवी भूख है। जो लोग यह समझते कि ईश्वर के दिये सिर्फ

इस हाड़-मांस के शरीर में ऐसा स्वर्गिक आनन्द, उसका स्वाद पाने के लिए एक जन्म तो कुछ भी नहीं, कई-कई जन्म जरूरी हैं। जीवन जरूरी है और इसीलिए किसी के पति की मृत्यु होने पर वह औरत 'रांड' हो जाती। वह औरत गुहार मचाकर कहती, 'हाय, इस उम्र में मैं क्यों रांड हुई? किस पाप से?' विधवा रखैल चुनी जाने पर उसका पहला काम होता गांव की बुढ़िया दाई के पास जाना। यह दाई उसे कपास की जड़ी-बूटी खिला देती, जिससे उसका डिबकोष जल जाता। लेकिन मुद्दे की बात यह है कि हमारे महान भारतवर्ष की परम्परा में यौनाचार कदापि घृणित या वर्जित नहीं था। इस मामले में हमेशा से हमारे देव-देवियाँ मिसाल क़ायम करते रहते।

लेकिन कमीला विधवा नहीं है। उसने बनवारीबाबू की बातों से आश्चर्य-चकित होकर कहा था—"ओ बाबू! ओ बनवारीबाबू! तुम क्या कहते हो? मैं क्या रांड हूँ, मेरा मरद जिन्दा नहीं है? झाड़ मारती तुम्हारी बातों को बनवारी बाबू।"

सबने देखा था, बाज़ार के रास्ते होकर हाट की ओर कमीला अपने बेटे को लिये आँचल से आँसू पोंछती चली जा रही है। तब लोग आपस में कहने भी लगे थे—अबके हाट के दिन देवी क्या कहती हैं, सुनेंगे।

और देवी ने कहा था—"मीनार के सिर से जिस दिन लाल पताका गिर जायेगी, उसी दिन ध्वजा का अन्त होगा। और उसकी बीवी रांड़ हो जायेगी।"

जब कलि ने कमीला को यह खबर दी, तो उसने देवी को 'बांझ औरत, तू रांड़ बन' कहकर गाली दी थी। लेकिन उसका कलेजा धक-से रह गया था। वह स्तम्भ के सिर पर बँधे कपड़े के टुकड़े को जब-तब देखा करती। उसके छोटे परिवार में भी काम कम नहीं था। काम के बीच भी रीढ़ को धनुष की तरह बना कर वह हर समय झुकी रहती और अचानक याद आते ही सीधी हो जाती। फिर स्तम्भ की ओर निहारती। लाल कपड़े का टुकड़ा देखकर ही उसे चैन आता। लाल कपड़े का टुकड़ा ज़रा-सा ही टिका हुआ था। आँधी-बारिश और दिन-रात की तेज़ हवा में भी वह अपने कमाल की ताक़त के साथ किसी मनुष्य की तरह अपनी आत्मरक्षा करता रहा है। कमीला सोचा करती, 'कितनी अजीब बात है! यह ज़रा-सा टुकड़ा ही उसके पति की आयु है।' उसकी समझ में नहीं आता कि उसका साधु पति अपनी आयु को किस अक्ल से स्तम्भ के ऊपर बांधने गया था। वह स्तम्भ के समीप जाकर हाथ फेरते हुए उसकी कठोरता और शक्ति का जायज़ा लेती और फटी आँखों से टूटे हुक देखती, वह यही नहीं समझ पाती कि किस तरह उसके पति ने अपनी आयु स्तम्भ के ऊपर लटका दी थी।

लोग भी स्तम्भ के ऊपर और कमीला पर नजर रखते। वे मन-ही-मन मुस्करा कर सोचा करते—इस जवान औरत का अजब गुरूर है। अब भला और कितने दिन? झण्डे का टुकड़ा अब गिरा कि तब। इस संसार में कुछ भी चिरस्थायी नहीं

है। और भूकम्प न भी आये, तो भी दो ताल के पेड़ की ऊँचाई जितना ईंट का खम्भा अमर-अक्षय नहीं है। काई भी दिखायी दे रही है। झण्डा अगर खुद न भी —गिर पड़े, मीनार ही उसे ले गिरेगी और नहीं तो पक्षी वृन्द ही कुतरकर गिरा देंगे। लेकिन साधू ध्वजा बेफ़िक्र है। वह बग़ल बजाते हुए कहता फिरता है—

'लंगोट, कम्बल, लोटा,
खाया बैंगनभुरता।'

साल बीत गया। स्तम्भ के माथे पर कितने गिद्ध, बण्डकाक, कबूतर और न जाने कितने पक्षी हर बार की तरह आये-गये, लेकिन किसी ने बैठने का साहस नहीं किया। वे बैठते तो कुतरकर झण्डे को गिरा देते। पर झण्डा उड़ता रहा। वे सोचते, जाने कौन-सा फन्दा है। डर से दूर हट जाया करते।

फिर एक दिन हाट में बनवारीबाबू के प्यादे साधु धर्मध्वज को ढूँढ़ नहीं पाये। कसीला बोली—'मैंने क्या आँचल में छुपा रखा है?' वेदी के सामने मन्नत करने वाले भक्त देर से खड़े हैं। घगा ढोल बजा रहा है और खगा काँसी (वाद्ययन्त्र) बजा रहा है। ध्वजा का कोई अता-पता नहीं, प्यादे ढूँढ़ रहे हैं, लेकिन उसका पता नहीं चला। बनवारी बाबू को खबर मिलते ही वे आकर कसीला को धमकी देने लगे। ऐन वक्त पर स्तम्भ के ऊपर से शोर सुनायी दिया। चाबुक की तरह वह शोर भीड़ पर बरसने लगा। लोगों को बेहद आश्चर्य होने लगा। स्तम्भ के माथे पर खड़े होकर ध्वजा अपने बाप की तरह ही उछल-कूद मचा रहा है। और उसके हाथ में कपड़े का वही टुकड़ा—ध्वजा के हाथ में झण्डा—ध्वजा गला फाड़कर कहने लगा—'अरे मूर्खो! देखो, मैंने झण्डा गिरा दिया! लंगोट, कम्बल, लोटा। खाया बैंगनभुरता।' और वह बग़ल बजाने लगा। लोग-बाग हाथ हिलाकर रणध्वनि देने लगे, आ-बा-बा-बा-बा! धर्मध्वज का जटाजूट हिलने लगा। और नीले आसमान में वह गंगा-किनारे उड़ने वाले बड़े-बड़े पतंगे की तरह दिखायी देने लगा। फिर उसने दोनों हाथ आसमान की ओर उठाये। और अपनी फ़रार उम्र को पकड़ने के लिए धर्मध्वज ऊपरसे कूद पड़ा। आतंक के मारे सबकी आँखें बन्द हो गयीं। फिर भी साफ़ देखा—आकाश-देवी उसे लपक ले रही हैं। और उसे गोद में लिये देवी को क्रमशः बिन्दु से अणु, अणु से परमाणु बनते-बनते समय जैसे असहाय हो गया। और—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति
कुतोऽयमाग्निः॥

बंगाल में रेशम उद्योग के स्वर्ण-युग में रेशम-कोठी का प्रचलित नाम था—रेशमकोठी। आम आदमी शब्ददूषण में पटु अथवा उनके जीवन के कर्म-धर्म-कर्दम से भाषा भी गन्दी हो जाती है और इसी तरह रेशम हो गया रेशमी। और बंगाल

का जो रेशम वस्त्र पहनकर रोमन सम्राट् की राजसभा में बहस करते—अँग्रेज कम्पनी ने आकर उसमें आग लगा दी। सुना जाता है, खरजूना की रेशमकोठी के अन्दर पाँच सौ गाँठ रेशमी थान, डेढ़ सौ रेशमतन्तु-उत्पादक रेशमकीट के बक्से, और बाईस करघे राख कर दिये गये थे। रेशम कीट के खाने के लिए खरजूना के मैदान में बेशुमार पेड़ थे, वहाँ नील की खेती होने से पहले तक बन्दूकों की आवाजें गरजती थीं। सिर्फ़ यही नहीं, बुनकरों के प्रति मेजर मनरो का यह संवाद एक नाटक में लिखित प्रमाण है : 'टुम लोग करघे के पास गये, तो टुम्हारे हाथ काट दूंगा—साबढ़ान !' कम्पाउण्डर मेटू बाबू ने, मेजर मनरो की भूमिका निभाकर ऐसी हलचल पैदा कर दी थी कि खरजूना ज़िला बोर्ड के दातव्य चिकित्सालय से उनकी नौकरी जाने की नौबत आ गयी। रेल के लूपलाइन की मार्फ़त उसे पाकुड़, बेलपहाड़ी, मोतीहारी, साहेबगंज, धूलियान, निमतिता और न जाने कहाँ-कहाँ भाड़े पर ले जाया जाता। लेकिन यह तो तब की बात है। खरजूना की रेशमकोठी को सचमुच किसी एक मनरो साहब ने नील कोठी में तब्दील किया था। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि वह वही मेजर मनरो हैं या नहीं, जिन्होंने ढाई सौ विद्रोही सिपाही नेताओं को तोप से बाँधकर आसमान में उड़ा दिया था—और वही था भारत का पहला सिपाही-विद्रोह ! 1764 ईसवी की यह घटना है।

यानी नज़र खींचने के लिए रंग, गंध की तरह ऊँचाई का भी इस्तेमाल होता है। प्राचीन बंगाल की उन रेशमकोठियों में दूर-दराज़ से रेशम खेतिहरो की नज़र खीचने के लिए अस्सी-नब्बे-सौ फ़ुट तक ऊँचा ईंट का खम्भा बनाया जाता—आधुनिक युग के अनेक कल-कारखानों की ईंट की बनी चिमनी की तरह। खरजूना कोठी का वह ऊँचा खम्भा ही आखिरकार रेशमी नाम से जाना जाने लगा था। क्योंकि वही थी रेशम उद्योग की आख़िरी निशानी, स्मृति-सौध की तरह दण्डायमान, गम्भीर, वयस्क एक साक्षी। कभी उसे दूर-दराज़ की ग्राम्य वधुएँ देखकर निस्सीम सुख से रोमांच अनुभव करतीं, क्योंकि उनके परिश्रमी पति-पुत्र को वहीं रुपया मिला करता और उसी रुपये के ज़रिए उन्हें गहने की प्राप्ति होती। क्योंकि वहाँ जाने पर ही रुपये अग्रिम ऋण में मिलते। संचित रेशमकीट ख़रीदने के लिए खरजूना की कोठी हाथ उठाये खड़ी है। ये वही हाथ हैं वही एक बृहदाकार दिगंत में ऋजु व सौम्य-कान्ति वही एक नग्न साधू। स्पर्धित शिवलिंग की तरह शक्तिमान व पूजनीय।

इसलिए कहा जा सकता है कि रेशम-स्तंभ की एक प्राचीन परम्परा थी। कालान्तर में जब नीलकोठी का अस्तित्व ख़त्म हुआ, तब कुंजसिंह के दादाजी, जो मुग़ल सेनापति मानसिंह का वंशज होने का दावा करते थे, उस दावे में ऐतिहासिक सत्य का होना सम्भव है, क्योंकि खरजूना के मैदान में मुग़ल-पठानों में बेइन्तहा ख़ून-ख़राबा हुआ था। उस चण्डूसिंह ने लार्ड कार्नवालिस के ज़माने में ज़मींदारी ख़रीदी और विध्वस्त कोठी के मजबूत काठ के दरवाज़े वाले कुछ कमरे

और वह स्तम्भ भी उसके अन्तर्गत आये और वे कमरे उनकी कचहरी बनी। चण्डूसिंह का पुत्र नन्दूसिंह, उनका पुत्र कान्तिसिंह, उनका पुत्र हरिसिंह, जो कुंज के पिता थे—नारियल का पात्र हाथों में लिये भीख माँगने पर उतरने वाले थे। नीलम की डुगडुगी बजने के साथ ज़मींदारी खत्म हुई। सिर्फ़ आवास और इस रेशम-स्तम्भ के सिवा। एक रात सुनसान चाँदनी में स्तम्भ के ऊपर आकाश-विहारिणी एक देवी क्लांति मिटाने बैठी थी, तो हरिसिंह की उस पर नज़र पड़ी। मनुष्य की दृष्टि पड़ने पर देवी देव का स्पर्शदोष होता है। तब वे दुविधा में घिर जाते हैं। हरिसिंह अंग-सौष्ठव व बालों को दे. उन्हें औरत समझ बैठा था। अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर ताडीखोर हरिसिंह चीख पड़ा—'कौन साली है, इतनी रात गये छिनाली करने मेरे रेशम-स्तम्भ पर चढ़ बैठी है?' उन्होंने ईंट उठाकर धमकी देते हुए कहा—'उतर जा साली! नहीं तो सिर फोड़ दूंगा।' मद्यप के हाथ की ईंट उतनी ऊँचाई पर नहीं पहुँची। तब गुस्से से भरकर हरिसिंह ने कहा—'तो ठहर, स्तंभ को दहला दूं। तब दहले स्तभ से कैसे उतरती है देखूंगा।' इतना कहकर स्तम्भ पर पेशाब करने जा ही रहा था कि देवी ने लज्जा से जीभ काटते हुए कहा—'अरे ठहर-ठहर, पेशाब मत कर बच्चे! तब तो मुझे स्वर्ग में प्रवेश करने नहीं दिया जायेगा। तू जहाँ खड़ा है, वहाँ खोदकर देख, धन गड़े है।' दरअसल, आकाश-पथ पर यह स्तम्भ ही देवी का विश्राम-स्थल है। मनुष्य-देह से निःसृत जल से लांछित होने पर देवी को वह सुन्दर स्थल खोना पड़ा। तब हरिसिंह उसी रात बालक पुत्र कुंजूसिंह को बुला लाया। सामड़ से दोनों ने खोद-खादकर काफ़ी धन से भरा एक घड़ा निकाला। ज़मींदारी तो वापस नहीं मिली। लेकिन र मी वापस मिल गयी थी। उन्होंने स्तम्भ की पूजा भी शुरू कर दी थी। लेकिन क़ायम नहीं रख पाये। इस देश की जनता खोह-गुफ़ा देखते ही माथा टेकती है। इसलिए इस स्तम्भ को सहस्र करोड़-प्रणाम पाने का अधिकार स्वाभाविक था। लेकिन हर वक़्त उसके माथे पर गिद्ध बैठा होता। कुंज बाबू ने आखिरकार एक शिवालय बनवा दिया था। गिद्ध के भय से उसे कुछ दूरी पर बनाया गया था। मन्दिर का शिवलिंग प्रचलित बनावट के अनुसार योनिपट्ट पर था, किन्तु उसकी लम्बाई कुछ अधिक थी। इतनी लम्बाई और क्रमशः बढ़ती गोलाई शायद ही देखने को मिले। संभवतः कुंजसिंह के मस्तिष्क में यह स्तम्भ बचपन में ही घुस गया था। उन्होंने ही सामने के अपने आँगन में हाट लगाना शुरू किया। फलस्वरूप स्तम्भ का खोया गौरव वापस मिल गया। क्योंकि दूर-दूर के लोग उसे देखकर आपस में कहते, 'वह देखो खरजूना का हाट! अरे तुम लोग आओ, हम सब हाट चलें।' फिर वही उच्च स्तंभ बन गया था, बहू-बेटियों की आशा-आकांक्षाओं का प्रतीक—रेशम-युग की तरह ही। दरअसल, इस स्तम्भ को देखकर लोगों का हृदय उद्वेलित हो उठता। क्योंकि यही उनकी रोजी-रोटी का केन्द्रस्थल है। उपले चुनने वाली छोकरी, साग उठाने वाली बुढ़िया और मछली पकड़ने वाली मछुआरन

भी कमर में आँचल लपेटे दाहिना हाथ डुलाते-डुलाते स्तम्भ की ओर जाती दिखायी पड़ती हैं। कन्धे पर बहंगी लिये छंदों की गति पर डग भरते हुए दोनों तरफ़ खेतों का अनाज टोकरी में लटकाये हाटवाहे धीमे-धीमे चलते रहते हैं। जुलाहे पीठ पर ताँत का अंगोछा-मशहरी की गठरी लिये हिलते-डुलते चलते रहते हैं। पंसारी रंगदार चीज़े माथे पर लिये फटी आवाज़ में रसीला गीत गाते हुए बढ़ता जाता है। इसी मानिंद चलते जाते हैं—लोहार, कुम्हार, और दूसरे धंधे के लोग। टट्टू की पीठ पर सिल-लोढ़ा, जांता, पत्थर का लबादा लादे। संथाल परगना के पहाड़ी गाँव से गुनाई का परिवार चला आया था। बेंत का गट्ठर लिये पूर्णिया से कलावती के घरवाले भी चले आये थे, साथ ही लोहे की पौंठी कन्धे के झोले में लटकाये तराज़ू चमार भी चला आया था। गंगा पार कर फरक्का के पास बेनीपुर चले आये थे, बैलों की पीठ पर दालों से भरा गट्ठर लादे मालदह के व्यापारी। आसमान में उस धूसर स्तंभ की ओर दृष्टि पड़ते ही लोग रोमांच अनुभव करते थे। 'वह देखो स्तम्भ! तो वही है खरजूना का हाट! चलो चलते हैं! ज़रा जल्दी तो चलो!'

इसलिए गौरवशाली सुदीर्घ, लम्बा वह स्तम्भ, जो जाँगर खटाने वाली जनता की आशा-आकांक्षाओं का प्रतीक है, उसे आकाश-विहारिणी देवी ने अपना विश्रामस्थल चुनकर उसमे स्वर्गिक महिमा भर दी थी। लेकिन उस महिमा की दशा कई बार करुण भी हो पड़ती थी। राँड़ युवती कसीला जब उसे दिखाते हुए अपने पुत्र पहाड़ू से कहती—'उस हरामी ने तेरे बाप की जान ली है, तेरे दादा की जान ली है, उसे तू पहचान रख बेटा!' तब बालक पहाड़ू स्तम्भ को देखते-देखते अचानक चीखकर बोल पड़ता, 'माँ! माँ! मैं साले के सिर पर पेशाब कर आऊँ।' और कसीला उसे दोनों हाथों से रोके रखती, मानो वह बालक कोई तेज़ पक्षिराज टट्टू हो। बाद में पहाड़ू उस स्तम्भ की पवित्रता नष्ट किया करता उसके ऊपर अपने शरीर से निकले सख्त और तरल पदार्थ फेंककर। कालांतर में स्तम्भ से बीस हाथ की दूरी पर ही नाक कपड़े से ढक लेना पड़ता था। लेकिन कसीला मुसकराती रहती। जिस हँसी में दुःख भी मिला हुआ था...।

इस तरह ज़ाहिर है कि आकाश-देवी के उस विश्रामस्तम्भ को कलुषित करने का साहस सिर्फ़ दो व्यक्तियों में था। हरिसिंह और पहाड़ू। लेकिन हरिसिंह की बातों से भयभीत होकर ही देवी ने उसे गड़े रुपये का रहस्य बताया था। पहाड़ू ने सचमुच पवित्रता नष्ट की थी, फिर भी देवी ने उसे कोई तरजीह नहीं दी थी। बालक समझा था। देवियाँ मातृवत् होती हैं। बच्चों का मल-मूत्र साफ़ करना होता है, यह उन्हें मालूम होता है। उस देवी का पति या सन्तान थी भी या नहीं, पता नहीं चला, सिर्फ़ जानकारी मिली, उन्हें भ्रमण प्रिय था। धर्मध्वज अछूत खानदान का था। इसके बावजूद उसके प्रेम में पड़कर देवी ने चौंका दिया था।

ग़नीमत थी, धर्मध्वज ने अपनी आयु की कोई परवाह नहीं की थी। लेकिन कसीला को अपने प्रेमी के लिए स्वयं देवी ही ले आयी थीं। इससे ज़ाहिर है, उन्हें भी राँड़ स्त्रियों का स्वभाव रिझाया था। उस ज़माने में राँड़ी सुहागिनें पति के लिए खुद ही राँड़ जुगाड़ लाती थीं। दुःख की बात है, निरक्षर कसीला देवी भी इस धूर्तता से परिचित नहीं थी। उसे इतना भी आभास नहीं मिला कि यह अमर्त्यवासिनी औरत असल में उसकी सौतन है। यहाँ तक कि बदक़िस्मत कसीला यह भी नहीं जानती थी कि यह स्तम्भ देवी का प्रिय विश्रामस्थल है। वस्तुतः समकालीन किसी घटना का तात्पर्य उस समय समझ में नहीं आता है। समझने में काफ़ी वक़्त लग जाता है। स्तम्भ की देवी के माहात्म्य को लेकर मालदह का एक ग्राम्यकवि फ़ैज़ुल्ला जब लूप लाइन की ट्रेनों में बिक्री करता होता है, उसके पहले ही कसीला मर कर भूत हो चुकी है। पहाड़ू भी ज़िंदा नहीं है, हालाँकि स्तम्भ अविचल खड़ा है। हाट को केन्द्र बनाकर बाज़ार लगाया जा चुका है। खरजूना हो उठा है, चौंतीस नम्बर नेशनल हाईवे के किनारे एक-विद्युत-विभासित ग्राम्य नगरी। स्वतन्त्र भारत में पंचवर्षीय योजना का युग आ गया है।

पहाड़ू की चर्चा करने से पहले उसकी माँ कसीला की बात कह लूँ। फ़ैज़ुल्ला ने कहा है :

'बानाहारी बाबू महाशय बेहद बदमाश भोंडा।
बूढ़ा हों, टूढ़ा हों, स्वभाव से छोकरा॥
कहिन वो कसीला रानी रूपवती नारी।
तय था राँड़ होने पर होगी मेरी राँड़ी॥
औरत बोली मुआँ धत-धत मारूँ तुझे झाड़ू।
धर में मेरे बड़े सोनाली चाँदनुमा लाड़ू[1]॥
बाबू बोलिन, सुन-सुन अरी साधु नारी।
दूध-भात खाये बेटा, हो मेरी राँड़ी॥'

बनवारीबाबू के जुल्म से कसीला अपने बेटे को लेकर स्तम्भ छोड़ चली गयी। उस वक़्त स्तम्भ के ऊपर गम्भीर गड़गड़ाहट हुई और खरजूना के लोगों ने तब पहली बार हवाई जहाज देखना शुरू किया। लोगों ने पहले तो सोचा था रुष्टादेवी का हुंकार। बाद में अखबार पढ़ने वाले बाबुओं ने कहा, 'युद्ध छिड़ गया है। महायुद्ध!' और 'हापु' गानेवाला दल 'हापु' गाने के लिए घर-घर घूमने निकल जाता। गाल फुलाकर दोनों गालों में बारी-बारी से थप्पड़ मारकर वे आवाज़ देते :

'हापुर दुम! हापुर दुम! इल्ले हापु, उल्ले हापु!'

---

1. प्यारा बेटा

एक आदमी सुर में चीखता : 'इंगलैण्ड में गिरा बम !' बाक़ी लोग दोनों गाल थपकाते हुए कहते—'हापुर दुम ! हापुर दुम !' इसी तरह : 'हिटलर आ रहा है मुल्क में—हापुर दुम ! हापुर दुम !···हिटलर ने गिराया बम । इल्ले हापु ! उल्ले हापु ! जर्मनी बड़ा भारी ! हापुर दुम ! हापुर दुम ! पैसा फेंको जल्दी-हापुर दुम ! हापुर दुम ।' लोगों को बेहद मजा आया था । लेकिन उसके बाद वह मज़ा जाता रहा । दो साल अकाल रहा स्तम्भ के माथे पर हर रोज़ गिद्ध बैठने लगा, पहले की तरह तेज़ लू भी चलने लगी, फिर अकाल की काली छाया घिर आयी चारों तरफ़ । यही है पचासवें दशक का भयंकर अकाल, पचास लाख लोगों का, जिसने गाँव के लोगों की अस्थि-अंतड़ी बाहर निकाल दी थी ।

यानी देवी फिर कुपिता हुई थीं । तब सबको कसीला की याद आयी थी और याद आयी, साधू धर्मध्वज की, जिसे दोबारा वेदी पर बैठाने से खरजूना की कृषि भूमि गर्भवती हुई थी । साधू धर्मध्वज के बेटे की बात वे बड़े दुख से कहा करते । लेकिन कहाँ है वह पहाड़ू । पहाड़ू के आने पर शायद उसे देख देवी को दया आ जाये ! पेट-पीठ एक हुए लोग रोटी की जुगाड़ में शहर जाने लगे और दिन ढलने पर हाँफते-हाँफते यही दुआ करते हैं कि कब सुनने को मिलेगा कि खरजूना के स्तम्भ वाली जगह पर पहाड़ू लौट आया है । वे सिर ठोक कर कहते, 'आ बाप पहाड़ू ! लौट आ !' उनकी नतमस्तक प्रार्थना से देवी विचलित हो जाती । और आख़िरकार एक दिन ख़बर फैली, पहाड़ू लौट आया है । और खरजूना के लोग जिन-जिन शहरों में नाले के किनारे हाँफ रहे थे, एक-एक कर उस शहर में ही मज़बूती से खड़े होने लगे । शोर फैल गया, खरजूना चलो ! 'खरजूना लौट चलो ! पहाड़ू आया है !' ध्वजा का बेटा लौट आया है ।' पहाड़ू अकेला लौटा था । कसीला की लाश बेनीपुर की गंगा में फेंक आया था । माँ को छोड़ वह एक गृहस्थ परिवार से माँड़ माँगने गया था । अरवी के पत्ते में माँड़ लाकर देखता है, कसीला मुँह खोले हुए निढाल पड़ी है । उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं । पहाड़ू को बेहद आश्चर्य हुआ था । उसने कहा था, 'मर गयी, मर गयी, मइया री ! थोड़ी भी देर नहीं कर पायी । बहुत बुद्धू है तू माँ ।' पहाड़ू के शरीर में उसके बाप की तरह देवी नहीं आयी थी । लेकिन वह तो अपने बाप का ही बेटा है । उसके शरीर में उसके बाप साधू धर्मध्वज का ही ख़ून है । इसलिए उसके लौट आने पर देवी पहले की तरह ही प्रसन्न हुई थीं । बारिश हुई । मेंढक टर्राने लगे । खरजूना के खेत में पानी उतरा । कृषि भूमि बनी गर्भिणी ! अकाल की काली छाया छँटकर पृथ्वी शस्य-श्यामला हुई । नवान्न की रात फिर धूम से स्तंभ को घेर गाने की महफिल बैठी । सत्रह साल का पहाड़ू महफिल में हो-हल्ला रोकने लगा और बाबुओं को सिगरेट-पान, चाय लाकर देने लगा । खरजूना के लोग उसे काफ़ी चाहने लगे थे ।

और देवी ने कहा था, 'उसका नाम होगा पहाड़ू । क्योंकि उसके शरीर में

पहाड़ की शक्ति होगी।' अगले साल बारिश में स्तम्भ स्थल के तले एक महफ़िल में पहाडू ने बता दिया था कि खरजूना की मिट्टी में एक पहलवान आनेवाला है। और दिन, महीने, साल बीतने लगे। पहाडू इलाके से दूर और भी दूर-दराज की महफ़िल से तमग़ा, अँगोछा, पीतल का घड़ा जीत लाया। स्तम्भ के प्रस्तरनुमा अर्धगोलाकार दरवाज़े के पास उसने गीली मिट्टी से एक छोटा घर बनाया था उस घर में वह गले में चाँदी का तावीज़ पहने सोचता रहता। वह अपने बचपन की बातें सोचा करता।

खरजूना के अनेक नौजवान उसके अनुरागी हो गये थे। वे उसके साथ चेले की तरह घूमा करते। और बनवारीबाबू तब भी ज़िंदा थे। अन्धे जन्मेजय की सम्पत्ति का लगभग तीन-चौथाई उसने हथिया लिया था। नारायणी की मृत्यु के बाद बुढ़ौती में भीष्म-प्रतिज्ञा तोड़ बनवारीबाबू ने विवाह किया था और नयी पत्नी से एक लड़की भी पैदा हुई थी। उसका नाम था करुणा। बाप के गर्व से अभिमानी करुणा बड़ी मुँहफट भी थी।

और इधर पहाडू का दबदबा दिनोंदिन बढ़ चला था। उसके जन्म से पहले रास्ते के किनारे हाटवाली जगह पर पनप उठे एक बाज़ार का अंकुर इतने दिनों में डाल-पत्ते फैलाकर प्रकांड पेड़ बन चुका है। जनता की अपार भीड़ लगती रहती है। मोटरगाड़ी, रिक्शा, बैलगाड़ी, भैंसागाड़ी और टक्कों की भीड़ हमेशा लगी रहती है। खरजूना के मैदान में लूप लाइन की जगह उस बार पूरा स्टेशन बना। बाज़ार में चीज़ें आतीं और चालान भी होते। पहाडू के चेले दूकानदारों से कहते, 'पहाडूदा ने भेजा है। पचास रुपये निकालो!' दूकानदार के गम्भीर होने पर वे तुरन्त गर्दन पकड़ लेते। तब दुकानदार बत्तीसी निकालते हुए कहता, 'देता हूँ बाप, देता हूँ। फ़ज़ीहत मत करो।'

पहाडू आतंक का प्रतीक बन गया है। उसके मँगा भेजने पर रुपये देने ही पड़ते। वरना बेधड़क मार। पुलिस के पास शिकायत जाती। पुलिस आती। और तब तक पहाडू खबर मिलते ही बनवारी बाबू के घर चला जाता। बनवारी बाबू हाट के मालिक हैं। हाट के विक्रेताओं से कर वसूलने या सम्पत्ति लेकर दंगा-फ़साद में पहाडू ही उनका दाहिना हाथ है। पहाडू के शरीर में पहाड़ की ताक़त है। और उस ताक़त की बदौलत बनवारी बाबू की इतनी औकात थी कि रामसिंह-लक्ष्मणसिंह पटवारीजी का वंशज केंचुआ बन गया है। बनवारी बाबू दिन को रात और पानी को जमीन कहते हैं। उनकी ताक़त है पहाडू। और उनकी तेज़ बेटी करुणा इसीलिए सिर्फ़ पहाडू से ही डरती है। पहाडू उसे कैसी नज़रों से घूरता रहता है। उसने एक दिन हिम्मत बटोर कर कहा—'पहाडू दा, तुम इस तरह से क्या देखते हो? मुझे बड़ा डर लगता है।'

पहाडू ने साँस छोड़ते हुए कहा—'कुछ भी नहीं देखता। तू मेरे सामने से दूर

हट तो छोकरी ! तू बाबू की बिटिया और मैं हूँ दुसाध । मेरे पास तू नहीं आना। उस बार अमावस की रात खरजूना में काली-पूजा की धूम थी । शराबी अंधेरे में गाना गाते हुए घूम रहे हैं ।

लड़खड़ाते-लड़खड़ाते नाले में है गिरता ये तो हैं मज़ेदार पाँव ।'

बनवारी बाबू के मकान में विराट पूजा होती है । लग्न के समय ही बकरे की बलि हुई । ढाकी मस्त होकर ढाक बजा रहे हैं । राखू लोहार खड्ग और कपाल में खून लगाकर ता-ता-थेई नाच रहा है । सीढ़ियों पर लड़कियों के साथ खड़ी करुणा बलिदान देख रही है । लड़खड़ाते-लड़खड़ाते आगे बढ़ कर पहाड़ू ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा—'करुणा ! तू मेरी बीवी है ।' ऐसा ही उसके बाप धर्मध्वज ने भी कहा था । लेकिन तराजू की बेटी कसीला और बनवारीसिंह की कन्या करुणा एक नहीं हैं । पहाड़ू का जन्म अछूत के औरस से दुसाध की कोख में हुआ । उसकी इतनी मजाल ! ढाक का बजना रुक गया । हो-हल्ला मच गया । चेलों ने पहाड़ू को कसकर पकड़ते हुए कहा —'छि: पहाड़ू दा ! क्या करते हो ?' चारों तरफ़ से 'मारो-मारो साले को' की गुहार मचने लगी । लेकिन किसी ने भी मारने के लिए हाथ नही बढ़ाया । पहाड़ू ने दहाड़कर कहा—'मेरी माँ कह गयी है, बनवारी बाबू की बेटी ही तेरी बीवी बने ।'

करुणा आर्तनाद कर रही थी । लड़कियाँ गिरती-पड़ती भाग रही थी । चार पेट्रोमेक्स की रोशनी मे हड़कंप और हो-हल्ला मचा हुआ था । राखू लोहार खून से सना खड्ग नीचे उतार, गर्दन एक तरफ़ कर रक्ताभ आँखों से पहाड़ू को देख रहा था । उसकी बड़ी इच्छा है, पहाड़ू की गरदन पर वार करने की । लेकिन खड्ग इतना भारी हो गया था कि उससे उठ ही नही रहा था ।

इतने में भीतर से बनवारी बाबू आ गये । घर के बरामदे मे बैठे फ़ेहरिस्त मिला रहे थे । पूजावाले घर में आते ही यह बावेला देख खड़े हो गये । उन्हें देखते ही शोर-शराबा थम गया । गम्भीर होकर उन्होंने कहा—'हाथ छोड़ पहाड़ू ! तू नशे में है । किसके सिर पर हाथ रखा है, देख !'

पहाड़ू ने कहा—'साले ! तुमने मेरी माँ को राँड बनाना चाहा था ।'

बनवारी बाबू ने एक क़दम आगे आकर कहा—'अब भी कह रहा हूँ, हाथ छोड़ दे पहाड़ू ! नशे के खुमार में हो ! किसका हाथ पकड़ा है, अच्छी तरह देख !'

करुणा की माँ ताराराानी उस दिन बुख़ार में तप रही थी । कुछ ज़रूर हुआ है, अनुभव करते हुए या जननी के सहज बोध से, या कम-से-कम पूजा वाले घर में पूजन के समय उपस्थित रहने की रस्म-अदायगी—जिस कारण भी हो, दीवार पकड़ खुद को सँभालते-सँभालते झाँककर सब देख चुकी । और तब अन्धा जन्मेजय कई बार 'क्या हुआ' पूछने पर जवाब न पाकर एक कोने में चुप खड़ा था । उसके हाथ में एक छड़ी थी । तारारानी ने जब वह छड़ी छीन ली, तो जन्मेजय ने बच्चे की

तरह मचल कर आर्तनाद करते हुए कहा—'कौन ? कौन ? मैं घर कैसे लौटूंगा ? मेरी छड़ी दे दो' और वह छड़ी बरस पड़ी पहाड़ू के माथे पर। माथे से खून निकल आया, फिर भी पहाड़ू ने हाथ नहीं छोड़ा। चीखते हुए कहा—'मार रहे हो, मारो ! लेकिन मेरी जान ले लेने पर भी तुम्हारी बेटी का हाथ नहीं छोड़ूंगा। वो साला बनवारी मेरी माँ को रांड बनाना चाहता था। मेरी माँ ने कहा था, बनवारी बाबू की बेटी से तू ब्याह कर लेना।'

फिर पहाड़ू के चेहरे पर छड़ी पड़ी। और भी खून बह निकला। इसके बावजूद पहाड़ू ने हाथ नहीं छोड़ा। करुणा के कोमल हाथ जैसे दानव की मुट्ठी में थे। करुणा सीढ़ी पर निढाल पड़ गयी। दानव के स्पंदन-शून्य शरीर पर छड़ी बरसते-बरसते टूट गयी। और बुखार से तप रही तारारानी तीव्र उत्तेजना के कारण मूर्छित हो गयी। तब जाकर पहाड़ू ने करुणा का हाथ छोड़ा। उसके खून से लथपथ चेहरे पर एक मुसकान कौंध गयी। इसके बाद उसने चारों तरफ़ के लोगों को देखते हुए दोबारा गरज कर कहा—'हाथ तो मैंने छोड़ दिया—लेकिन मेरी माँ का इन्साफ़ नहीं होगा ! वह बनवारी साला मेरी माँ को राँड़ बनाने पर तुला हुआ था।' पहाड़ू दहाड़ उठा, 'इसका इंसाफ नही करेगा कोई साला ? इंह, करोगे नहीं। क्योंकि मैं छोटी जाति का हूँ। मेरे अछूत बाप के मुंह से देवी बोला करती। वह औरत भी कहाँ गयी रे ? उस साली ने भी तो तब कोई विचार नहीं किया ! आज बनवारी को मैंने देख लिया, तुम लोगों को भी देखा। अब पहाड़ू चला उस हरामजादी को देखने। हिम्मत हो, तो तुम लोग भी चलो देखने। ध्वजा का बेटा पहाड़ू क्या करता है, आओ देखो।'

ऐसा कहते हुए उसने अपना सीना पीट लिया। ऐन वक़्त शराब के नशे का आभास पाकर लोगों ने हाथ हिलाकर रणध्वनि दी, 'आ बा-बा-बाबा-बा !'

और पहाड़ू ने झट नाक झाड़ ली। रोते-रोते नाक से निकला मैल खून से सना था। और जब वह पूजागृह से निकल सड़क पर चला जा रहा था, उस वक़्त भी सुरक्षित दूरी से खुश ब्राह्मण उसके पीछे-पीछे चले जा रहे थे। रह-रह कर पहाड़ू को और भी गुस्सा दिलाने के लिए वे 'आ-बा-बा-बा' की रणध्वनि दे रहे थे। आधी रात के गहरे अँधेरे में जान के डर से भौंकते-भौंकते निशाचर कुत्ते भाग खड़े हुए, क्योंकि मानवेतर प्राणियों को वायु-मंडल में विपद-समेत की आहट मिल जाती है। पीछे बाजार छोड़ हाट से निकलकर प्रस्तर टूटे दरवाज़े से होकर पहाड़ू और भी गहरे अँधेरे में अदृश्य हो गया और जनता आँगन में खड़ी रणध्वनि देती रही। आकाश-देवी और दुनिया की एक छोटी जाति के इस छोकरे को एक दूसरे की ओर जाने को उकसाने लगी रणध्वनि, 'आ बा बा बा बा ! आ बा बा बा बा।'

और स्तम्भ-शीर्ष पर देर बाद पहाड़ू की जाँघ पर ताल ठोंकने, काँख बजाने

की आवाज़ सुनायी दी, जो बंगाल के प्राचीन योद्धाओं का द्वन्द्व युद्ध में आह्वान का ध्वनिसंकेत है। उसके मेघ-हुंकार में क्रोध, प्रतिहिंसा, अभिमान और क्रंदन मिला था। और उसके शरीर में झिलझिल नक्षत्रपुंज चमक रहा था, मानो पौराणिक योद्धा के वेश पहनने के लिए वह दोनों हाथों से नक्षत्र तोड़-तोड़ शरीर पर पहन रहा था। कुछ नहीं समझ पाने के कारण नीचे खड़ी जनता सोच रही थी, कार्तिक की अमावस रात्रि के निर्बोध जुगनू पहाड़ू के शरीर को घेरे जलते-जलते स्तम्भ के ऊपरी छोर पर पहुँच गया है। पहाड़ू को देखते ही उन लोगों ने ज़ोर से रणध्वनि की। और ठीक उसी समय ईशान-कोष में उल्कापात हुआ। देखते ही जनता चीख पड़ी, 'वो देखो, देवी आ रही हैं! देवी आ रही हैं! देवी आ गयी हैं।' वे मत्त होकर उछल-कूद मचाते हुए दोबारा रणध्वनि देने लगे—'आ-बा-बा-बा! आ-बा-बा-बा-बा!'

मालदह के लोककवि फ़ज़ुल्ला मुछलमानी ने पुस्तक की शैली में लिखा है—

'देवी बोलिन सुन-सुन धर्मध्वज बेटा।
संबंधी तुम, देखा मेरे हो बेटा॥
अरे बड़का तेरे साथ नहीं करूँगी जंग।
जो जिसका, मतिमुक्ता आओ करूँ भंग॥
पहाड़ू पुकारे, अरे जाता है कहाँ रंडी।
तेरे पास बपजान मेरा हुआ बैरागी हंडी॥"

चौंतीस नंबर नेशनल हाईवे पर फरक्का की ओर जाते हुए हरिमाटी-मधूनिया के बाद वायुकोण के आकाश में एक साबूत धूसा स्तम्भ दिखायी पड़ता है। बस-यात्री दबी आवाज़ में कह उठते हैं, 'वो देखो खरजूना का स्तम्भ!' वे कपाल और सीने में हाथ छुआते हैं। खरजूना के बाज़ार में बस रुकते ही कुछ लोग दौड़कर स्तम्भ के नीचे पैसा रख प्रणाम कर आते हैं। स्तम्भ और भी कुछ डिग्री लटक गया है। खरजूना नारायणी उच्च विद्यालय के पंडित जी चक्रधारी चक्रवर्ती रोज़ दोनों प्रहर निकटवर्ती बोर्डिंग से हाथ जोड़, कान में जनेऊ चढ़ाये स्तम्भ के पीछे जाते हैं और वापसी में स्तम्भ के नीचे का एक ईंट खिसका कर ले आते हैं। बोर्डिंग घर से रसोईघर में जाने के रास्ते कुछ कीचड़-पानी गिरता है। उस तीस फ़ुट कीचड़-पानी के ऊपर ईंटों से एक टुकड़ा अनोखा सोलिंग बन गया है। लेकिन समझ में आ जाता है कि स्तम्भ अब जाग्रत नहीं रह गया। उसके सिर की दरार में पीपल का पेड़ निकल आया है। और स्तम्भ का सिर गिद्धों के मल से कलुषित हो गया है। कौए भी हड्डी-मांस चुनकर बेहिचक ले आते हैं। इसलिए लगता है, आकाश-देवी ने स्तम्भ का परित्याग किया है। एक और बात है, वह पीपल-तरुवर भी साधु के उस झंडे की तरह ही स्तम्भ की उम्र की ध्वजा। अन्त में मानो अभागे स्तम्भ ने अपनी उम्र को ही अपने माथे पर बिठा लिया है···।

(अनु०—सिद्धेश नारायण राव)

बाँग्ला कहानी

□

सुनील गंगोपाध्याय

दूर से मिली को आते देखकर अपरेश मंडल डर गया। सुबह से बूँदाबाँदी हो रही है। दोपहर को तूफ़ान भी आया है, लेकिन फिर भी यह लड़की समय पर ही हाजिर हो गयी। आज उसके भाग्य में फिर डाँट है। इतनी छोटी-सी लड़की है, जुबान कितनी तीखी है!

रबड़ की चप्पल पहनकर जल्दी-जल्दी चलने से कीचड़ के छींटे पड़ते हैं। इस धोती को अभी और दो दिन चलाना पड़ेगा। इतनी तेज हवा में तो छाता उड़ ही जाना चाहता है। लायब्रेरी के सामने काले जामुन के पेड़ की डाल टूट गयी है, जामुन अभी पके नहीं हैं।

मिली एक पीले रंग की धारीदार साड़ी पहने चली आ रही है। वह अक्सर फ्राक ही पहना करती है। उम्र यही कोई सोलह-सत्रह साल होगी। डाँटने के बजाय आज वह मुस्करा रही है।

अपरेश ने जेब से चाबी का गुच्छा निकाला। लायब्रेरी सरकारी है। अपरेश मंडल इस लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन हैं, और सरकार उन्हें पगार देती है। ठीक चार बजे लाइब्रेरी खुल जाती है। साढ़े चार बज चुके हैं। इस लड़की की वजह से एक दिन भी देर से आने की कोई सूरत नहीं है। एक सरकारी इंस्पेक्टर की तरह वह हाजिर हो जाती है।

ताला खोलकर अपरेश ने कहा—"जाओ, भीतर जाकर बैठो। मैं पैर धोकर आता हूँ।"

अपरेश ने जामुन की टूटी डाली को खींचकर किनारे कर दिया। फिर दासवाड़ी के पोखर में वह पैर धोने गया। सारा पोखर काई से भर गया है। बारिश रुकने का नाम ही नहीं ले रही। लड़की अपने साथ छाता भी लेकर नहीं आयी है। किताबें अगर भीग गयी होंगी, तो उल्टे आज मुझे ही उसे डाँटना पड़ेगा।

पैर धो लौटकर छाता बंद करके एक कोने में रखते हुए उसने

देखा, मिली किताबें ढूंढ़ने में पूरी तरह जुट गयी है। इस महीने मिलने वाली नई किताबों में अभी तक नम्बर नहीं दिया गया है। इसलिए वे सारी किताबें एक कोने में पड़ी हैं।

अजीब बात है! मिली ने अभी तक डाँटना शुरू नहीं किया है। कोई और दिन होता, तो अपरेश के देर से आने पर उसे देखते ही शुरू हो जाती है—"कब से मैं यहाँ खड़ी हूँ और तुम्हें समय ही नहीं मिलता। लगता है, पड़े-पड़े सो रहे थे!"

कोई और इस तरह का आरोप उस पर लगाता तो अपरेश उसे अच्छी तरह समझा देता—"सरकार जितना पगार देती है, उतने में जितनी देर यहाँ रहता हूँ उतना ही बहुत है! सारा दिन यदि मैं लाइब्रेरी में रहूँ तो क्या मेरा पेट भर जायेगा?"

लेकिन एक छोटी-सी लड़की से यह सब क्या कहना! उससे डाँट सुनना अच्छा ही लगता है। इस गाँव के बुज़ुर्ग अपरेश पर ऐसा आरोप नहीं लगाते, क्योंकि मिली की तरह किताब पढ़ने का आग्रह यहाँ किसी को है ही नहीं।

अपरेश ने कहा—"इस बारिश में जो तुम आयी हो, वह भी बिना छाते के, निश्चय ही किताबें भीग गयी होंगी!"

मिली ने कहा—"अख़बार में मोड़कर लायी हूँ। बिल्कुल भी नहीं भीगी हैं।"

"दोनों किताबें एक ही दिन में पढ़ लीं?"

"एक किताब तो पहले से ही पढ़ी हुई थी। नाम याद नहीं था और दूसरी किताब इतनी अच्छी थी न···! बहुत, बहुत, बहुत-ही अच्छी! इतनी अच्छी किताब मैंने पहले कभी नहीं पढ़ी थी।"

इसीलिए इस लड़की का दिमाग़ आज कुछ ठंडा है। जब कभी उसे कोई मनपसंद किताब मिल जाती है, तो वह इसी तरह ख़ुश रहती है।

"तो आज कौन-सी किताब लेनी है, देख लो!"

"पारूकाका, इस किताब का दूसरा खंड कहाँ है? मुझे मिल ही नहीं रहा है। क्या कोई ले गया है?"

किताब हाथ में लेकर अपरेश ने देखकर कहा—"इसका दूसरा खंड नहीं है। शायद निकला ही नहीं है।"

मिली ने कहा—"हाँ, निकल चुका है। अख़बार में मैंने उसका विज्ञापन भी देखा है।"

"तब हम लोगों ने अभी तक ख़रीदा नहीं है।"

"ऐं! ओ माँ, अब क्या होगा?"

लड़की का चेहरा बिल्कुल फक्-सा रह गया। अपरेश के मुंह से बच्चन की

ध्वनि अनायास ही निकल गयी। साल-भर में आखिर कितनी किताबें ख़रीदी जा सकती हैं ? किताबें ख़रीदने के लिए सामान्य-सी राशि ही तो मिलती है। और फिर दिन-प्रतिदिन किताबों का दाम भी तो बढ़ता जा रहा है।

लड़की का चेहरा देखकर ऐसा लगता है, मानो अभी रो देगी। बिल्कुल किताबी कीड़ा है।

अपरेश ने कहा—"दूसरी कोई किताब ले लो ना! और भी तो अच्छी-अच्छी किताबें हैं।"

मिली ने भरे गले से कहा, "नहीं, मुझे दूसरी कोई किताब नहीं चाहिए।"

लड़की तो जैसे गंगा में डूबने लगी। उस किताब का दूसरा खंड मैंने क्यों नहीं ख़रीदा, यही सोच-सोचकर मुझे रात-भर नींद नहीं आयेगी।

अपरेश ने कहा—"ठीक है, आज अब तुम्हें कोई किताब लेने की ज़रूरत नहीं। दो दिन आँखों को ज़रा आराम दो।"

मिली मुँह फुलाये एक स्टूल पर बैठी रही। अपरेश बही-खाता निकालकर काम करते-करते बीच-बीच में तिरछी नज़र से मिली की ओर देखने लगा। यह लड़की कहीं सचमुच में रो तो नहीं रही है! एक कहानी की किताब न मिलने के कारण सोलह-सत्रह साल की लड़की इस तरह रो सकती है, यह अपरेश ने अपने जीवन में कभी नहीं देखा-सुना था।

थोड़ी देर बाद मिली ने कहा—"पारुकाका, इसी लेखक की कोई दूसरी किताब ही दे दो!"

अपरेश जानता था कि वह लड़की किताब लिये बिना यहाँ से उठने वाली नहीं है। इसलिए उसने कहा—"अगर हो तो देखो न, तुम खुद ही खोज लो।"

मिली ने कहा—"रैक में तो नहीं है। आते ही मैंने खोजा है।"

अपरेश ने थोड़ी देर सोचने के बाद कहा—"हाँ, इसी लेखक की दो किताबें और हम लोगों के पास थीं। पिछले साल एक किताब तो नसीबाबू का भतीजा जो ले गया तो फिर उसने कभी नहीं लौटायी। और दूसरी···और दूसरी···हाँ वह पिछले सप्ताह घोष बाबू के मुनीम ले गये हैं।"

"लीला के घर ? लीला तो कहानियों की किताब पढ़ती नही है।"

"वह नहीं पढ़ती तो कोई और तो पढ़ता है। लीला के ताऊ बहुत किताबें पढ़ते हैं।"

"मैं जाऊँ ? उनके घर से वह किताब ले आऊँ ?"

"धत् पगली कहीं की! ऐसा कैसे हो सकता है ? वे लोग किताब लौटा देते हैं। उनके लौटा देने पर तुम ले लेना। आज कोई दूसरी किताब ले लो। रामायण है, महाभारत है—ये किताबें कोई नहीं पढ़ता। तुम पढ़ो। ये किताबें पढ़नी चाहिए।"

"यह सब तो मैंने पहले ही पढ़ लिया है। तुम इस किताब का दूसरा खंड कब लाओगे, बोलो! वादा करो, पारूकाका, वादा करो, कि तुम जल्दी ला दोगे!"

"अजीब मुसीबत है! यह क्या मेरे हाथ मे है? ऐसा क्या है उस किताब मे?"

"तुम तो कुछ भी नही पढने। पढते तो समझ जाते। इस किताब के लेखक ने जैसे मेरी ही कहानी लिखी है। दूसरा खंड पढे बिना रहा नही जा रहा है। वादा करो, तुम जरूर खरीदोगे!"

"ठीक है, ठीक है, खरीद दूंगा। अब जितना भी रुपया मजूर होगा, सबसे पहले वही किताब खरीदूंगा। अच्छा मिली, एक बात बताओ! हर बार तुम दो किताबे ले जाती हो, इतनी जल्दी कैसे पढ लेती हो?"

"पढने मे आखिर कितना समय लगता है? एक ही किताब को मैं दो-तीन बार पढती हूँ।"

तभी दरवाजे मे हलधर ने झांक कर देखा। इस लाइब्रेरी मे वह सहायक लाइब्रेरियन और क्लर्क दोनो है। इस मौसम मे लाइब्रेरी आने की उसकी तिल-भर भी इच्छा नही थी। बीडी खत्म हो गयी थी। बीडी लेने बाजार जाते हुए लाइब्रेरी खुली देखकर वह अन्दर झांककर देखने लगा।

पहले तो उसने सिर्फ अपरेश को देखा था। कहने लगा—"ओ पारूकाका, आज अब दुकान किसके लिए खोलकर रखा है? कोई नही आने वाला!"

दूसरे ही क्षण मिली को देखकर उसने कहा—"अच्छा, तो असली ग्राहक इसी बीच आ गया है! तूफान हो, बारिश हो या महामारी फैले, इस ग्राहक से छुटकारा नही है।"

भीतर आकर हलधर पैर झाड़ने लगा। उसके खाली पैर से कीचड चारो ओर फैलने लगी।

मिली ने दो किताबे चुनी और रजिस्टर मे लिखकर बाहर की ओर बढने लगी।

अपरेश ने कहा—"बारिश रुकने का नाम ही नही लेती। मेरा छाता ले जाओगी?"

"जरूरत नही है इसकी—" कहकर मिली दौड़ती हुई चली गयी।

हलधर ने उसकी ओर देखकर कहा, "सिर्फ यही पर वह शान्त रहती है। पता है पारूकाका, नित्य मास्टर की यह लडकी एक नम्बर की गुण्डा है। आज सुबह ही तो···"

अपरेश ने पूछा—"क्या हुआ आज सुबह?"

हलधर ने अपरेश की ओर एक बीडी बढा दी। फिर एक बीडी अपने लिए सुलगाते हुए कहने लगा—"सुब्रत सरकार के घर के पीछे एक अमरूद का

बग़ीचा है न ! उसमें बड़े-बड़े लाल रंग के बढ़िया क़िस्म के अमरूद फलते हैं। यह लड़की कल दोपहर में उस बग़ीचे में अमरूद चोरी करने गयी थी। अब तो यह बच्ची नहीं रही। बड़ी हो गयी है। फिर भी शर्म-लाज बिल्कुल नहीं। यह पेड़ की बिलकुल ऊपरी डाल पर पहुँच गयी थी। वह तो सुव्रत दा मचर-मचर की आवाज़ सुनकर बग़ीचे में पहुंचे तो यह लड़की अचानक ऊपर से नीचे गिरी। अजीब काण्ड हुआ था उस दिन।"

अपरेश की आँखें आश्चर्य से फैल गयीं। उनके मुंह से अचानक निकल पड़ा—"आश्चर्य है, घोर आश्चर्य !"

अपरेश को इतना अधिक हैरान देखकर हलधर ने पूछा—"क्यों ?"

अपरेश ने बताया—"जो लड़की इतने मनोयोग से किताबें पढ़ती है, वह डाकूनुमा भी हो सकती है, ऐसा क्या तुमने कभी सुना है ? मेरे घर पर भी तो दो लड़कियाँ हैं, वे पढ़ती-लिखती तो नहीं हैं। पता नहीं, वे क्या करती हैं। लेकिन यह सब नहीं करतीं।"

"आपकी लड़कियाँ तो लक्ष्मी हैं। इस लड़की में तो और भी कई गुण हैं, सुनेंगे ? पिछले शनिवार को मुहल्ले की दो लड़कियों के साथ दो मील पैदल चलकर नदी में तैरने गयी थी। भीगे-बदन एक नाव में चढ़ी। किताब पढ़-पढ़कर उसका चाल-चलन बिगड़ गया है, पारूकाका ! उसे अब किताब देना ठीक नहीं है। मेम्बर तो उसके पिता हैं। तुम उसे किताब देना बन्द कर दो। इस लड़की का भविष्य क्या होगा ?"

अपरेश ने एक लम्बी साँस छोड़ते हुए कहा—"सच, इस लड़की का भविष्य क्या होगा ?"

मिली ने स्वयं अपना भविष्य बनाने की कोशिश की थी, लेकिन बना न सकी। उसके पिता नित्यानन्द महापात्र इस गाँव के प्राइमरी स्कूल में शिक्षक हैं। थोड़ी-बहुत ज़मीन-जायदाद भी है। वह ख़ुद ही खेती-बाड़ी भी देखते हैं। पाँच बेटे-बेटियों को लेकर अभाव की गृहस्थी है। दूसरे बच्चों का पढ़ाई-लिखाई में बिल्कुल ही मन नहीं लगता था, लेकिन मिली को जूनियर हाई स्कूल में छात्र-वृत्ति मिली थी। इसके बाद वह ज़िद करके पास ही के गाँव के हाई स्कूल में माध्यमिक पढ़ने चली गयी। माध्यमिक में भी लगभग फ़र्स्ट डिवीज़न से पास हो गयी। लेकिन इसके बाद आगे पढ़ाई न हो सकी। उच्च माध्यमिक पढ़ने के लिए सदर ज़िला जाना पड़ता। वहाँ भेजकर बेटी को पढ़ाने का शौक़ नित्यानन्द को न था। इसके अलावा लड़की को इतना पढ़ा-लिखाकर क्या फ़ायदा ? मिली काफ़ी रोई-धोई। वह कॉलेज में पढ़ना चाहती थी। शहर जाना चाहती थी।

नई किताबों में नम्बर लगाते-लगाते अपरेश मिली के बारे में सोचने लगा। वह लड़की के मोह में पड़ गया है। इस गाँव में एक भी लड़की उसके-जैसी नहीं है।

हलधर ने अधैर्य के साथ कहा—"ओ पाल्काका, अब क्या होगा? अब दरवाज़ा बन्द कर दो ! आसमान देख रहे हो ना ? आज अब कोई नही आयेगा ।"

अपरेश ने कहा—"हाँ, अब बन्द कर दूँगा। घर जाकर सोने से कुछ फ़ायदा होगा।"

इसके बाद अचानक रुककर अपरेश ने हलधर की ओर टकटकी लगाकर देखते हुए कहा—"तुमने जो कहा, लड़की का भविष्य क्या होगा ? सच, क्या होगा उसका ? बताओ तो !"

हलधर ने गुस्से से कहा—"होना क्या है ? नित्य मास्टर को चाहिए, जितनी जल्दी हो सके, उस लडकी का ब्याह कर दे । उम्र भी तो काफ़ी हो गयी है। जितनी देर होगी, विपद उतनी ही बढ़ेगी।"

"शादी करना चाहते ही तो शादी नही हो जाती । उस लड़की के ब्याह के लिए दहेज की रकम कैसे इकट्ठी करेगा उसका पिता ? नित्य मास्टर की यही तो एक लड़की नही है, और भी दो लडकियाँ है । जमीन भी तो सिर्फ़ एक टुकड़ा है, उसे बेच देगा तो खायेगा क्या ?"

हलधर किसी की समस्या मे अपना सिर खपाना नहीं चाहता है । सो उसने कहा, "चलिए, छोडिए भी !"

ताला-चाबी हाथ मे लेकर अपरेश ने कहा—"उस लड़की का भविष्य में क्या होगा, पता है ? हो सकता है, उसकी अकालमृत्यु हो जाये या फिर कोई उसे शहर ले जायेगा।"

इतना कुछ सुनना हलधर को अच्छा नही लगा। उसने कहा—"धत् तेरे की ! इतनी अशुभ बातें क्यो कह रहे हो ?"

अपरेश ने कहा—"मेरी बात अच्छी तरह गांठ बाँध लो। बाद मे देख लेना, मेरी बातें कितनी सच निकलती है। हम लोगो के गाव मे कोई भी अच्छी चीज नही टिकती। अच्छी मछलिया, अच्छे फल-फूल या तो चोर-उचक्के ले जाते हैं, या फिर शहर चले जाते हैं। क्यो, ठीक कहा ना ! हमन मियाँ के घर मे एक गाय थी, जो प्रतिदिन सात सेर दूध दिया करती थी। याद है तुझे ? वह गाय शहर मे बेच दी गयी। पिछली बार तुम्हारे घर मे एक लौकी फली थी। इतनी बड़ी ! कम-से-कम दो हाथ की तो होगी ही। उस लौकी को इस गांव के किसी ने खरीदा ? तुमने उसे हाट मे बेच दिया, जिसे व्यापारी शहर ले गया। इसी तरह मिली-जैसी लकडी भी इस गाँव मे ज़्यादा दिन तक नही टिकेगी। तुझे मैं कहे देता हूँ।"

अपरेश की बातें जल्दी ही सच हो गयी। उसी दिन जब मिली अमरूद के पेड़ से गिरी, उसी दिन उसकी माँ ने मिली को फ्राक पहनने से मना कर, जबरदस्ती साडी पहनायी। तभी वह अचानक किशोरी से युवती बन गयी। उसकी

सुन्दरता को भी तभी सबने पहचाना। वह बहुत गोरी नहीं है। लेकिन बाढ़ का पानी निकल जाने के बाद की मिट्टी के रंग-सा उसका बदन है। चेहरे पर एक तरह का लावण्य है जो सहज ही दिखाई नहीं पड़ता। पत्थर में तराशी हुई मूर्ति का-सा उसका शरीर गठीला है।

ऐसी लड़की को घर से जब-तब निकलने की इजाज़त नहीं होती। इसीलिए मिली के कहीं भी आने-जाने में निषेधाज्ञा जारी की गयी। यहाँ तक कि लाइब्रेरी आना भी बन्द हो गया। उसके विवाह की तैयारियाँ बड़े ज़ोर-शोर से शुरू हो गयीं। देखने-सुनने में लड़की अच्छी तो है ही, पढ़ी-लिखी भी है, इसलिए उसके लिए वर भी अच्छा चाहिए। कई अच्छे लड़कों के पिता अपनी बहू बनाने के लिए उसकी ओर आकृष्ट भी हुए। लेकिन अच्छे वर का मतलब अधिक दान-दहेज़। एक बी० ए० पास वर के लिए कम-से-कम बीस हज़ार रुपये तो ख़र्च करने ही होंगे। दो-ढाई हज़ार से ज़्यादा ख़र्च करने की सामर्थ्य मिली के पिता की नहीं है। षडेश्वरपुर के दिवाकर महन्ती का लड़का सुशान्त एम० कॉम० है। बैंक में नौकरी करता है। लड़की देखने आया तो मिली उसे बहुत ही पसंद आयी। मिली का कोई अच्छा-सा नाम भी होगा, लेकिन मैं नहीं जानता। बाहरी लोगों को आजकल उसका यही नाम बताया जाता है। सुशान्त ने अपनी माँ से कहा भी होगा कि वह शादी करेगा तो सिर्फ़ उसी लड़की से। लेकिन दिवाकर महन्ती को इस बात की ज़िद थी कि काफ़ी रुपये ख़र्च करके उन्होंने लड़के को पढ़ाया-लिखाया है। इसलिए जेवर और दहेज़ का सामान लेकर पचीस हज़ार से कम में बेटे को विवाह की वेदी पर नहीं बैठने देंगे। इस तरह वह सम्बन्ध टूट गया। सुशान्त की शादी पैट्रोल पम्प के मालिक रतन साहा की लकडी से तय हो गयी।

इसके बाद नित्यानन्द मास्टर का चचेरा भाई हाराधन पूजा की छुट्टी में अपने दो दोस्तों के साथ गाँव आया था। हाराधन कलकत्ते की किसी रेडियो और टीवी की दुकान में काम करता है। उन दोनों का जमीन-जायदाद का बँटवारा हो चुका है। नित्यानन्द के चाचा दूसरे मकान में रहते हैं। फिर भी हाराधन अपने दोस्तों को लेकर नित्यानन्द मास्टर से मिलने आया था। वे लोग क़रीब दो-एक घंटे वहाँ थे। बहुत सारी बातें हुईं। इसी बीच हाराधन के एक मित्र को मिली ख़ूब पसन्द आ गयी। उसने हाराधन की मार्फ़त नित्यानन्द मास्टर के पास शादी का प्रस्ताव भिजवाया। शादी में उसकी किसी तरह की माँग नहीं थी। उल्टे सिर्फ़ एक कपड़े में मिली को पत्नी के रूप में स्वीकार करने को वह राज़ी हो गया।

वर के लिहाज से शैल,एक बहुत ही अच्छा लड़का है। राज्य-सरकार के हैल्थ डिपार्टमेण्ट में रिकॉर्ड-सप्लायर का काम करता है। क्लर्की नहीं है, फिर भी अच्छी नौकरी है। चपरासी की तरह स्टूल पर बैठना नहीं पड़ता है। दफ्तर में उसकी अपनी एक चेयर है। बाबूलोग कागज की स्लिप में फ़ाइल का नम्बर लिख कर

उसके पास भेज देते हैं और वह स्तूपाकार सरकारी रिकॉर्डों के ढेर से फ़ाइल खोज कर उन्हें दे देता है। रिकॉर्ड-सप्लायर यदि ठीक तरह से फ़ाइल खोज कर न दे, तो कभी-कभी लाखोलाख रुपये का बजट रुक जाता है। सरकारी नौकरी है। इसलिए नौकरी से हाथ धो बैठने का डर ही नही है।

शैल देखने में भी बुरा नही है। उम्र यही कोई तीस-बत्तीस या फिर दो-एक साल ज्यादा होगी। उसने खुद ही बताया है कि वह शादीशुदा है। शादी के मात्र पाँच साल बाद ही उसकी पत्नी अपने दो बच्चों को छोड़कर स्वर्ग सिधार गयी। नयी पत्नी को इन्ही दो बच्चों की परवरिश अपने बच्चों की तरह करनी पड़ेगी!

हाय रे! ऐसा तो कइयों के साथ होता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि कलकत्ता-जैसे शहर मे सरकारी नौकरी वाला लड़का और वह भी बिना किसी दान-दहेज के! हाराधन ने उसके चरित्र के सम्बन्ध में गारण्टी दी है। जब-तब सो जाने के सिवाय शैल मे दूसरा कोई ऐब नही है। नित्यानन्द मास्टर को जैसे चाँद मिल गया। रिश्ता तय हो गया।

अपरेश कुछ दिनो से बुखार झेल रहा है। बुख़ार ठीक न होने पर भी एक दिन वह घर मे निकला। उसका सिर थोड़ा भारी था। लेकिन पिछले आठ दिन से लाइब्रेरी बन्द है। यही बात उसके विवेक को अच्छी नहीं लग रही थी। उसके न जाने पर हलधर भूल कर भी उस रास्ते नही गया होगा। सरकार आखिर पगार देती है, इस तरह काम मे लापरवाही बरतना क्या अच्छा है? लोग आयें या न आयें, लाइब्रेरी खुलनी ही चाहिए।

दासबाबू के पोखर के बायी ओर मुड़ते ही अपरेश को लगा, जैसे मिली लाइब्रेरी के फाटक के पास खड़ी है। उसे देखते ही अनुताप और आनन्द से अपरेश का दिल काँप उठा। यह लड़की ठीक ही आयी है। कम-से-कम एक भी आदमी आये और लाइब्रेरी बन्द हो, तो यह सरासर अन्याय है।

दूसरे ही क्षण अपरेश ने कहा—'धत्! बुखार की बजह से कही मै ग़लत तो नही देख रहा हूँ। यहाँ कहाँ है कोई?'

सचमुच पिछले चार महीने से मिली लाइब्रेरी नही आयी। कल उसका शादी है। और आज यहाँ आने का तो प्रश्न ही नही उठता। इस गाँव में मिली की तरह दूसरी किसी लकड़ी को किताब पढ़ने का इतना शौक़ भी नही है। इसलिए दूसरी कोई लड़की भी नही है। अपरेश ने ग़लत देखा है।

ताला खोलते हुए अपरेश ने बड़बड़ाते हुए कहा—'वह लड़की अब कभी नहीं आयेगी। उस लड़की की पढ़ाई-लिखाई भी अब ख़त्म हो गयी। मिली शादी से पहले ही दो बच्चों की माँ बन गयी। अब वह बच्चे सँभालेगी या किताबें पढ़ेगी! शादी के बाद दूसरा साल लगते-न-लगते मिली के भी बच्चे हो जायेंगे। कलकत्ता जैसे शहर में किराये के मकान में रहना, इतने सारे बच्चों की परवरिश करना,

दूसरे किरायेदारों से लड़ना-झगड़ना और इसके बाद आज किरासन तेल नहीं, तो कल पानी नहीं है, शक्कर नहीं तो कभी दूध नहीं···'

यह सब सोचकर अपरेश व्यंग्यपूर्वक मुस्करा दिया।

लाइब्रेरी में एक अजीब-सी घुटनदार बदबू आ रही है। हलधर ने आज लाइब्रेरी में झाड़ू तक नहीं लगाई है। खेती के मौसम में हलधर कोई दूसरा काम भी करता है।

टेबल पर एक मोटी-सी किताब पड़ी है। मिली ने उससे वादा लिया था। इसलिए अपरेश ने मिली के प्रिय लेखक की किताब का दूसरा खण्ड खरीदा है। अपरेश ने अपना वादा पूरा किया है। लेकिन मिली इस किताब को लेने अब कभी नहीं आयेगी। अपनी प्रिय किताब का दूसरा खंड अब शायद ज़िन्दगी भर नहीं पढ़ सकेगी।

अपरेश खुद किताबें पढ़ने का आदी नहीं है। तो क्या यह दूसरा खंड खरीदना व्यर्थ हो गया? इतनी क़ीमती किताब, दूसरे किसी ने तो इस किताब को कभी नहीं माँगा।

अपरेश ने खुद ही उसे पढ़ना शुरू किया।

॥ समाप्त ॥

पुनश्चः इसी कहानी का एक दूसरा खंड भी हो सकता है। लेकिन वह मैं नहीं लिख सकूंगा। सब लोग कहते हैं कि 'मैं बहुत ही व्यावहारिक हूँ। कोई दूसरा लिखेगा।' शायद ऐसा हुआ होगा।

शैल के साथ मिली का विवाह अन्त तक नहीं हुआ। षडेश्वरपुर के दिवाकर महन्ती के लड़के ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया। उसने कहा—"मुझे जेवर नहीं चाहिए, रुपये नहीं चाहिए। उस लड़की को मैं सिर्फ़ जीवन-संगिनी के रूप में चाहता हूँ!" इसी बीच क़ानून लागू हो गया कि विधुर लड़के सिर्फ़ विधवाओं से ही शादी कर सकते हैं। सुशान्त के साथ मिली का मिलन हो गया। पति का घर बसाने के बाद वह उच्च माध्यमिक पढ़ने के लिए स्कूल में भर्ती हो गयी। और फिर कॉलेज···

आशा करता हूँ कि वह शुभ दिन जरूर आयेगा। भविष्य में नये लेखक उस समय की कहानी लिखेंगे। या मिली-जैसी लड़कियाँ खुद ही अपनी आत्मकथा लिखेंगी। क्या पता, तब तक मैं जीवित रहूँगा भी या नहीं। लेकिन वह शुभ दिन देखकर जाने की इच्छा जरूर मेरे मन में है।

(अनु०—साधना शाह)

मराठी

• बा. ग. केसकर
• राजेन्द्र बनहट्टी
(अनुवादक—चन्द्रकांत बांदिवडेकर)

दरार

□

बा. ग. केसकर

'**सुभी,** ओ, री, सुभी !

चार-पाँच बार पुकारने पर कम्बल हटाकर झोंटे पीछे करती हुई, आँख की कीचड़ को निकालती हुई, हड़बड़ाती हुई वह चूल्हे के सामने आ बैठी थी। बाहर वर्षा की बूँदा-बाँदी शुरू थी। आसमान एक-सा हो गया था। घुटन थी, हवा में ठण्डक थी, शायद वर्षा रात-भर जारी रही थी। पता नहीं चल पा रहा था कि कितने बजे होंगे, लेकिन दिन निकल आया था। मिचमिची आँखों से उसने चूल्हे की आग की ओर देखा।

"उठो तो ! कितनी बार पुकारा जाये उसे ? चलो, वह डिब्बा लो पहले, एस०टी० चली जाए तो ? वह बेचारा रहेगा उपासा। तुम्हें क्या ? एक क्यों, चार-चार बार निगलती रहोगी यहाँ। चलो, जल्दी करो···।" माँ ने कहा।

वह उठी, पहने हुए चीथड़े को काँछते हुए उसने टीन का डिब्बा निकाला। माँ ने डिब्बे में रोटियों की पोटली रखी। दाल-प्याज का डिब्बा रखा, चटनी की पुड़िया रखी और बड़ा डिब्बा बन्द कर ताला लगाने को उससे कहा, "भागो ऽ, भागो ऽ अब ! नहीं तो गाड़ी चली जाएगी।"

"अरी हाँ, हाँ, पीछे क्या पड़ी हो ?" सुभी

"अरी, एस. टी. चली जाए तो क्या करोगी ? या पुणे जाकर दे आने वाली हो ? अभी गाड़ी चूक जाए तो कल सुबह तक दूसरी गाड़ी नहीं है ऽ ऽ। क्या तब तक फ़ाका करेगा वह ? या हम रईस हैं कि उसके पास पैसे दे रखे हैं ? खायेगा कुछ खरीदकर या होटल में जायेगा एं ? जा, मेरी लाड़ली, अब ! भाई के लिए इतना करना ही होगा ऽ ऽ।"

"अरी, मैं 'नहीं' कह रही हूँ क्या ? वह देखो, बरसात की झड़ी आ गयी। बोरा देना मुझे खोल बनाकर। नहीं तो भीग जाऊँगी

मैं पूरी।"

"अब मैं ही उठकर दूँ बोरा तुम्हें ? तुम लो न ? मेरे हाथ देखना, आटे से सने जो हैं, माँ !" बाहर वर्षा ने ज़ोर पकड़ा था। पिनपिनाते हुए उसने डिब्बा नीचे रखा। बोरा खोज निकाला, खोल बनायी और डिब्बा लेकर चल पड़ी।

उनकी पन्द्रह-बीस मकानों की बस्ती रास्ते से आधे मील दूर नीचे दो टीलों के बीच बसी हुई थी। थोड़ी-सी चढ़ान चढ़ने पर आड़ा रास्ता फैला हुआ दिखाई देता था। रोज़ पुणे जाने वाली एस.टी. सुबह आती थी। उस गाड़ी में खाने का डिब्बा पहुँचाना पड़ता था। सुभी का भाई पुणे में कोई कोर्स कर रहा था। उसका डिब्बा सुबह इस गाड़ी में देना पड़ता था। उसे वापस लेने के लिए भी यही आना पड़ता था। पिछले तीन-चार महीने रोज़ सुबह उसे हमेशा आना पड़ा था। शाम को माँ आबा को भेजती थी। माँ चिल्लाती—"इधर बीड़ी फूंकते जा रहे हो, तो ज़रा उधर जाकर डिब्बा तो ले आओ। रात को कहाँ लड़की को भेजोगे ? अँधेरे में ?" फिर आबा जाया करता। कभी गाड़ी जल्दी आ जाए तो आफ़त होती। समय पर वहाँ न होने से डिब्बा आगे चला जाता—फिर कठिनाई पैदा होती। फिर कपड़े में रोटी बाँधकर दी जाती। उस पर नाम कौन लिखेगा ? फिर बस्ती के मास्टर के पास या और किसी के पास जाना पड़ता। मास्टर ठीक लिखा करता था। दूसरे बच्चे का कुछ ठीक नहीं था। 'र' को 'ट' बनाकर लिखते। 'औंध, पुणे' के स्थान पर 'अवंध पुने' ऐसा ही कुछ। पूरी तकलीफ होती। इसलिए गाड़ी को समय पर न पकड़कर काम नहीं चलता था। सुबह को इसलिए कि उसे फ़ाका न करना पड़े। शाम को इसलिए कि दूसरे दिन देने को डिब्बा चाहिए। गाड़ी में रात-भर ठीक रहा तो दूसरे दिन मिल भी जाता था। लेकिन ऐसा कम होता, कोई-न-कोई डिब्बा निकाल लेता था।

बरसात में भीगती हुई वह डिब्बे को सँभालती हुई चढ़ान चढ़कर आयी तो गाड़ी आती हुई दिखी। वर्षा में पानी की पिचकारियाँ मारती हुई गाड़ी बड़े वेग से आ रही थी। वह दौड़ने लगी। कीचड़ में फिसलकर गिरी, लेकिन गिरते-न-गिरते सँभल गयी। गाड़ी अपने वेग में आगे ही जाने को थी कि उसने डिब्बे वाला हाथ ऊपर उठाया। आगे को दौड़ी, गाड़ी रुक गयी। सामने से वह ड्राइवर के पास गयी। "जल्दी आने को क्या होता है ? ऐं ? जल्दी आकर रुको !" ड्राइवर गुर्राया। पानी की धारों को मुँह से पोंछकर वह सिर्फ़ हँसी, "हँस क्या रही हो ? पीछे कण्डक्टर के पास डिब्बा दे दो। यहाँ नहीं। वह बन्द अब !" फिर मुड़कर वह दौड़ी। कण्डक्टर भी गुस्सा हुआ। अन्दर के यात्री गर्मी में देर होने की बात को लेकर शिकायत-भरे स्वर में बुदबुदाने लगे। गाड़ी तुरन्त चलने लगी। पानी का छपाका उसके शरीर पर उड़ा और पहले से मैला उसका घाघरा और मैला हो गया…ऐसे ही वर्ष बीत गया। गर्मी, वर्षा, सर्दी—टीले चढ़कर वह एस. टी.

को पकड़ती थी। घड़ी नहीं थी। सारा कामकाज अन्दाज़ पर। पता नहीं चलता था कि कितने बजे। कभी देर होती, कभी जल्दी आयी तो रास्ते पर रुकना भी पड़ता। भाई छुट्टी में आता तो उसे अच्छा लगता, क्योंकि उतने दिनों के लिए सुबह जल्दी उठकर गाड़ी को पकड़ना टल जाता। फिर भी माँ उसे बहुत नींद लेने नहीं देती थी। "लड़की की जात को इतनी नींद किस काम की? अब क्या छोटी हो? घोड़ी की तरह बढ़ गयी हो, उठकर झाड़ू लगाओ, बकरियों के नीचे का मैला साफ़ करो, पानी लाओ—यह सब करने के बजाय दिन चढ़ जाने तक बिस्तर पर लेटना क्या ठीक है? फिर भी तुम्हारी रोटी पहुँचानी होती है, इसलिए सुबह-सुबह दौड़ती है। हाँ, लेकिन उसके लिए कभी शिकायत नहीं की उसने।' माँ कुछ उसको, कुछ भाई को सम्बोधित करती हुई बोलती जा रही थी।

वसन्त ऋतु, वृक्षों में पल्लव फूटे, आम्रवृक्षों मे बौर आये, मोर पूँछ फैलाकर नाचे—वैसे सुभी की देह और मन को यौवन का स्पर्श मिला। वह अपने से ही शर्माने लगी, अपनी ही उभरती छातियों को देखकर चकित होने लगी। अब डिब्बा लेकर उसका दौड़ने को मन चाहने लगा। एस. टी. के किसी यात्री ने टकटकी लगाकर देखा तो लाज आती थी। कण्डक्टर डिब्बा लेने के बहाने हाथ दबाया करता था तो एक ओर उसको गुस्सा भी आता था तो दूसरी ओर शरीर में मधुर कँपकँपी भी निकलने लगती थी। मुँह टेढ़ा कर, चेहरे पर गुस्सा ओढ़कर वह झट से डिब्बा दे देती। लेकिन अन्दर कहीं स्पर्श का आकर्षण भी था। अपने इस परिवर्तन का उसे नशा-सा चढ़ा था। देखते-देखते दो साल बीत गये। अम्बादास कोर्स पूरा करके पुणे से लौटा और उसका गाड़ी पर डिब्बा देने के लिए जाना भी बन्द हो गया। कभी-कभी सुबह एस. टी. की चिरपरिचित आवाज़ आने पर पूरे वेग में आने वाली एस. टी. को देखने की इच्छा उसमें पैदा होती थी। वेग से आने वाली एस. टी. आगे वाले मोड़ पर अदृश्य हो जाती। उसका मन उस एस. टी. के साथ जाता था। न देखा हुआ पुणे उसकी नज़र के सामने आता। वह अब तक भिगवण को भी छोड़कर कहीं नहीं गयी थी। भिगवण की रेलगाड़ी भी उसने दूर से ही देखी थी। कभी उसकी माँ मनौती को पूरा करने के लिए बाबा डबुवा के मेले में उसे ले गयी थी। उतनी ही मौज, वह भी दूर से देखी थी! मेले में लगी पालें, दुकानें, बत्तियों की जगमगाहट, ऊँचे जाकर ऊपर-नीचे होने वाले पालने, गोल-गोल घूमने वाले घोड़े, तिस पर भी मनौती के लिए काटा गया बकरा। उसके लिए अनेक प्रकार के झंझट, पानी लाना इत्यादि कामों में माँ के साथ काम करने में ही उसका बहुत सारा समय बीत गया था। वह देखना चाहती थी कि शहर कैसा होता है। तेज़ी से जाने वाली कारें, सिनेमा, बहुत सारे खाने के लिए बने होटल—क्या-क्या मज़ा आता! लेकिन उसे कौन ले जाने वाला था? भाई के होते कुछ आशा थी, लेकिन अब कैसे कुछ जमने वाला है—ग़रीबी में?

आबा भी नहो जा सके। डिब्बे मे ही चिट्ठी-सन्देश भेजा जाता था। पैसे भी प्लास्टिक के कागज़ मे लपेटकर रोटी के साथ रखकर भेजे जाते थे। ऐसी हालत मे पुणे कौन जा सकता है? अम्बादास कुछ दिन घर मे ही बैठा रहा। कही-कही अर्जियाँ भेजता रहा। रोज बस्ती मे पोस्टमैन आकर चला जाता था। तीसरे प्रहर। उस समय वह बडी आशा लेकर, स्कूल मे जाता था। मास्टर डाक देखते थे। देखता था कि कही से कुछ बुलावा आता है या नही। ऐसे कुछ दिन बीते। सुभी अब माँ की फटी या बीच मे सिली हुई धोतियाँ पहनने लगी। आबा चिन्ता में दिखाई देने लगे। पेट काटकर बच्चो को इतना पढ़ाया, पुणे मे रखा। अब लडके को नौकरी मिलेगी, कुछ मदद मिलेगी। लडकी की शादी करनी है। सयानी लडकी को घर मे रखना आग को तकिये के पास लेकर सोना है—ऐसा कुछ-कुछ बडबडाते रहते थे। अम्बादास भी क्या कर सकता था? उसने भी हर तरह से प्रयत्न चलाये ही थे।

और फिर एक दिन उसे पुणे के कारखाने से बुलावा आ गया। उसे पहुँचाने सुबह-सुबह सुभी, माँ, सभी आज रास्ते पर आये। सुभी को याद आयी—वह कैसे गाडी पर डिब्बा पहुँचाने जाया करती थी। एक बार बरसात मे फिसल गयी। डिब्बे को ऊपर ही ऊपर उठाये रखा, लेकिन रान तक कीचड लगी। गाडी सामने से आ रही थी। ड्राइवर ने गाडी की गति को कम किया था। धीरे-धीरे गाडी रुकी। तब तक वह सँभलकर चलने लगी थी। लेकिन वर्षा की मार मे चोली शरीर मे कसकर चिपक गयी थी और ड्राइवर, कण्डक्टर, गाडी के यात्री—सबकी नजरो ने इतना परेशान किया था कि लज्जा, मर जायेगी। सुभी याद कर अपने से ही मिलकर हँसी और जल्दी-जल्दी अम्बादास से बोली—"अप्पा, पहुँचने पर तुरन्त कागज़ जरूर लिखना।"

"सुना रे अम्बा? सुभी क्या कह रही है! बच्ची बहुत प्यार करती है रे तुझको!" माँ ने कहा—"मेरी लाड़ली ने एक दिन भी डिब्बा पहुँचाने मे आलस नही किया। देख रे, बहिन के बिना नेह नही होता।" आबा और अम्बादास सिर्फ हँसे। इतने मे गाड़ी आयी। वह चढा। "चलता हूँ माँ!" "आबा, पत्र लिखना!" "सुभी, अच्छा!" अन्दर बैठते हुए उसने कहा। उसने गर्दन से ही 'हाँ' कहा।

अम्बादास फिर से पुणे मे ही काम के लिए गया। लेकिन अब डिब्बा भेजने को जरूरत नही थी। उसने वहो कहो दो-तीन लडकों के साथ मिलकर कमरा लिया था। तनखा ठीक थी। वे सब हाथ से खाना बनाकर खा लेते थे। सुभी के पीछे बाकी ढेर सारा काम था। कभी अम्बा का पत्र आता, कभी पैसे भी। आबा के चेहरे पर अब ज़रा रौनक आयी थी। वह अब बडी उम्मीद से सुभी के लिए रिश्ता ढूँढ़ने मे लगे थे। अम्बादास को पत्र गया था—वह दो-तीन दिन की छुट्टी लेकर आया था। आबा ने सुभी के लिए रिश्ता ठीक किया था। उसकी मँगनी के लिए

आना था। लड़का रुई के नीचे डोंबड़वाड़ी का था। घर की थोड़ी जमीन थी। पाँच-बीसी भेड़ें थी। दो ही लड़के थे। यह बडा था। भेड़े चराता था। पढ़ा होगा कुछ तीसरे-चौथे दर्जे तक। लेकिन भेडों के पीछे रहने वाला लडका।

अम्बादास आबा से नाराज़ हुआ, "नही, इतनी क्या जल्दी पड़ी थी, मैं पूछूं?"

"अब सयानी लड़की को घर मे रखकर कब तक रहा जाए? अब सयानी हुए दो वर्ष हुए।"

अम्बा—"हाँ, वह तो ठीक है, लेकिन ज़रा अच्छा रिश्ता देखते तो ठीक नही होता? हमारी सुभी क्या लूली-लँगडी थी जो यह गडरिया ढूँढ़ लाये?"

"अरे, सुभी हमारी बहुत अच्छी है रे। लेकिन पैसा कहाँ से आएगा? दहेज़ मे पैसा कहाँ से लाओगे? एकाध एकड नहरी जमीन हो और लडका ज़रा पढ़ा-लिखा हो तो दस-पन्द्रह हज़ार माँगता है। कहाँ से लाओगे?"

आबा बोले, "ये लोग गरीब है, अपने पुराने रिश्तेदारो मे से है, नाहक कहाँ···?"

अम्बादास खामोश तो हो गया था, लेकिन अपना बहनोई भेडो को चराने वाला हो, यह उसे ठीक नही लग रहा था। लेकिन क्या करेगा? पैसे का सवाल आबा ने उठाया तो अम्बादास चुप हो गया। लेकिन सुभी अपने भाई का नेह देखकर खुश हो गयी थी। अन्दर से भर गयी थी। 'अपनी किस्मत मे जिसके साथ गाँठ बँधी है, वही रिश्ता तय होगा।' यह कहकर वह चुप रही।

अम्बादास और आबा गये थे, रिश्ता तय हुआ था। तिलक लेकर गये थे। फिर वह पुणे गया था। उसकी अधिक सहमति नही थी। "अब विवाह के समय ही आऊँगा। बाकी आप तय कर लीजिए। मै पैसे भेजूँगा।"—उसने कहा था।

सुभी की शादी उनकी फटेहाल अवस्था मे भी ठीक ढंग से ही हुई थी। कल तक चोली और चीथड़ा पहनने वाली सुभी नयी साडी का बोझ सम्हालती हुई पति के घर गयी और नौकरीयाफ़्ता अम्बादास की शादी की बातें घर में शुरू हुईं। उधर उसने अलग कमरा भी लिया था। अच्छे कपडे पहनकर वह गाँव मे भटका करता था। हाथ मे घडी, आँखो मे गोगल्स, आबा से कहा करता—"ऐसी लडकी चाहिए जो पुणे मे निभा ले।"

"अच्छा बाबा, जैसी तुम चाहो, वैसी देखो। हमे थोड़े ही उसके साथ दिन काटने है!' माँ कहा करती। आबा खामोश हो जाते। उनको यह नही ठीक लगता था कि लड़की के पिता रिश्ता लेकर घर आने के स्थान पर अपना लड़का ही जाकर लडकी को देख आता है। लेकिन कमाऊ लड़का, शहर मे रहने वाला अच्छा-खासा कमाने वाला। उन्हें चुप बैठना ही पड़ता। आखिर एक लड़की उसे पसन्द आ गयी। लड़की वालों को भी वह पसन्द था। अम्बादास के लड़की को

पसन्द करने पर पिता की कुछ नहीं चली। उनको लड़की के पिता से दहेज वगैरा लेना था। लड़का नौकरी में था। घर की थोड़ी ज़मीन भी थी। समधी से कुछ वसूल करने का अवसर था, लेकिन अम्बादास ने परस्पर सब तय कर लिया। मतलब पिता को और सम्बन्धियों को सिर्फ़ रिश्ता तय करने के लिए ही ले जाया गया। लेकिन अपनी पसन्दगी पहले से ही ससुर को बताने पर आबा की पूछ कैसे होती? फिर भी समधियों ने शादी का खर्चा करके ऊपर से दहेज भी दिया था। बर्तन-भाँड़े भी दिये थे। पोशाक, घड़ी दी थी। लेकिन आबा और माँ को विशेष महत्त्व नही दिया गया था। इसका काँटा तो साथ ही रहा था। लड़की भी ज़रा 'ज़्यादा' ही लगी! अम्बादास की माँ ने मन को समझाया, 'यहाँ मुझे कहाँ उसको अपने साथ रखना है! वह वहीं जायेगी। वहाँ अपने पति के साथ ठीक रही तो सब ठीक है।' सुभी आयी थी। उसका पति भी आया था। लेकिन अम्बादास अपने गड़रिये बहनोई से ढंग से बोला ही नही, मानो उसको देखकर उसे शर्म महसूस हो रही थी। सुभी कह रही थी—"अप्पा, भाभी को लेकर आना! यावरेबुक को, वहाँ से निकट ही है हमारी बस्ती। उसने केवल हाँ-हूँ किया था और भाभी ने तो मुँह ही फेर लिया था। लेकिन सुभी के ध्यान में नही आया था। वह भाई की शादी और उसकी सुन्दर भाभी को लेकर ही खुश थी।

सत्यनारायण-कथा, गौंधड़-जागरण इत्यादि विधियो के बाद अम्बादास पत्नी को लेकर पुणे गया। सुभी ससुराल लौट आयी और अपनी गृहस्थी में मशगूल हो गयी।

× × ×

ऐसे ही दिन बीत रहे थे। सुभी के मन में पुणे देखने की इच्छा बचपन से छिपी थी, जो एकदम उछलकर ऊपर आयी। उसके मन में आया, पुणे जाकर भाई से मिला जाये। चार दिन रहकर घूम-फिरकर पुणे देख लिया जाये। वह पति के पीछे पड़ी—"चलिए न, चार दिन मैं अप्पा से मिलना चाहती हूं।"

"अरी, लेकिन यहाँ के काम का क्या करेंगे? दादा अब भेड़ों को थोड़े ही चरा सकते हैं।"

"तुम्हारी बात ठीक है, माँ करेगी चार दिन रोटी-भात।"

"उस शिवा से कहो न! चार दिन उसकी भेड़े भी क्या आपने नही देखी थीं? हम आठ-पन्द्रह दिन थोड़े ही रहने वाले हैं। चाहो तो समय निकाल सकते हो। मैं बताऊँ शिवा को?"—सुभी।

"कुछ नही। मैं बताऊँगा उसे। वह 'ना' नहीं करेगा। लेकिन मेरा मन ही नही चाहता कि अपनी भेड़ों को दूसरों के जिम्मे छोड़ दूं।"

"ऐसे तो रिश्तेवालों से कभी मिलना ही नही हो पाएगा"—सुभी।

"वे लोग भी तो कहाँ हमारे यहाँ आते हैं? इतना तुमने बुलाया उसको, वह कहाँ आया? हमारा अनाड़ियों का सा रहना-सहना उसको थोड़े हो पसन्द

आयेगा ? शहर में रहने वाला तुम्हारा भाई, अंग्रेजी बोलने वाला। ठाठ से रहने वाला।"

"ऐसा कुछ नही है। वह शहर मे जन्मा थोडे ही है ? वह भी तो गाँव में पैदा हुआ है। बकरी के मूत्र मे लुढकता था।"

"हाँ, लेकिन अब तो शहर मे पहुँच गया है। अपनी पहचान क्यो नही रखेगा ? हमें देखकर उसे लाज आ जायेगी।"

"लाज क्यो आयेगी ? लाज आने को हम क्या पराये हैं ? सगी बहन हूँ मैं उसकी। पढने को पुणे गया था तो ठड मे, बरसात मे, मै उसके लिए खाने का डिब्बा पहुँचाया करती थी।"

"तो क्या हुआ ?"

"वह जाने दो। लेकिन खून का रिश्ता जो है ! चलो न चार दिन को। रिश्तेवालो से मिलना है तो तुम भी कितना अडे बैठ हो ?"

सुभी ने यह सब कहा तो बिरू तैयार हुआ। बिरू की लाल पगडी उसने साबुन लगाकर धोयी। साथ मे बाजरे की रोटियाँ, भाजी, कुलथी की घुघरी बाँधकर ले ली। भाई-भाभी के लिए कुछ अलग से बाँधकर ले लिया। आबा के यहाँ से आया पते का कागज अच्छी तरह से रखा। पुणे देखने के लिए जाने का आनन्द एक ओर था, तो दूसरी ओर इतने बडे शहर मे अबादास का घर कैसे मिलेगा, इस विचार से घबराहट अलग। इससे पूछ उससे पूछ इसे कागज दिखा, उसको दिखा करते-करते वे दोनो शाम के समय अबादास के कमरे पर आ पहुँचे। अबादास और उसकी पत्नी सज-धज कर कही बाहर जाने की तैयारी मे थे। बहनोई को देखते ही अबादास के माथे पर सिलवटें पैदा हुई। अपने रिश्तेदारो को लेकर अडोसी-पडोसी क्या कहेगे ? इस विचार से शर्मिंदगी का भाव उसके चेहरे पर था। ऊपर-ऊपर से उसने स्वागत किया। भाभी गुस्से मे अंदर चली गयी। उसने सुभी को 'आइए' भी नही कहा। "राम-राम" दोनो हाथ जोडकर बिरू ने कहा, लेकिन अबादास ने सिर्फ 'हाँ' किया। बीरू को पता नही चल रहा था कि कहाँ बैठा जाये। उसने कम्बल नीचे डाल लिया और उसी पर बैठ गया। अंबादास का मुँह खट्टा-सा हो गया।

"पहले पत्र तो लिखना चाहिए था !"—अबादास ने कष्टपूर्वक कहा।

"अब कौन लिखना जानता है ? और हम भी कहाँ बहुत दिन रहने वाले हैं ? इसने कहा, बहुत देखने की इच्छा है भाई को। दो रात के लिए चलेंगे तो सोचा चले।"

"अब हम घर मे नही होते तो ?"—अंबादास।

"तो क्या ? रुके होते बाहर। नही तो पड़ोस मे बैठे होते। इसमें कौन-सी बात है ?"

इतने मे अंबादास की पत्नी बाहर आयी और बोली—"चलिए, ननद कर

लेंगी चाय । हमें देर हो रही है ।"

अंबादास झूठ-मूठ हँसता हुआ बोला—"हमने सुबह सिनेमा के टिकट खरीदे हैं, इसीलिए कहा, पहले पत्र भेजा होता तो हमने यह विचार नहीं किया होता ।"

"आप हो आइए न फिर ? मैं जरा लेटता हूँ । यात्रा से पोर-पोर में दर्द है । फिर आपका पता ढूँढ़ने में भी बहुत चलना पड़ा । अनाड़ी ठहरे हम लोग !"

दोनों बिना बोले चले गये । सुभी बाहर आयी ।

"कोई किसी का नहीं । शादी होने पर आदमी इतना बदल जाता है !" सुभी तिलमिला कर बोली ।

"क्यों ?" वह खटिया पर आराम से लेटता हुआ बोला, "क्या हुआ ?"

"क्या होगा ? हमारे आने का आनन्द जरा भी हुआ किसी को ? यह भाभी तो जरा भी नहीं बोली । चाय बनाकर पिलाने की बात तो दूर रही, सिनेमा की फिकर ज्यादा पड़ी थी उसको । अगर भाई कहता कि हम सब मिलकर जायेंगे सिनेमा देखने को तो क्या हमसे देखा नहीं जाता ?"—सुभी ।

"अब उनका तो पहले से तय था । मुझसे कह रहा था कि पहले कागज नहीं भेजा । मैंने कहा—आप जाइए सिनेमा देखने को । हमें उसमें क्या समझ में आएगा ? मैंने कहा, मैं लेटता हूँ ।"—बिरू ।

"लेकिन उसका भी कुछ है कि नहीं ? सिनेमा क्या फिर से नहीं देखने को मिलता ?"—सुभी ।

"कह रहे थे कि टिकट खरीदे गये थे । सच या झूठ, क्या पता !"

"अब तो नेह ही सूखा । यह मेरा भैया, पुणे से साड़ी लाया था । पाउडर का डिब्बा, रिबन और जब आपके साथ शादी तय हुई तो आबा से कह रहा था..."

"क्या कह रहा था ?"

"मेरी इकलौती बहन को अनाड़ी के पल्ले क्यों बाँध रहे हो ? पैसा जायेगा, लेकिन पढ़ा-लिखा लड़का देखेंगे ।"

"तो फिर ठीक ही है ! अपना बहनोई भेड़ों को पालता है, यह बात उसे ठीक नहीं लगी होगी । हमारी उससे क्या बराबरी !"

"वह कुछ ठीक नहीं है, अब एक बार रिश्ता जुड़ जाने के बाद । और वह क्या आसमान से टपका है या विलायत से आया है ?"

"लगती है किसी-किसी को लाज । अब उसके लिए क्या करेंगे ? फिर भी मैं तुमसे कह रहा था—क्यों जाएँ सम्बन्धी के यहाँ ? तो तुम्हें ही बहुत प्रेम हो गया था न ? मेरा भाई ! मेरी भाभी ! लो अब...।"

सुभी रोने लगी । सिसकने लगी ।

"मुझे क्या मालूम बाई ने इतना मुट्ठी में कर लिया है । उँगली पर नचा

रही है उसको। मुझे तो शादी में ही उसका चरित्र मालूम हो गया था। लेकिन मुझे लगा कि सुधरेगी, गृहस्थी जमाने पर। लेकिन कहाँ ? यह भी भड़ुआ नदी बैल की तरह गर्दन हिलाने लगा है। मैं और मेरी लाड़ी हाय रे हाय ! मेरी अम्मा और मेरे आबा का क्या होगा ?'

'अरी, इस तरह से चिल्लाने से क्या फायदा ?" वह समझाने लगा—"होता है यह जवानी में चार दिन, होगा खत्म सब।"

"क्या होगा ? आयेंगे ही नहीं उधर बस्ती में। बुढ़ापे में आबा-अम्मा को तकलीफ होगी। हम भी क्यों आये यहाँ ? पैसे भी खर्च हुए नाहक। आपकी धोती आती उतने पैसे में।'

'अरी नहीं आये होते तो क्या यह अनुभव मिलता ? देख ! वह जरा रोटी की गठरी खोल। मुझे बहुत भूख लगी है।"

मुझे उस घर में पानी भी नहीं पीना है। हम गरीब हैं, लेकिन हम भी आदमी हैं। उसकी बहन हूँ मैं, उसकी ननद। इतनी भी इन्सानियत जिनके पास नहीं है उनके घर में हाथ पर पानी क्यों डाल लूँ ?

'अरी लेकिन हम अपनी ही रोटियाँ तो खाने वाले हैं ? उसमें क्या है ?"

स्टेशन पर खायेंगे, यहाँ मत। पति को नकार उन्हें शर्म महसूस हो रही है··· चलिए अब हम जायेंगे वापस। स्टेशन पर रोटियाँ खायेंगे और जो मिलेगी गाड़ी, उससे वापस जायेंगे। हम मरे नहीं हैं उसके पाहुन बनने।" उसने रोटी की गठरी उठायी। फिर से ताला निकाला। सिर पर पगड़ी रखते हुए बिरू ने कहा—"अरी यह उनके लिए जो गठरी लायी हो, वह तो रखो वहाँ।" सुभी लड़खड़ायी। फिर किसी निश्चय से बोली "अजी कीचड़ से पानी हटा तो नहीं है, भाभी को आने दो न मेरे घर। किसी भी हालत में मैं तो उस पर प्यार की छाया ही करती रहूँगी। माँ कहा करती थी—माँ की गोद में लड़की की छाया और बहुरानी के जमाने में दरवाजे पर धूप की मुस्कान।' चलिए'—आँखें पोंछती हुई वह बोली।

ताला लगाकर और पड़ोस में चाबी देकर वे दोनों वापस लौट चले।

× × ×

सिनेमा देखकर लौटने पर ताला लगा हुआ देखा तो पड़ोस में पूछ-ताछ की। चाबी ली। बहन और बहनोई के लौट जाने की बात सुनकर अंबादास पत्नी से बोला "आखिर भैंसपाल की औरत ही ठहरी ! अच्छा हुआ, जो चली गयी। नाहक हमें शर्म से सिर झुकाने की नौबत आती।" पत्नी फुसफुसाकर हँसी।

× ×

सुभी और बीरू स्टेशन का रास्ता ढूँढ़ते जा रहे थे।

(अनु०—चन्द्रकान्त बांदिवडेकर)

पड़ोसी



राजेन्द्र बनहट्टी

जाड़े की कुहरिल प्रातः। पाँच-साढ़े पाँच का समय। रास्ते पर कुहरा लहरा ही रहा था। क्रमित एकाध मनुष्य, एकाध वाहन—आवागमन का बस इतना ही चिह्न मौजूद। दूध के बर्तनों का बीच-बीच में छलकना, पेपरवालों की एकाध ललकार—कुछ हिमजड़ित-सी, मफ़लरों में रुँधी हुई। बाक़ी प्रशान्तनगर का वह रास्ता सुस्त था—उजाले की रिसती ओस में भीगता हुआ, गीला-सा। समूची बस्ती ठिठुरती-सी और घर सोये हुए। नाइट-लैम्प अभी भी क्षीण रूप में जल रहे थे। कहीं-कहीं आवाज़ें, बँधी-सी, घुटी-सी, फ़्लश की, स्टोव की, नल की और बीच में ही किसी बर्तन के गिर जाने की—किंचित् कर्कश-सी।

रास्ता समाप्त होता है वहीं तीन-मंज़िली इमारत—'कल्प वृक्ष', वृक्षों से घिरी हुई। सामने बायीं ओर जामुन, दायीं ओर बकुल, पीछे कुछ और पेड़, अनाम, ठंडक से ठिठुरे हुए, लेकिन पेड़ों पर पंछी जाग गये थे। उनकी संमिश्र चहचहाहट की धूनी जल रही थी। धीरे-धीरे पेड़ों की विस्तारित डालियाँ 'कल्पवृक्ष' इमारत पर झुक गयी थीं इमारत के दोनों अंगों से चिपक गयी थीं। उन शाखाओं के मेहराब में आसमानी रंग की वह धुंधली इमारत प्रातः के धुँधलके में स्वप्नवत् दिख रही थी—प्रतिबिम्ब की तरह।

इमारत की तीसरी मंज़िल पर छः क्रमांक के फ़्लैट में चिम्बल गुरूजी मीठी नींद में सोये थे। राधाकाकी की चहल-पहल शुरू हो गयी थी। किचिन में उन्होंने गैस पर चाय का पानी रखा था। उनकी आदत पाँच बजे उठने की थी। आदत के मुताबिक उठकर वह धीरे-धीरे सुबह के काम में व्यस्त हो गयी थीं। चिम्बल गुरुजी यों तो हमेशा साढ़े पाँच बजे जाग जाते थे। जागना ज़रूरी था उनके लिए, सात बजे का स्कूल था। सबसे निपटकर डेढ़-दो मील स्कूल तक पैदल चलना था, इसलिए छह बजे घर से निकलना ही पड़ता था। लेकिन पिछले साल

भर से रिटायर होने के उपरान्त सुबह जल्दी उठने का सवाल ही नही पैदा होता था। आराम से वह कभी सात, तो कभी साढे सात बजे उठा करते थे। जाड़े की शीत मे तो कभी यह बेला भी टल जाया करती थी। लेकिन उसका सुख-दुख नही था। अब करना भी क्या था ? था भी क्या करने को ? पैंतीस वर्ष स्कूल में नौकरी हुई। बीजगणित के 'क्ष' वर्ग और 'य' वर्ग फलक पर लिखते-लिखते सिर के बाल और हाथ की उँगलियाँ सफेद हो गयी थी ! आँखो पर चश्मा आ गया था। पहले मे ही नाटे कद के नाना चिम्बल और अधिक झुक आये थे। कुछ फैले भी थे। पैंतीस वर्षों मे सामान्य अप्रशिक्षित माध्यमिक शिक्षक की हैसियत से ऊपर चढते हुए वह बी एड , एम. एड. होकर असिस्टेंट हेडमास्टर के ओहदे तक चढ गये। आखिर मे तो उन्हे स्वतन्त्र कमरा भी मिला था। कमरे के बाहर नामपट्ट था—काले पर सफेद—न गो. चिम्बल, असि. हेडमास्टर।

नाना चिम्बल ने समय काटने के लिए दो गणित की ट्यूशने पकडी थी। एक दसवी की, अपराह्न तीन और चार के बीच। दूसरी अपने ही घर मे, ग्यारहवी की, शाम को। एक अपग छात्र की। इसे नाना बिना पारिश्रमिक लिये करते थे, स्वान्त.सुखाय। सात बजे वह समाप्त कर नाना घूमने के लिए स्वतत्र होते थे। अपग को पढाने का अनाहूत सन्तोष अन्दर कहीं रिसता रहता था। उसी द्रवीभूत अवस्था मे नानाजी घूमने निकलते थे। सीधे गणेशजी के मन्दिर मे जाकर दर्शन करते थे। धीरे-धीरे चलकर वह मन्दिर मे पहुँचते। तब तक आरती का समय हो जाता था। आरती के बाद देवता के द्वार पर क्षण भर बैठकर नानाजी घर की ओर चले आते थे। पहली ट्यूशन के दो सौ रुपये घर आते थे, फिर पेंशन भी थी। घर मे दो ही तो व्यक्ति थे—राधा काकी और नाना चिम्बल। कोई दौड-धूप नही, हडबडाहट नही। फिर करना ही क्या था जल्दी उठकर ?

फिर शाम की डाक से ही डेट्रॉइट से नाना के इकलौते बेटे की चिट्ठी आयी थी। सुरेखित, मँजे हुए अक्षर। बचपन मे नानाजी ने ही घोट लिया था, इतना पढ गया, बडा हो गया। विदेश भी गया लेकिन बचपन के वे अक्षर वैसे ही रहे। इतने वर्ष पहले घोटे हुए वे अक्षर और वे भी हजारो मील की दूरी से आये पत्र के ! लेकिन कितने ताजा स्वच्छ, टके, मोतियो की लडी की तरह ! बिल्कुल नानाजी के ही अक्षर हो जैसे। उन्हे पढते हुए नानाजी अपने ही अक्षर पढ रहे थे। किसी पेटू की तरह अक्षर का आनन्द तो था ही अपनी जगह पर, लेकिन उस पत्र मे आनन्द देने वाली एक और खबर थी। फ्लैट के लिए लिये गये क़र्जे की आखिरी किस्त वह अगले हफ्ते मे भेजने वाला था बीस हजार की। उसको जमा करने पर वह पूरा फ्लैट उनका अपना हो जाने वाला था। फिर कोई कर्जा शेष नही रहेगा। सारा आर्थिक व्यवहार समाप्त होने वाला था। नाना पूरी तरह कर्जे से मुक्त होने वाले थे। केवल कर्जमुक्त ही नही, बेफिक्र, सम्पूर्ण मुक्त।

पत्र को पढ़ते समय नाना अभिभूत हो गये थे—सुख से, तृप्ति से। राधा काकी से उन्होंने कहा—"देखा! कष्ट कर बच्चे को पढ़ाया, लिखाया। उसने सारी उम्मीदें पूरी कर दीं।" राधाकाकी की आँखें भी कौतुक से फैल गयी थीं। जीवन-भर शिक्षक का पेशा किया, ट्यूशनें की, पेपरों के गट्ठर जाँचे, पहाड़-जैसे कष्ट उठाये, पाई-पाई जोड़ कर इकलौते लड़के को पढ़ाया। यहाँ मेटलर्जी में बी. ई. होने के बाद क़र्ज़ लेकर अमेरिका भेजा। वहाँ आम ढंग से शिक्षा पूर्ण कर लड़के ने नौकरी पकड़ी, बड़े वेतनवाली। इतना वेतन था कि नाना उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। पहाड़ जितना बड़ा वेतन! सैकड़ों डालर! याने कितने ही हजार रुपये! लड़के ने नाना को शहर के बीच की पुराने बाड़े की छोटी-सी जगह छोड़ने को बाध्य किया और नयी कोरी इमारत में यह सुन्दर, दर्शनीय फ़्लैट लेने को कहा—'कल्पवृक्ष' में। शाम को मन्दिर से लौटने पर लड़के का वह पत्र नानाजी ने कितनी ही बार पढ़ा होगा। रात को बिस्तर पर लेटने के बाद भी वह पत्र उनके सिर के पास था हो। सोने से पहले फिर उन्होंने एक बार उसे पढ़ ही डाला। पढ़ते-पढ़ते ही उनकी आँखों पर कृतार्थ होने का तंद्रिल बोध छा गया। पास में राधाकाकी बुदबदायीं, "अब अनिल का ब्याह करा दीजिए यहाँ आने पर। नहीं तो वहीं से ले आएगा किसी मेम को।" ऊँघते-ऊँघते राधाकाकी के शब्द कानों में पड़े तो नानाजी को उनींदी अवस्था में भी हँसी आयी, अस्फुट-सी; मजेदार, गुदगुदी पैदा हुई हो मानो। वही हँसी उनके गोल, ढीले चेहरे पर नींद में भी क़ायम थी। उनकी आँखें बन्द हो गयी तो वह गर्म-सी हँसी उनके चेहरे पर से पूरे शरीर तक फैल गयी। उस हँसी की मुलायम दुलाई में लिपट कर नाना सो गये—शरीर पर लिये, गर्म कम्बल के नीचे। पेट से पैर सटाकर, छोटे बच्चे की तरह; गाढ़ी नींद, निश्चिंत परिपूर्ति की, सफलता की।

रात बीत गयी। दिन अधखुला-सा हो आया। बाहर के कमरे में घड़ी में साढ़े पाँच की घण्टी बजी और ठंड से ठिठुरी उस निःशब्द इमारत में अचानक आवाज गूंजने लगी, झाँझ की तरह—"नहीं···नहीं···मत करो···ऐसा मत करो···"

उस इमारत के चारों ओर का ठंडा, महीन, स्तब्ध कोश चीरती हुई वह चीख उछली, यातनामयी-सी। चार ही शब्द थे वे—लेकिन उन चार शब्दों से कुहरे में घुलने वाली उस प्रातःवेला पर भयावह थरथराहट पैदा हुई। वह इमारत थरथरा उठी जैसे बिजली ने धक्का दिया हो। एक ही बार। फिर दूसरी कोई आवाज नहीं। सिर्फ़ उतने ही चार पागल शब्द, फिर निद्रित नीरवता। वैसा ही सब जैसा था, पहले की तरह। नाना हड़बड़ाकर जग गये। राधाकाकी किचन से आवष्टिक-सी बाहर आयीं। बेडरूम के दरवाजे पर ठहर गयीं। नाना चौंककर उठ बैठे थे, धोती उनकी रानों के पास सिमट आयी थी, उसे नीचे करने का भान उनको नहीं रहा। पलंग पर ऐसे बैठे थे जैसे कि स्वप्न में ही जाग गये हों।

मूढ़, निश्चल, घनी सफ़ेद भौंहों के नीचे पीली निस्तेज आँखें, घूरती-सी। नीचे वाला ओंठ लटक गया था। उन्हे न कुछ दिख रहा था, न समझ में आ रहा था। पता नही चल रहा था कि कहाँ थे। आभास था या स्वप्न ? किसकी चीख थी ? कौन चिल्लाया था इतने प्राणपण से, आक्रोश करते हुए ! बाँबी फूटकर मानो नींद की चीटियाँ नाना के सिर मे चारो ओर तितर-बितर होकर दौड़ने लगी। विद्यर दिमाग़ धीरे-धीरे पिघलने लगा। धीरे-धीरे उनकी आँखों मे भय छा गया। दरवाज़े पर राधाकाकी की शक्ल दिखाई दी।

"क्या हुआ ? क्या हुआ ?"

"कोई चीखा था।"

"कौन ? कौन चीखा ?"

"उधर से जामदार की तरफ़ से आवाज़ आयी थी।"

"जामदार की तरफ़ से ?"

"जी हाँ, मिसेज़ जामदार की आवाज़ थी।"

"लेकिन हुआ क्या ? इतनी भयावह आवाज़ ?"

बात करते हुए नाना उठे। उनका दायाँ पैर ज़रा कमज़ोर था। घुटना दर्द करता था। विशेषतः सोकर उठने के बाद थोड़ी देर तक पैर टिकाया नहीं जाता था। फिर भी उसे वैसे ही खीचते हुए लँगड़ाते-लँगड़ाते वह बाहर के दरवाज़े के पास गये। पल्ला पैर मे लटक रहा था। राधाकाकी पीछे-पीछे। नाना ने दरवाज़ा नहीं खोला। उनका हाथ ऊपर बोल्ट के पास गया, फिर नीचे आया। आई-पीस से उन्होने देखा। उधर दस-पन्द्रह फुट पर जामदार के फ़्लैट का दरवाज़ा बन्द था। नानाजी ने आँखों से टोह ली, दरवाज़ा पक्का बन्द था। न कोई आवाज़ थी, न किसी तरह की चहलपहल। ज़ीने की लैंडिंग पर दरवाज़े के सामने जीरो पावर का पीला मंद-सा प्रकाश फैला हुआ था। उस क्षीण प्रकाश में जामदार के ब्लॉक का काका शीशम के डिज़ाइन का फ़्लश दरवाज़ा तटस्थ था। बिल्कुल तटस्थ। शायद आभास रहा होगा ऐसे प्रातः के ब्रह्ममुहूर्त में क्यों कोई अभद्र ढंग से चीखेगा ? तिस पर भी जामदार बाई क्यों चीखेगी ? ऐसे असमय में ? राजा-रानी की सुखमय गृहस्थी है। पति अच्छी कम्पनी में आफ़िसर है, बाई भी अच्छे स्वभाव की, न तीन में न तेरह मे। बस, अपने घर से मतलब रखती है। दोनों प्रौढ़ हैं। बड़ी लड़की का पिछले साल ही विवाह हुआ है। छोटा लड़का सतारा में है, पढ़न के लिए। जामदार भी स्वयं मितभाषी है। न माधो का लेना, न ऊधो का देना। न अनावश्यक दखल, न किसी के पास अधिक आना-जाना। निचली मंज़िल में रहने वाले राणा आर्किटेक्ट के साथ कुछ सम्बन्ध है। अन्यत्र कहीं भी जाना-आना नहीं। ज़ीने पर कभी भेंट हो जाये तो ज़रा-सा मुस्करायेंगे बस ! एकाध शब्द बोलेंगे, लेकिन इससे अधिक पूछताछ नही। सोने की गृहस्थी। फ़्लैट

का दरवाजा सदैव बन्द। घर में रहकर भी वहाँ रहने का आभास नही। बाहर जायें तो भी दरवाजा बन्द, घर में हो तो भी बन्द।

नानाजी कितनी ही देर तक आई-पीस से देखते रहे थे। दो-एक मिनट हुए होंगे। लेकिन उनकी आँख दर्द करने लगी, पानी चूने लगा। आँख को धोती से पोंछते हुए वह मुड़े। राधाकाकी उन्ही से सटकर खड़ी थी, एड़ियो को ऊँचे उठाये।

—"तुमने सुना कुछ?" नाना बुदबुदाये।

"हाँ, और क्या? चाय का पानी रखा था। उबलने की प्रतीक्षा थी कि जोर की चीख सुनाई दी। मै तो डर ही गयी। दौडती हुई आपके कमरे में आयी। मुझे लगा···"

तभी बाहर चहलपहल का आभास हुआ, नाना ने उँगली से काकी को खामोश किया और फिर से आई-पीस से देखा। लेकिन जामदार का दरवाजा बन्द ही था। हट! बुढापे मे कुछ ऐसे गलत-सलत भ्रम होते होंगे। नानाजी आँख को हटाने ही वाले थे कि जामदार का दरवाजा खुल गया—फिसलता-सा, निःशब्द। नाना के पेट मे कढा-सा पैदा हो गया। प्राण आँखो मे समा गये। अन्दर से आने वाले ट्यूब के प्रकाश की चौंध मे जामदार दिखाई दिये। आईपीस मे उनकी पाजामा-शर्ट पहनी मजबूत, भरी हुई देह क्षणभर के लिए वक्राकार हुई, दरवाजा धकेल कर दूसरे ही क्षण जामदार जीना उतर आये। काले घने भरपूर बालो वाला उनका चौकोना माथा आईपीस मे गोलाकार-सा झलक कर अदृश्य हुआ। फिर सामने कालास्याह बन्द दरवाजा। नाना और राधाकाकी एक-दूसरे की ओर देख रहे थे, आँखो मे खोजते हुए। राधाकाकी के सफेद झोंटे कपाल पर लटक रहे थे, आँखें सहमी-सी, हक्की-बक्की। लेकिन भय म भी अनि उत्सुकता थी। नाना के बाल बिखरे हुए, चेहरा थका हुआ, मस्त, चकित। नीद टूटने पर उसके टूटने का कारण न जानने के कारण। वह आज गाढी नीद मे थ, सात तक उठने वाले नही थे। नीद की सुस्ती आँखो से तैर रही थी। उसी के साथ बिना वजह नीद उखड़ने के कारण पैदा हुई चिढ और आश्चर्य।

"क्या हुआ?" राधाकाकी के ललचाये शब्द उमड पड़े।

"कुछ नही।"

"दरवाजा खुला था न उनका!"

"जामदार नीचे गये।"

"फिर पूछा क्यो नही?"

"काहे को?"

मतलब?

"इतनी बडी चीख···"

"कहने लायक़ कुछ होता तो उन्होंने कहा होता। यहीं तो थे हम।

"मैं जाके पूछूं?" राधाकाकी से रहा नहीं जा रहा था।

"किससे?"

"जामदार बाई से?"

"ना!"

"क्यों?"

"अरी, अपने-आप पता चलेगा—कुछ बात होगी तो।" नाना ने पैरों में झूलते पल्ले को हाथ पर लिया। अन्दर जाने को मुड़े। "लेकिन मैं कहती हूँ—कुछ सहायता चाहिए हो तो हमें देनी नहीं चाहिए?" राधा काकी ने चीमड़पन से पूछा।

"अरे, बतायेंगे न वे अगर मदद चाहते होंगे तो? नहीं चाहिए उन्हें मदद। नही होगा विशेष कुछ। कहीं मामूली-सा लगा होगा। कहीं पैर फिसल कर गिरी होंगी, मोच-वोच आयी होगी। तुम चलो, चाय का इंतज़ाम करो। मैं आ ही रहा हूँ।" पल्ले को कन्धे पर रखकर नाना बाथरूम की ओर गये।

किचन में राधाकाकी चाय बनाने लगीं। अपने में ही बुदबुदाने लगीं—'पैर में मोच आने पर कोई ऐसे चीखता है? प्राण निकल रहे हों जैसे? दहशत-भरी आवाज़ में? ज़रा पूछताछ की जाये तो क्या बिगड़ता है? लेकिन आदमी के प्रति लगाव ही नहीं है स्वभाव में, इतने वर्षों से देख रही हूँ। दूसरे की ओर देखेंगे ही नहीं कभी सहानुभूति से…'

राधाकाकी का स्वर स्वगत नाना को सुनाई नहीं दिया। वह सुबह के कार्य से निपट रहे थे। पहले बेसिन के पास जाकर कुल्ला करना, फिर दाँत निकाल कर साफ़ करना, बचे-खुचे दो-चार दाँत मंजन से साफ़ करना। इतना सब होने पर उन्होंने चेहरे पर पानी छिड़क कर तौलिये से पोंछा और बेसिन पर आईने में देखा। आज दाढ़ी बनानी है! गाल पर भी हाथ फेरा। गाल पर शिथिल सख़्त त्वचा में सफ़ेद-से खूंटे उगे थे। असल में दाढ़ी का दिन कल था, लेकिन कल अलसाये थे। ठंड के कड़ाके मे दाढ़ी बनाना जान पर बन आता है। अब इस ढलती उम्र में नीचे लटकने वाले गालों पर उगी दाढ़ी को साफ़ करना बड़ा कठिन होता है। लेकिन आज दाढ़ी बनानी ही पड़ेगी। आज नहीं बनाऊंगा तो कल तो बनानी ही पड़ेगी, कल नहीं तो परसों तो बनानी ही होगी। फिर आज स्कूल की लाइब्रेरी में भी तो बैठना है। दो घंटे तो बैठना ही होगा। स्कूल का हीरक महोत्सव चार महीनों पर आ गया है। नाना चिम्बल पर स्कूल के इतिहास को लिखने का काम सौंपा गया है। हीरक महोत्सव समिति की स्मारिका में वह सारा भाग छपवाना है। नाना पुराने सेवानिवृत्त शिक्षकों में से एक थे। स्कूल की ईमानदारी से सेवा की थी उन्होंने। फिर व्यवस्थाप्रिय, अनुशासन से बँधे हुए, समय-सारिणी के अनुसार काम करने वाले नानाजी पर काम सौंपा जाय, तो वह कुआ

ही समझिए ! वह भी समय से पहले और ढंग से। इसलिए नानाजी के गले यह इतिहास-लेखन की ज़िम्मेदारी पड़ना स्वाभाविक ही था। कोई काम खुद अपनी ओर से नाना माँगते नहीं थे। लेकिन काम सिर आ पड़ने पर अस्वीकार भी नहीं करते थे। यही नानाजी का स्वभाव था। इसलिए समिति का दिया हुआ काम स्वीकार करना ही स्वाभाविक था। अब उसके लिए हफ़्ते में तीन बार स्कूल के वाचनालय में बैठना पड़ता था। आज लाइब्रेरी में जाने का दिन था। लाइब्रेरियन हिवाले बाई परिचित थीं, इतने वर्षों का परिचय ! फिर भी दाढ़ी के तीन-तीन दिन के खूंट लेकर उनके सामने जाना उचित नहीं था—इतनी उम्र में भी, साठ पार होने पर भी। आख़िर पुरुष, पुरुष है और बाई, बाई। हिवाले बाई पचास की थीं और नाना साठ को पार कर चुके थे। तो क्या हुआ ?

नाना के चेहरे पर अस्पष्ट-सी स्मित खिल गयी। वैसे ही वह धोती के पल्ले से हाथ पोंछते हुए डाइनिंग टेबल के पास गये। राधाकाकी ने चाय का कप सामने रखा। कप से उठने वाली भाप नाना के चेहरे पर छीज रही थी। आदत के अनुसार उस भाप पर नानाजी ने हथेलियों को सेंक लिया। गर्म कप की किनार गाल को लगायी।

"मैं ज़रा नीचे होके आती हूँ।"

"नीचे ?"

"हाँ, बनूबाई के यहाँ।"

"अभी ?"

"उनसे ज़रा पूछ कर आती हूँ।"

"क्या ?"

"यही—जामदार बाई के बारे में।"

"अरी, इतनी जल्दी क्या है ? होगा मालूम आराम से !" नानाजी ने चाय का घूंट लेते हुए कहा।

"ना भई, अभी भी वह चीख स्मरण में आने पर शरीर में काँप उभरता है। कुछ ऐसा-वैसा ही हुआ लगता है। कुछ सूझता ही नहीं।" राधाकाकी ने थर्राते हुए कन्धे उचकाये।

नाना कुछ नहीं बोले। धीरे-धीरे फूंक मारकर उन्होंने चाय समाप्त की। चाय की गर्म तलब ठण्डे शरीर में फैलती गयी और ओंठ और जीभ सुखद रूप से जल गये थे।

राधाकाकी ने चाय के बर्तन समेटे और बेसिन में रख दिये।

"मुझे आज लाइब्रेरी में जाना है। कुछ खाकर ही निकलूंगा। शायद लौटने में देरी हो। तुम ऐसा करो, मेरे चले जाने के बाद ही वहाँ हो आना।" नाना ने कप बेसिन में रखा। वह बाहर के कमरे में गये। पेपर दरवाज़े से अन्दर

सरक आया था, ऊपर-ऊपर से उस पर नज़र डालकर नानाजी ने उसे सिपाई पर डाल दिया। कैलेण्डर रिफिल की तारीख़ बदलकर वह चहलक़दमी करने लगे। बाहर कहीं भी कोई आवाज़ नहीं थी। हमेशा की भाँति सारी आवाज़ें थीं, न प्रतीत होने वाली, आदत की तरह। दरवाज़ों की टकराहट, सीढ़ियों पर पैरों की धड़धड़ आवाज़ें, आवाज़ ही—और कुछ नहीं था। हर दिन की भाँति वह भी दिन था—शान्त, मन्द, अनजाने उलटने वाला। तारीख़ बदली थी, इसलिए दिन भी बदला था। बस, इतना ही ! बाक़ी सब वैसा ही साँचे में बँधा, रेंगता हुआ-सा। पाँच-दस मिनट चहलक़दमी करने के बाद नाना लैटरीन की ओर गये। पहले से उन्हें ज़रा देर होती थी। जागने के तुरन्त बाद लोटा लेकर दौड़ने वालों में से वह नहीं थे। मुँह धोकर चाय वग़ैरा लेने के बाद अख़बार पर नज़र डालने पर उनकी आँतें कुलबुलाना शुरू होती थीं—धीरे-धीरे बद्धकोष्ठ—डिस्पेप्सिया। अनेक नाम डॉक्टरों ने दिये थे। दवाइयाँ भी होती थीं बीच-बीच में। लेकिन देहधर्म बदलता नहीं था। नाना का तो कुछ बिगड़ता नहीं था देर होने से। स्कूल सुबह होता था तो ज़रा जल्दी उठना पड़ता था। बस ! अब उम्र होने पर सभी आँतें, स्नायु ढीले पड़ते जा रहे थे। पहले से दुगुना समय लगता था। विलम्ब ही नानाजी के शरीर-धर्म की आदत बन गया था।

नाना लैटरीन में थे तभी बाहर साइरन का दीर्घ कँपकँपाता रुदन-स्वर निकला। एम्बुलेंस। राधाकाकी दौड़ती हुई गयीं। बाहर का दरवाज़ा खोलने की आवाज़ आयी। बाहर सीढ़ियों पर दरवाज़ों के खुलने, बन्द होने की ध्वनियाँ—कदमों की आवाज़ें—घुटते हुए शब्द। '…सावधानी से……सँभलकर…ऊपर पकड़ो…!' चहल-पहल। एकदम हड़बड़ाहट, दबी हुई, घुटी हुई। दो या तीन मिनट के लिए। फिर साइरन दूर-दूर जाते हुए विलुप्त हुआ, रेखा के खिचाव की तरह, आड़ी-तिरछी ही धूमिल होती गयी। अब रह गयी थी फ़्लैट के बाहर दरवाज़े के पास राधाकाकी, वनुताई और नीचे वाली राजेबाई की खुसुर-पुसुर, दुख और करुणा के आश्चर्य से स्पंदित होने वाली, बीच में ही बड़ी, बीच में ही छोटी, बीच में ही फूलने वाली, बीच मे ही संकुचित होने वाली। सब तो नानाजी नहीं समझ रहे थे जो बन्द दरवाज़े की आड़ में थे। बीच में ही बनूताई का एकाध ऊँचा बारीक शब्द सुनाई पड़ रहा था। बाहर आवाज़ों का नाट्यमय नाट्य चल रहा था लेकिन नाना उसे देख नहीं पा रहे थे, न ढंग से सुन ही पा रहे थे। देह-धर्म से वह जकड़े हुए थे। फिर स्वयं ही सब-कुछ देखने-सुनने की हविस काहे को ? राधाकाकी से तो पता चल ही जायेगा। समूचा, इतना कि जितना आवश्यक है, फिर जल्दबाज़ी क्यों ? नाना शान्त रहे। उपयुक्त समय पर नानाजी ने लैटरीन का दरवाज़ा खोला, बन्द किया। उस आवाज़ से बाहर की खुसुर-पुसुर अपने आप बन्द हो गयी। बेसिन में हाथ धोकर तौलिये से पोंछते हुए नाना बाहर के

कमरे में आ ही रहे थे तो भी राधाकाकी ने बाहर का दरवाज़ा बन्द कर दिया। वे जड़ीभूत-सी खड़ी थीं। नानाजी को देखते ही बोल उठीं—

"जामदार बाई जल गयीं।"

"जल गयीं?"

"हाँ! अस्पताल में ले गये उनको। एम्बुलैंस में। जामदार और राजे ले गये हैं। साथ में डॉक्टर नेने भी हैं।"

नाना हकबकाये-से राधाकाकी की ओर देखते रह गये। हाथ का तौलिया तिपाई पर बीच में ही गिर गया। वे वैसे ही खड़े थे—। मूक राधाकाकी के शब्दों का अर्थ दिमाग़ में पूरी तरह सोखने की प्रतीक्षा करते हुए। बीच में ही जाग जाने की भाँति झट से उन्होंने पल्ला हाथ में लिया। गीले हाथ पोंछते हुए बोले, "इतनी जल गयी?" उस एक प्रश्न के साथ राधाकाकी के शब्द धड़ाधड़ बाहर आकर गिरने लगे—जैसे दीवार में छेद पड़ गया हो—

"बनूताई बता रही थीं—समूची देह जलकर काली, लाल हो गयी थी। अभी ले गये उन्हें। बनूताई ने देखा। देह पर त्वचा का नामोनिशान नहीं है। मांस लटक रहा है। सिर के बाल तो सब जल गये, तालू दिखती है सिर्फ़।"

साँय-साँय करती हवा में काँपते पेड़ की तरह नाना झुके। अपने आप कोच पर बैठे। राधाकाकी आगे आयी। तिपाई के पास। लेकिन उनका बोलना बन्द नहीं हुआ। आँखें केवल तरेरी हुई। अन्दर की दहशत आँखों से उँडेल रही थी। "लेकिन ऐसा कैसे हुआ? कैसे हुआ होगा? इतनी कैसे जली?" नाना अपने से मानो बोल रहे थे। ऐसे शीन के समय। प्रातः आरती के समय कोई कामकाज वाली स्त्री, नखशिख जल जाती है! इस अघटित घटना का अर्थ ही उनके सामने खुल नहीं रहा था। इतनी प्रौढ़ महिला, इतने सारे वर्षों तक गृहस्थी चलायी, कैसे जली? इतनी विचित्र विपद्? गैस भड़क गयी और जल गयीं जामदार बाई। साढ़े पाँच बजे दूध-केन्द्र से बोतलें लेकर आयी थीं। जामदार सात बजे फैक्टरी जाने के लिए चल पड़ते हैं। उनकी कम्पनी की बस आती है—सवा सात बजे मेन रोड पर। स्नान, ब्रेकफास्ट, चाय लेकर वह चल पड़ते हैं। बाई बोतलें लेकर आयीं। जामदार जी ने दरवाज़ा खोला और वह स्नान के लिए गए। बाई किचिन में गयीं। गैस खुली थी शायद। तीली जलायी तो एकदम आग भड़की, कपड़े जल गये, बाल जल गये। वे वैसे ही दौड़ीं, ढंग से चिल्ला भी नहीं सकीं। समूचे कमरे में आग, लपटें ही लपटें! आवाज़ आयी तो जामदार बाथरूम से बाहर आये—उन्होंने देखा तो बाई जल रही है। हाथ पटक रही है। उन्होंने पानी की बाल्टी लाकर शरीर पर उँडेल दी। वह पहले ही चीखी—'ना···ना···मत करो···' और पानी में गिर पड़ीं तो उठीं ही नहीं।

साँस लेने के लिए राधाकाकी रुकीं। उनका झुर्रियोंदार पतला पेट काँप रहा

था। अन्दर का उबाल आँखों के पास आकर अटक गया था। चेहरा रुआँसा, एक ओर से विचित्र अस्त-व्यस्त।

नाना नीचे देख रहे थे। तिपाई पर रखे पेपर की ओर। राधाकाकी की फुसफुसी हालत उनके ध्यान में नही आयी। राधाकाकी से खड़ा नही रहा गया। अनजाने वह एकदम कुर्सी पर बैठ गयी।

"लेकिन पानी···पानी कैसे उंड़ेला ? गर्म कपड़े मे लपेटना था।"

नाना की बात पूरी होने मे पहले ही राधाकाकी हुचक कर रोने लगी। नाना ने चकित होकर ऊपर देखा। वह स्थान पर से उठे। राधाकाकी ने चेहरा आँचल मे छिपा लिया था। उनके रुआँसे शब्द बाहर निकले—"डॉक्टर ने कहा कि ठीक किया—राइट थिंग !" राजेबाई कह रही थी—"यह क्या ? डॉक्टर ने कहा न, ठीक है फिर यह क्या ?" उन्होने राधाकाकी की थरथराने वाली पीठ पर हाथ फेरा। बहुत वर्षों के बाद उन्होने इस तरह पीठ पर फेरा था। राधाकाकी के रोने के प्रसंग भी बहुत कम आये थे। नानाजी की याद मे तो बहुत ही कम थे। नाना जी के सामने ऐसे प्रसग नही आये थे। राधाकाकी की पीठ का स्पर्श नानाजी को विचित्र-सा लग रहा था। शुष्क-खुरदरा, नानाजी दो बार चकित हुए थे। एक बार जामदार बाई के जलने पर। दूसरी बार राधाकाकी के इस तरह रोने पर। इतना कहाँ परिचय था जामदार बाई के साथ ? यहाँ आकर ही हुआ होगा, कुल साल डेढ़ साल। पता नही, इतने मे पाँच-दस बार भी जामदार बाई आयी थी कि नही राधाकाकी के पास। कहाँ इतनी दाँत-काटी रोटी थी दोनो के बीच ? बनूताई के साथ थी, राजेबाई से भी कुछ अधिक पहचान थी। जामदार बाई से सिर्फ़ सामान्य-सी जान-पहचान ही थी। जामदार एवं जामदार बाई कहाँ थे मिलने-जुलने वाले ? बाई को तो कही जाकर गप्पे मारते हुए भी नाना ने नही देखा था। राधाकाकी के पास वह आयी थी, लेकिन किसी निमित्त से। नाना को नही याद आ रहा था कि वह कभी गपशप करने आयी हो। वैसी थी ही नही वह बाई। हट्टी-कट्टी, स्थूल, उग्र, पथरीले चेहरे की उस बाई को नाना ने कभी-कभार सीढ़ियों से आते-जाते देखा अवश्य था। शाम को दोनों नियमित रूप से घूमने जाते थे। आगे-आगे जामदार, पीछे-पीछे बाई। रविवार को सुबह थैलियाँ लेकर खरीद-फरोख्त के लिए जाया करते थे। सीढ़ियों पर भेंट हो जाए तो जामदार मुस्करा देते थे, बाई कभी मुस्कराई भी नही थी। बोलना तो दूर की बात थी। उसका चेहरा बन्द-सा। शरीर के इर्द-गिर्द आँचल लिपटा हुआ। एक ही बार नाना और राधाकाकी जामदार के यहाँ जलपान पर गये थे। लड़की का विवाह पिछले साल रजिस्टर पद्धति से किया था, तब। इमारत के सभी लोगों को निमंत्रण था तो नाना को भी था। लेकिन उस समय भी बाई कहाँ बोली ! बस, सब-कुछ सीमित-अनुशासित। नानाजी को तो नाम भी नही मालूम था अभी !

कम-से-कम उस क्षण तो याद नहीं आ रहा था। शायद राधाकाकी को मालूम भी हो। लेकिन क्या यह इतना लगाव ? कोई सम्बन्ध नहीं है—फिर इस तरह क्या रोना-धोना ? इस तरह जैसे कहीं एकदम झरना-सा पैदा हो ? नानाजी समझ नही पा रहे थे। जामदार लोगों को हम तो नही लाये थे न वे अपने लोग थे। न रिश्ते के, न व्यवसाय से सम्बन्धित, न किसी प्रकार का अनुबन्ध ही था उनसे। जैसे हम आये और लोग आये, वैसे जामदार भी आये, बस। हम संयोगवश एक-दूसरे के सामने रह रहे हैं। सम्बन्ध होगा तो बस इतना ही।

राधाकाकी की शुष्क पीठ का स्पर्श नानाजी को अनचाहा-सा लगा। उन्होंने हाथ उठाया। वह सामने के कोच पर बैठे पराये की तरह।

कितने सुन्दर, काले स्याह, लम्बे, घने बाल थे उस बाई के ! सारे जल गये। ऐसा कैसे हो गया बेचारी का ?···राधाकाकी ने चेहरा ऊपर उठाया। आँचल से पोंछा। साँवला चेहरा गीज गया था, आँखें सूजी थीं, नाक सुरसुरा रही थी, लाल हो गयी थी। वह बूढ़ा, रुआँसा, दयनीय, विद्रूप चेहरा नानाजी से देखा नही जा रहा था। राधाकाकी व्याकुलता से उमड़-उमड़कर बोले जा रही थी—

"कितनी शान्त थी बेचारी। न किसी के लेने में, न देने में। मेरे यहाँ आया कभी तो इतनी शान्त और समझदार लगती थी ! न किसी को दोष देती थी, न शिकायत करती थी।"

"अरी, वह ठीक हो जायेगी अब। तुम तो ऐसे बोल रही हो···।" नानाजी को लगा वे औपचारिक ढंग से बोल रहे है। अब कैसे ठीक होगी, इतना कुछ होने पर ! ओंठ मोढ़ती हुई राधाकाकी उठीं और सिसकती हुई अन्दर चली गयी।

नाना चिम्बल दस बजे स्कूल जाने के लिए निकले। धोती, कोट, टोपी, हाथ में थैली, थैली में नोटबुक, जेब मे पेन, सारा इन्तज़ाम ठीक-ठीक। इमारत की सीढ़ियाँ उतरते हुए उन्होंने टोह ली। जामदार का दरवाज़ा बन्द था। बन्द तो होना ही था। वैसे वह हमेशा बन्द ही रहता है। इस समय तो और कुछ हो ही नहीं सकता था। अन्य फ़्लैटों में भी कुछ विशेष नही दिख रहा था। कहीं उद्वेलन नहीं था। नित्य का कामकाज चल रहा था। भोजन की तैयारी, ऑफ़िस को जाना, बच्चों का स्कूल जाना इत्यादि। कही भी विशेष फेरबदल, उत्कण्ठा, प्रतीक्षा का अहसास नानाजी को न हुआ। सुबह इमारत में कुछ घटित हो गया था, इसका नामोनिशान कहीं नहीं दिख रहा था। नानाजी के मन में धुँधली अपेक्षा थी कि कोई मिलेगा, बोलेगा, प्रातः के आघात के बारे में कुछ बोलेगा, जानकारी देगा। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। वह सीधे सीढ़ी-दर-सीढ़ी नीचे, धीरे-धीरे उतरते हुए फ़्लैटों के पूरे, खुले, अधखुले, भेड़े हुए दरवाज़ों को देखते हुए नीचे उतरे। लेकिन न उन्हें कोई मिला, न कुछ बात हुई। नाना वैसे ही रास्ते पर आये और चलने लगे।

स्कूल की लाइब्रेरी में दो घण्टे काम कर साढ़े बारह के आसपास नाना घर लौटे। दो घण्टे अच्छा काम हुआ था। बहुत हुआ था, मन के मुताबिक हुआ था। उसी सन्तोष में नानाजी इमारत की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। अधिकतर फ़्लैटों के दरवाज़े बन्द ही थे। सुनसान दोपहर, अलसायी-सी। सब ओर सुनसान। हमेशा की तरह। अपनी ही तन्द्रा में नानाजी जीना चढ़ गये। हमेशा की तरह धीमी गति से। विचारमग्न। किये गये काम का विचार। शेष काम की योजना। राधाबाई ने दरवाज़ा खोला तो उनके चेहरे की ओर उनका ध्यान भी नहीं गया। राधाबाई दरवाज़े के पास रुकी नहीं। नानाजी के अन्दर आते ही दरवाज़ा बन्द कर वह किचन में गयीं। नानाजी की थाली परोसना उन्होंने शुरू किया। कपड़े निकालकर, हाथ-पैर धोकर नैपकिन से मुँह पोंछते हुए नाना डाइनिंग टेबल के पास आये। राधाबाई उनका खाना परोस रही थीं, उनका चेहरा नीचे झुका हुआ था। नानाजी स्वाद लेकर ढंग से भोजन करने लगे। अब तो कुछ विशेष काम रहा भी नहीं था। पिछले दस वर्ष का रिकार्ड देखना है। मैरिट लिस्ट के एवं ख्यातिप्राप्त छात्रों की सूची बनानी है। उनमें से चुनीदा लोगों की तस्वीरें प्राप्त करनी होंगी। उनके वर्तमान पते प्राप्त करने होंगे। मतलब अभी बहुत काम करना है। छोटी-छोटी बातें ध्यान में नहीं रहतीं। उनकी नींद आवश्यक है। नानाजी ने भात समाप्त किया, राधाकाकी ने उनके थाल में चपाती डाल दी।

"जामदार बाई चल बसीं।"

नानाजी ने एकदम ऊपर देखा। चपाती का टुकड़ा वैसे ही हाथ में रहा। पहले उनके चेहरे पर कुछ समझ नहीं झलकी, अज्ञान में उनका मुँह खुला रह गया।

"ऐं? कौन?"

"जामदार बाई।"

"चल बसी?"

"हाँ, सुबह ही।"

"ओह! भगवान्!!"

नानाजी ने हाथ से चपाती को मसल दिया।

"अस्पताल में ले गये न? फिर घण्टे भर में ही सब-कुछ खत्म हो गया। मुक्त हो गयी बेचारी।"

राधाबाई ने नानाजी की थाली में भाजी परोस दी। उनका चेहरा यथावत् था; काला-साँवला, लम्बा, शुष्क, शिथिल। आँखें भी नित्य की तरह। कुछ संकोची, तंग और शुष्क। उनमे पानी नहीं था, ओठों की थरथराहट नहीं थी। बाल सँवारे हुए थे, जूड़ा बँधा था। कपाल पर ठोस कुंकुम का तिलक। हर चीज़ हर दिन की तरह। मतलब जामदार बाई के चले जाने का ज़रा भी दुख इसे नहीं है! सीधे शान्तिपूर्वक बता रही है उसके मर जाने के बारे में। ऊपर से कह रही

है—मुक्त हो गयी बेचारी। फिर सुबह का वह रोना-धोना, आँखों में पानी ? वह सब किसलिए था ! नाना असमंजस में पड़कर बोले—"मुक्त हो गयी ?" "हाँ, मुक्त ही हो गयी, नहीं तो और क्या ? इतनी जली थी कि जिन्दा रहती तो कितना कष्ट होता ? जलने का दुख कम थोड़े ही होता है !" टेबल पर हथेलियों को रखकर राधाकाकी खड़ी थीं। उनके चेहरे पर दुख का नामोनिशान नहीं था। अगर कुछ था, तो निश्चिन्तता, संतोष था, एक तरह का अबूझ सन्तोष ! नानाजी को यह सब मनोरंजक लगा। सुबह यह जो फफक-फफक कर रो रही थी, अब शान्त थी, जैसे कुछ हुआ ही न हो। उनसे रहा नहीं गया।

"अरी, सुबह इतना दुख हुआ तुम्हें। रोयी थीं तुम। अब देख रहा हूँ कि शान्ति से कह रही हो कि वह चल बसी। आश्चर्य है यह !"

राधाकाकी को नानाजी की बात पर आश्चर्य हुआ और आँखें फैलाकर उन्होंने कहा, "ऐसा क्यों कह रहे हो ? सुबह वह बाई के जल जाने की भयंकर खबर सुनी और रहा नहीं गया। भर आया आँखों में पानी। उसकी यातना को सुनकर।"

"अच्छा ! मतलब उसके जल जाने का दुख है, लेकिन मरने का नहीं ? तुम भी कमाल करती हो।" दाल को गुड़कते हुए नानाजी ने गर्दन हिलायी।

"मरने का दुख क्या करना ? वह क्या मेरी कोई रिश्तेदार थी ? हमारी तो ठीक से पहचान भी नहीं थी।" पनीली का भात राधाकाकी ने कलछी से उकेड़ा, ज़रा गुस्से में ही।

"मतलब ?"

"आदमी मरे तो मरे, लेकिन ऐसे नहीं।"

"हाँ, यह तो ठीक है। लेकिन क्या वह अपने हाथ में है ?"

"मनुष्य को चाहिए कि वह मरने के बाद जले, पहले नहीं।"

"हाँ-हाँ, लेकिन इसमें उसका दोष क्या है ? यह तो बताओ।"

"उसी का है।"

"उसका है ?"

"फिर किसका ? इतने दिन गृहस्थी चलाने वाली। खाना बनाने वाली वयस्क महिला। क्या ढंग से गैस भी नहीं जला सकती थी ? यह कैसा अनाड़ीपन है ?" राधाकाकी कुछ आवेश में बोलीं। भात का ढेला उन्होंने नानाजी की थाली में डाल दिया।

"उस बेचारी की जान चली गयी और तुम यहाँ उसे पानी पीकर कोस रही हो।" भात को मिलाते हुए नानाजी बोले।

"निस्मन उसकी !" आह भरते हुए राधाकाकी बोलीं, फिर अपनी थाली परोस कर भोजन करने लगीं। नानाजी चुप रहे, न बोलते हुए उन्होंने भात समाप्त

किया। कुछ समय के लिए वह विषय रुक-सा गया। हाथ धोकर नानाजी ने शेल्फ़ में रखी सुपारी की चुटकी मुँह में डाली। तोतली जबान से पूछा—"बाई को यहाँ लाया गया था ?"

"नहीं।"

"कब लाने वाले हैं ?"

"पता नहीं ! लाने वाले हैं या सीधे ही ले जाने वाले हैं।"

"क्यों ?"

"उनका पोस्टमार्टम होने वाला है। राजेबाई कह रही थी कि पुलिस केस होगा।"

"पुलिस-केस ! क्यों ? यह तो सादी अपघात वाली मृत्यु है।"

"हाँ, लेकिन इधर स्त्रियों को जलाने के केस जो हुए हैं। हम सब पढ़ते रहते हैं, इसलिए पुलिस तलाशी करेगी।" राधाकाकी ने रस लेकर खुलासा किया। फिर भी नानाजी की परेशानी दूर नहीं हुई। कहीं कुछ कसक रहा था। मतलब यह है कि अब इस जामदार पर अनावश्यक संकट आ गया। वहाँ पत्नी मर गयी बेचारे की और इधर यह पुलिस का पीछा।

"उसकी बात जाने दो। लेकिन हमारी भी गवाही होगी पुलिस के सामने।"

"हमारी ?" नाना चिल्लाये जैसे कि पत्थर पड़ा हो सिर पर।

"हाँ, राजेबाई कह रही थी।"

"हमारी गवाही क्यों ? हमारा क्या सम्बन्ध ?"

"हम पड़ोस में हैं न उनके।"

"लेकिन हम क्या कहेंगे ? हम तो कुछ नहीं जानते।" नाना कुछ परेशान से हुए। एक विचित्र अनामिक भय उनके सर्वांग में फैलने लगा, जैसे बोतल में से राक्षस निकलता आ रहा हो—अपने आप।

"लेकिन यह पुलिस कैसे जानती है ?"

"क्या ?"

"यही कि हम कुछ नहीं जानते ?"

"कमाल है ! जब देखो उनका दरवाजा बन्द रहता है। हमारी गवाही काहे के लिए ? हम क्या कहेंगे ? अनावश्यक तकलीफ़।" परेशान से होकर कुर्सी धकेलते हुए नानाजी खड़े हो गये। राधाकाकी शान्ति से अपना आख़िरी भात समाप्त कर रही थीं।

असल में नानाजी अपराह्न भोजन के बाद लेटते थे—घण्टे दो घण्टे के लिए। तीन बजे ट्यूशन का पहला विद्यार्थी आता था। तब तक विश्राम चलता रहता। आज उन्हें वैसी ज़रूरत भी थी। स्कूल में सुबह गर्दनतोड़ बहुत परिश्रम किया था, अब भोजन के बाद शरीर अलसाया था। लेकिन शरीर ही, उनका बिखरा

हुआ मन ठिकाने पर नहीं आ रहा था। अनजाने में वह अपने बाहर के कमरे में चहलक़दमी कर रहे थे—अलसाये शरीर से। पैर धीरे-धीरे पड़ रहे थे। उनकी फेरियाँ जारी थीं। एक कोने में रेडियो था, पड़ोस में सोफ़ा। उसमें पुस्तकें, फ़ालतू दर्शनीय वस्तुएँ। यह सब दृश्य एक ओर। दूसरी ओर नानाजी की फेरियाँ, धीमी लेकिन अखण्डित। राधाकाकी अन्दर से समस्त कामकाज से निबटकर बाहर आयी। यह उनके पेपर पढ़ने का समय था। सब शान्त रहता था। राधाकाकी ने तिपाई पर से पेपर उठाकर सामने रखा। नानाजी की चहलक़दमी बराबर जारी थी। बीच में ही ग़ुस्सैल आवाज़ में नाना बोले—"यह तो नाहक़ का लफड़ा हुआ।"

"कौन-सा लफड़ा?"

"यही—जामदार की पत्नी का।"

"इसमें लफड़ा क्या है?"

"तुम्हीं ने कहा था—कि पुलिस आयेगी, हमारी गवाही होगी!"

"हाँ, राजेबाई बोली थी इस तरह।"

"वही तो!"

"अब क़ायदे से नहीं होना चाहिए सब?"

"हाँ तो, लेकिन सब अटके न उसमें।"

"कुछ भी बोल रहे हैं आप।"

"अरी तुम्हें नहीं मालूम पुलिस की तलाशी एक अनावश्यक झमेला होता है।"

नाना रुके। लेकिन राधाकाकी पर उनके बोलने का पर्याप्त परिणाम नहीं हुआ था। आँखों के सामने पेपर था।

"झमेला किस बात का?"

"क्या बताएँगे हम पुलिस को?"

"किसको?"

"अरी, जब पुलिस आयेगी तो उसको—और किसको?"

"जो मालूम है, वह बताएँगे। उसमें क्या है?"

"मतलब, क्या बताना है?" नानाजी ने कुछ पैने स्वर में पूछा। अब राधाकाकी ने पेपर बन्द किया। उसे गोद में रखकर एक पैर ऊपर उठाकर वह चुप बैठ गईं।

"अजी, ऐसा क्या कर रहे हैं? जो सच है वही बतायेंगे।"

"क्या सच है?"

"मतलब? जो घटित हुआ वही बतायेंगे।"

"हाँ तो। लेकिन घटित क्या हुआ है?" नानाजी की आवाज़ ज़रा चढ़ गयी। राधाकाकी नानाजी की ओर चमत्कारिक ढंग से देखने लगीं। उन्हें नानाजी के

बोलने का अर्थ ही समझ में नहीं आ रहा था। न वे यही समझ पा रही थीं कि नानाजी को अड़चन किस बात की थी। वह सीधे बोलीं—अजी, क्या घटित हुआ है ? आपको नहीं मालूम ? जामदार बाई गैस जलाने गयी थी। गैस खुली थी। वह एकदम उसमें जल गयी।"

"जामदार जी ने उनके शरीर पर पानी की बाल्टी उँडेली। यह सब आप नहीं जानते ? वही घटित हुआ है।" राधाकाकी का समूचा भाषण स्तब्ध खड़े रहकर नानाजी ने सुना। वह कुछ समय तक चुप रहे, खिड़की के बाहर देखते रहे थे। फिर मुड़े। आँखें छोटी करते हुए धीमी आवाज़ में आगे झुककर बोले—"लेकिन यह सब सही है। किस आधार पर ?"

"मतलब ?"

"अरे, तुम्ही ने तो कहा न—इतने वर्षों तक घर-गृहस्थी चलाने वाली यह बाई जल कैसे गई ?"

"हाँ, तो फिर ?"

"इसलिए पूछता हूँ कि जो घटित हुआ वही सब सच किस आधार पर ?" राधाकाकी ऐसे चौंक गयी जैसे चरका लगा हो। उनकी आँखें एकदम बड़ी-सी हो गयी। पलकें थरथराने लगी। अनजाने में उन्होंने कुर्सी पर रखा पैर नीचे कर लिया, पेपर जमीन पर सरक गया।

"क्या कह रहे हैं आप ?" राधाकाकी ने सहमे हुए कहा।

"मैं कह रहा हूँ हमारी साक्ष्य इसलिए न कि हम पड़ोस में हैं ?"

"फिर उसमें बिगड़ा क्या ?"

"इतने पास होने पर भी जामदार ने हमें पुकारा ?"

"नहीं।"

"मतलब, जो घटित हुआ वह हमने नहीं देखा।" नाना रूखे स्वर में बोले।

"कैसे देखेंगे ?" राधाकाकी भी कुछ तमतमाकर बोली।

"वही तो ! बन्द दरवाज़े के पीछे दीवार की ओट में जो घटित हुआ, उसे हम कैसे देख सकते थे ?"

"लेकिन हमने आवाज़ तो सुनी ? जामदार बाई कितनी जोर से चीखी ?"

"नहीं···नहीं···चौंककर हम जाग गये।"

राधाकाकी की आँखें फैली हुई थी, पलकें थरथराती हुई और उनकी नज़र नानाजी का मर्म छूने का प्रयास कर रही थी। अपना पति मनुष्य से विशेष लगाव नहीं रखता, एकान्तप्रिय। तर्ककर्कश है। यह सब उन्हें इतने वर्षों की गृहस्थी में पता लग गया था। लेकिन वह इस प्रकार विचित्र होगा, यह उन्हें मालूम नहीं था। नाना की चौकी आँखों को वे एकटक देखने लगीं। लेकिन नानाजी अब शान्त थे। शिकार की टोह में दत्तचित्त जानवर की तरह सावधान। वह दबी

आवाज़ में बोले—"उस चीज़ का अर्थ कुछ भी हो सकता है। शरीर पर कोई थूके, इस तरह राधाकाकी सिहर गयी। वह हड़बड़ाकर उठीं। मुँह ऊपर उठाकर निर्भय स्वर में पूछा, "क्या बताने वाले हैं आप पुलिस को ?"

"यह देखो ! पुलिस को जवाब शपथ खाकर देना होता है। वह रेकार्ड होता है। उस पर सही करनी होनी है।" नानाजी ने गहरी धीमी आवाज़ में समझाया।

"इसीलिए पूछ रही हूँ। क्या कहने वाले हैं ?"

"वही तो प्रश्न है—क्या कहना चाहिए ?"

"हाँ, आप तो तिल का पहाड़ बना रहे हैं ! कुतर्क रच रहे हैं। अनावश्यक तकलीफ़ ले रहे हैं—मुझे भी दे रहे हैं। मैं जाती हूँ, ज़रा लेटती हूँ। अन्दर आप बैठिए प्रश्न हल करते हुए।" तैश में उठकर राधाकाकी अन्दर गयीं। नीचे गिरे पेपर को भी उन्होंने उठाकर रखा नहीं। नानाजी वैसे ही खड़े थे। संभ्रम में; फिर चहलक़दमी—अनजाने।

तीन बजे ट्यूशन के लिए पहला छात्र आता था—दसवीं का। दीवार पर घड़ी में दो घंटे बजे तो नानाजी रुके। घण्टे भर के लिए लेटना ही होगा। अंग कसमसा रहा है, दो घंटे कुर्सी पर बैठकर काम किया। शरीर ऊब गया है लेकिन यह नाहक कष्ट है जामदार की वजह से। सिर उसी कारण थका है। फिर भी शरीर को लिटाना चाहिए। भले ही सिर भिन्नाता रहे, शरीर को तो आराम मिलेगा। नाना बेडरूम में गये। राधाकाकी पलंग पर लेटी थीं। उनकी आँखें मुँद गयी थीं। सीना ऊपर-नीचे हो रहा था। यह सोई है निश्चित, सुखी है। सारी तकलीफ़ मुझी को। नाना पलंग पर लेटे। गले तक उन्होंने कम्बल ओढ़ लिया, आँखें बन्द कीं, तो सामने वाला दृश्य लुप्त हुआ। सफेद सीलिंग वाला, पंखों की पत्तियों वाला। लेकिन अन्दर का दृश्य गोचर हुआ। उसके लिए आँखें कौन सी बन्द की जायें ? और वह दृश्य भी कितना भयानक, सिहराने वाला, कँटीला—आँखें खोलने वाला।···भोर के ठंडे अँधेरे में जामदार बाई दूध की बोतलें लाने के लिए बाहर जाती हैं। उनके जाते ही जामदार उठते हैं। किचन की गैस चालू कर देते हैं। पन्द्रह मिनट के बाद जामदार बाई वापस आती हैं, जल्दी-जल्दी में, अपनी ही तंद्रा में। तब तक कमरे में गैस भर गयी है, फैल गयी है। बाई के आते ही जामदार स्नान के लिए भागते हैं। इधर बाई तीली जलाती हैं, गैस भड़क उठती है, बाई जल जाती हैं, इधर-उधर दौड़ती हैं। जामदार बाथरूम से बाहर आते हैं। बाई कमरे के बाहर आने का प्रयत्न कर रही हैं, जामदार बाथरूम के बाहर आते हैं। बाई कमरे के बाहर आने का प्रयास करती हैं तो जामदार उन्हें वैसा करने नहीं देते। अपने तगड़े बालदार हाथों से उन्हें अन्दर धकेलते हैं। जलनेवाले उस कमरे में बाई प्राणभय से चीख़ती हैं— "नहीं, नहीं। ऐसा मत कीजिये !" जामदार दाँत

ओठ काटकर ज़ोर से उन्हें धकेल देते हैं। बाई बेहोश हो जाती है, शांति से जलने लगती है। जामदार बाथरूम से पानी की बाल्टी ले आते हैं। जलने वाली निष्प्राण बाई पर उँडेल देते···।

बैल बजती है।

नानाजी चौंककर आँखें खोलते हैं। ठंड के दिनों में भी उन्हें पसीना आ रहा है। अन्दर की बनियान ठंडी पड़ गयी है। नाना वैसे ही लेटे रहते हैं। बुखार उतरने पर ग्लानि में। फिर बैल बजती है। नाना उठे। राधाकाकी वैसे ही सोयी हुई थीं। सचमुच उन्हें नींद आ गयी थी। तौलिये से चेहरा-गर्दन-गला पोंछकर नानाजी बाहर गये। दरवाज़ा खोलते ही ट्यूशन का विद्यार्थी अन्दर आया। फ़ुलपैंट में शर्ट खोंसा हुआ, चपल, गोरा विद्यार्थी। हाथ में नोटबुक-पुस्तक। यह अच्छा है। पढ़ना, स्कूल में जाना, परीक्षा पास करना। यह बहुत दिन तक चलेगा। फिर नौकरी, विवाह, पत्नी, बच्चे, फिर पत्नी की मृत्यु, जलना इत्यादि। अभी तो ख़ूब दिन इसके भाग्य मे सुख के, निश्चिन्तता के हैं। वर्ष के वर्ष हैं इसके हिस्से में। चिन्ता, फ़िक्र, दुःख, आग अभी ख़ूब दूर हैं, बिलकुल क्षितिज के पास। इसलिए इसका चेहरा इतना निर्मल, कोमल और निष्पाप है। इसके संग्रह में अभी ख़ूब खज़ाना है, आनन्द का, अज्ञान का। नानाजी को अनजान में उस निर्लेप, निर्भ्रान्त छात्र के प्रति ईर्ष्या होने लगी। निर्धन को जैसे सधन से होती है। उसे बैठने को कहकर नाना अन्दर गये। बेसिन के पास जाकर उन्होंने चेहरे पर पानी डाला, कुल्ले किये, चेहरा पोंछा। ऊपर वाले आईने में अपनी आँखों को देखा। लाली लिये हुए विद्रूप भयावह आँखें! वे सकपका गये! वैसे ही बाहर के कमरे में आये। सोफ़े पर बैठकर जल्दी-जल्दी छात्र को पढ़ाने लगे। छात्र सामने कुर्सी पर, नोटबुक तिपाई पर थे, नाना कहते जा रहे थे, वह लिख रहा था। सब यांत्रिक, नपातुला, घंटे भर मे समाप्त होने वाला। पन्द्रह-बीस मिनट होते ही नानाजी का गला ख़ुश्क हुआ। उन्होंने छात्र को एक प्रोब्लम हल करने के लिए कहा और वह चुप बैठे रहे—सोफ़े के किनारे पर। भीगी कुतिया की तरह, अंग सिकोड़ कर।

'···क्यों मारा होगा जामदार ने पत्नी को? इतने वर्षों की गृहस्थी—दो सन्तानें। पिछले ही साल लड़की का ब्याह हुआ। लड़का भी अच्छा बुद्धिमान निकला। यों ही नहीं, सतारा के मिलिटरी स्कूल में प्रवेश मिला। पत्नी भी वैसे ठीक ही थी। दिखने में होगी थोड़ी बेढब-सी। चेहरा भी कुछ पुरुषवत् था, लेकिन रहता है कुछ महिलाओं का उस तरह का। उससे कुछ बिगड़ता तो नहीं है। अच्छी होती हैं ऐसी महिलाएँ—शान्त, सहिष्णु, शालीन। वैसी ही यह भी थी। ऐसा लग तो अवश्य रहा था। फिर जवानी में दिखने में भी सुन्दर रही होगी। अब ज़रा शरीर थुलथुल हो गया था। लेकिन सुखी घेरलू बाई का ऐसा ही होता है। संक्षेप में जामदार की गृहस्थी का गणित ठीक-ठाक था। प्रणाली ठीक ही थी।

सभी स्टेप्स यथोचित। फिर ग़लत कैसे हुआ ? दोनों की तबीयत भी ठीक ही थी, पत्नी की तो निश्चय ही थी। लड़का भी पढ़-लिखकर बड़ा हो गया होगा, ऐसे ही अफ़सर होगा मिलिटरी में, बड़े वेतन पर। बहू भी आयेगी, दोनों के बाल-बच्चे होंगे। जामदार बाई ने दोनों को देखा होता, वर्षों तक पल्लवित-पुष्पित गृहस्थी को देखा होता, भोगा होता। पचहत्तर-अस्सी के बाद कभी वृद्धत्व के कारण वह चली गयी होती, थकी देह से, पके बालों से, पके फल के गिर जाने की तरह, पति या लड़के की गोद में सिर रखकर। लड़की, जवान बहू, पोते सब नाते-रिश्तेदारों के बीच ढंग से वह गयी होती। यही उनकी गृहस्थी का सही अन्त था। सही उत्तर था यह उनके जीवन का, सरल आसान और सीधा। फिर बीच में ही भोर के असमय में यह महिला जलकर कैसे मरती है ? पैसे के लिए तो जामदार ने यह प्रपंच नहीं किया है ! अच्छी-ख़ासी नौकरी है आदमी की। चार-पाँच हज़ार तो वेतन होगा ही। और पैसा लेकर क्या करेगा और वह भी ऐसी जोखिम से ? कुछ लफड़ा-वफड़ा तो नहीं होगा किसी बाई से ! यों तो यह उम्र होती है कुछ धोखे की ही। कुछ चण्टपने की छूटे हुए होने की, निर्लज्जता और बेफ़िक्रेपन की। पचास के बाद बासी गृहस्थी में सुख नहीं मिलता। पचपन के आसपास का हट्टा-कट्टा जामदार। भरापूरा, बुलन्द तनी हुई गर्दन वाला, बलवान बाँहों वाला। उसके शरीर की भूख प्रचण्ड होगी, न बुझी हुई, लपलपाती।। आफ़िस की ही होगी कोई ? समझना मुश्किल है। लेकिन यहाँ क्यों आयेगी वह ? वह भी बेवक़ूफ़ थोड़े ही है उसे लाने के लिए ? पत्नी चौबीस घंटे घर में, लाकर क्या करेगा ? तन कर बैठे नाना कुछ सरल हुए। सामने की ख़ाली दीवार की ओर टकटकी लगा कर देखने लगे। दीवार के भी कान होते हैं। इतना ही नहीं, कोरी दीवार पर चित्र भी उभर आते हैं। जैसे भी चाहे जायें। ऐसे चित्र बिना रंग के, अदृश्य, रंग-बिरंगे। अचानक नानाजी ने चुटकी बजायी। अन्दर ही अन्दर वह दमके, सिहर कर।

जामदार बाई की विधवा बहन ! बाई से उम्र में छोटी। क़रीबन चालीस की उम्र। पति ऐसे ही अपघात में मर गये, जवानी में ही दो-चार वर्षों में विवाहोपरान्त, यह बेचारी विधवा हो गयी। बिना सन्तान के कान्वेंट स्कूल में शिक्षिका की नौकरी कर रही है, पिता के पास रहती है। यह सब सुनी-सुनाई जानकारी। राधाकाकी की दी हुई। होगा कुछ कम-ज़्यादा उसमें। लेकिन नानाजी ने उसको दो-चार बार देखा था, सीढ़ियाँ चढ़ते-उतरते प्रत्यक्ष, दिखने में नाज़ुक, पतला बदन, बाई से ख़ूब अच्छी, हँसमुख चेहरा, लुभावना। जामदार के स्कूटर पर भी जाते हुए दिख गयी थी एक-दो बार। निःसंकोच, उनकी पीठ पर हाथ रखे हुए, उनसे सटकर, मज़े में।

चित्र पूर्ण हुआ था। नानाजी का चेहरा चमकने लगा। उस पर से छाया हट

गयी । आँखों की गँदली हँसी चेहरे पर फैलने लगी। सिकुड़ा हुआ शरीर शिथिल स्वस्थ होने लगा था । उन्हें उत्तर मिल गया था । उनकी पद्धति से सीधासरल । लेकिन गाँठ सुलझ गयी थी । सन्तोष के साथ वह सोफ़े पर से एकदम उठने वाले थे ।

"सर, हल हो गया प्रोब्लम ।"

नानाजी का तैरने वाला शरीर फिर यथास्थान आ गया। ठंडे पड़ गये ।

"क्या ?"

"प्रोब्लम हल हो गया ।" छात्र ने नोटबुक सामने रखी । छात्र के उस नादान, निर्मल, ताजा चेहरे की ओर देखकर नाना लज्जित हुए । नाहक़ उनकी नजर नीचे झुकी। नोटबुक का प्रोब्लम देखने लगे । वह प्रोब्लम उनकी समझ में नहीं आ रहा था । प्रणाली समझ में नहीं आ रही थी । उत्तर ग़लत या ठीक, यह भी पता नहीं चल रहा था । उनकी आँखें सिर्फ़ चकरायीं, अंधेपन से । हक्के-बक्के होकर उन्होंने नोटबुक बन्द कर छात्र को लौटा दी ।

"ठीक है, ठीक है ! तुम जाओ अब ।"

विद्यार्थी के चले जाने के बाद राधाकाकी कप लेकर आयीं । तिपाई पर कप रखकर दृश्य करते हुए वह कुर्सी पर बैठीं । उनका चेहरा अलसाया-सा ।

धोये चेहरे के कान के पीछे का गीलापन आँचल से साफ़ करती हुई वह कुर्सी पर बैठ गयीं । वे धीमे से मुस्करायीं ।

"अच्छी नींद आयी थी दो घंटे । सुबह से सिर कसमसा रहा था । अब कितना अच्छा लग रहा है ।"

नानाजी का चेहरा भी मुक्त, शान्त, स्वस्थ था, नींद के बिना भी । नींद नहीं आयी थी लेकिन कुरेद समाप्त हुई थी, सुस्ती भाग गयी थी। वे टकटक देख रहे थे, तेज़ और सजग ।

"वह जामदारबाई की बहन नहीं दिखी !"

"आयी तो थी ।"

"आयी थी ?" नाना भौचक ।

"मतलब ? वह नहीं आयेगी ? सगी बहन जो जलकर मर गयी।"

"मैंने नहीं देखा ।"

"आप स्कूल गये थे ।"

"क्या किया उसने ?"

"क्या किया ? निबट लिया होगा जो फैला था सारा पसारा। वह जामदार जी के साथ ही गयी बाद में । फ़्लैट बन्द करके ।

"कहाँ ?"

"अब कहाँ क्या ? गये होंगे उसके घर । यहाँ अकेले थोड़े ही रहा जायेगा

उनसे ? आज कम से कम !" राधाकाकी ने गर्दन हिलाकर चाय का कप मुँह को लगाया। नाना वैसे ही बैठे थे। उनकी चाय वैसे ही ठंडी हो रही थी।

"लड़की नहीं आयी उनकी ?"

"नहीं।"

"नहीं ?"

"उसका सातवाँ महीना चल रहा है। डॉक्टर ने विश्राम के लिए कहा है।" राधाकाकी ने कप समाप्त कर नीचे रखा। नानाजी ने कप उठाया भी नहीं था।

आह भरते हुए नानाजी बोले—"अब तो सब बहन ही देखेगी जामदार बाई की।"

"देखना क्या है ?"

"सबका—जामदारजी का खाना-पीना, फ़िक्र करना—सब-कुछ।"

बोलते समय नानाजी के गाल पर झुर्रियाँ पैदा हुईं। आखिरी शब्द पर उन्होंने ज़ोर दिया। फिर भी राधाकाकी के चेहरे पर शिकन भी नहीं थी। कितनी सरल, सादी, बुद्ध है यह। सब अच्छा ही अच्छा दिखता है इसे। सभी का ! पति पर विश्वास, पड़ोसियों पर विश्वास। मनुष्य इसे अच्छा ही दिखता है। लोग कितने ज़ालिम होते हैं, देखते ही देखते पीठ में छुरा भोंकनेवाले ! लेकिन यह कैसे समझेगी ? इसने दुनिया देखी ही कहाँ है ? चारदीवारी के बीच की इसकी दुनिया, छोटी, सुरक्षित, विश्वास से भरी-पूरी, डबरी की तरह संकुचित। जामदारबाई की ही भाँति। उसमें सारे लोग अच्छे, सीधे, भोले, परस्पर प्रेम करने वाले, नाक की सीध में चलनेवाले। प्रक्षुब्ध सागर को इसने देखा ही कहाँ है ?

"चाय ठंडी हो रही है !" राधाकाकी ने याद दिलाया।

चाय पीते-पीते नानाजी ने तय कर लिया, इसकी बात नहीं सुननी है। पुलिस आ जाये तो जो सही है वही बताया जायेगा। जामदार के फ़्लैट में चारदीवारी के बीच क्या हुआ है वह हम क्या जानें ! हमने तो वह कुछ देखा नहीं है। जितना देखा है, उतना ही बताना है। चक्षुर्वै सत्यम्। इसके चक्कर में नहीं आना है। इसको भी समझ देनी पड़ेगी। समझ, मतलब ताक़ीद ही।

नानाजी ने चाय समाप्त कर कप नीचे रखा। हर दिन की तरह तलहट में बची शक्कर का पाक उन्होंने होंठों से चाटा नहीं। वह चाय में ऊपर से शक्कर डालते थे। न हिलाते थे, न मिलाते थे। जितनी अपने आप मिले, मिले, शेष मीठी तलहट वह ओठों से सोख लेते थे। चटखारे लेते हुए। बचपन से यह उनकी आदत थी। लेकिन उन्होंने मुँह से कप न लगाते हुए तिपाई पर रखा। राधाकाकी की ओर भरी नज़र से देखकर उन्हें धमकाकर वह बोले—"इधर देखो ! पुलिस अगर आयी तो तुम कुछ न कहोगी !"

"मतलब ?"

"मतलब—यों ही कुछ, सुनी-सुनायी बातें।"

"सुनी-सुनायी ?"

"और नहीं तो क्या ? औरों का बताया हुआ—के नोट पर बताने से काम कैसे चलेगा ? ये कुछ मौज-मजे की बातें तो नही हैं। समझी ?" नानाजी ने राधा-काकी की आँखों में नज़र खोंस दी।

"लेकिन बाई की चीख का स्वर तो मैने कानों से सुना है !"

"बस उतना ही तुमने सुना। और कुछ नही।"

"मतलब बनूताई, राजेबाई सब झूठ बता रही हैं ? थोड़ा तो विश्वास करना चाहिए आदमी को।"

राधाकाकी का चेहरा गुस्से से कुछ-का-कुछ हो गया। नानाजी के अड़ियलपने को वह समझ नही पा रही थी। राधाकाकी के जिद्दीपन से नानाजी चिढ़ गये। सामान्य-सी बात भी इसकी समझ मे नहीं आती ? आदमी कितना अनाड़ी हो ? चिड़चिड़ेपन से नानाजी बोले—"मैंने यह कहा कि ये सब झूठ बोल रहे हैं ?"

"फिर ?"

"फिर क्या ? उनके झूठ-सही की असलियत का पता हमें कैसे चले ?"

"मतलब ?"

"उनको यह सब किसने बताया ?"

"किसने ? मतलब ? जामदार ने।"

"बस, समाप्त !"

नाना उठे। उन्होंने संवाद समाप्त किया जैसे कि झट् से तिनका तोड़ दिया गया हो। उठकर वह चहलक़दमी करने लगे—हाथ पीछे बँधे हुए। क़दम छोटे। धोती का छोर पैर में लटककर हिल रहा था। ओंठ पिटे हुए, नजर सामने दाग़े हुए भाले की भाँति।

राधाकाकी बधिर चेहरे से उनकी घूमनेवाली सपाट आकृति की ओर देखने लगी। नानाजी के इस व्यवहार का अर्थ ही उनको समझ मे नही आ रहा था। सदैव ठण्डे स्वभाव का एकांगी, एकचित्त, नाक की सीध में चलने वाला यह आदमी इस तरह पक्षक्षुब्ध क्यों हो गया था ? सरल रास्ते से जाने वाला यह व्यक्ति, हमेशा की भाँति 'अपने को क्या करना है', इस वृत्ति से व्यवहार करने वाला यह व्यक्ति एकदम आज कैसे खौल रहा है ? 'जो करेगा सो भोगेगा' माननेवाला यह आज एकदम कैसे विचलित हुआ ? पिंजरे में बन्द जानवर ज़ोर-ज़ोर से गुर्राये, उस तरह नाना उत्तेजित हो रहे थे, चिढ़ रहे थे, चिड़चिड़े हो रहे थे। असल में उन्हें जामदार से क्या लेना-देना था ? जिनसे ठीक पहचान भी नहीं थी उनसे यह इस प्रकार का प्रबल वैर ? सो भी जब जामदार दुःख में है, पत्नी की जलकर मृत्यु हुई है, तब ? नाजुक स्थान पर विलक्षण आघात शत्रु भी नहीं करेगा। फिर यह

बेरोकटोक अदभुत कार्य नानाजी में आया कहाँ से ? इस तरह अकस्मात् ? छिजी आँखों से राधाकाकी नानाजी की चहलक़दमी देख रही थीं, जैसे दूधिया काँच पर छाया देखी जाय, गूढ़, धूमिल, अबूझ ।

काँच पर खरोंच की कर्कश आवाज की तरह राधाकाकी की आवाज़ उठी। चिरकती, फटी-सी, एकदम आकस्मिक और कर्कश—"उस जामदार ने आपका ऐसा क्या नुक़सान किया ? क्यों उनकी जान के ग्राहक बनना चाहते हो ? क्यों उनका जीवन उद्ध्वस्त करना चाहते हो ? इतने दिनों से हम देख रहे हैं—रोज़ दोनों घूमने जाते हैं, खरीद-फ़रोख्त के लिए जाते हैं । न किसी के लेने में, न देने में । न कभी झगड़ा, न टंटा । आवाज़ नहीं, तकलीफ नहीं । इस सबका कोई अर्थ ही नही है क्या ? इतने दिन गृहस्थी चलायी दोनों ने—वह सारा व्यर्थ है ?" राधा काकी रुकना नही चाहती थी । उन्हें सब उगल देना था। नोंचकर नानाजी को लहूलुहान करना था, उनका, पर्दाफ़ाश करना था । उसी से असली नानाजी बाहर आते—एक रूखा, शान्त, हिसाबी । शरारती नानाजी का यह बहका-बहका, दिग्भ्रमित और आवेशित-अपरिचित रूप उन्हें शब्दों के आड़े-तिरछे प्रहार कर तोड़ना था, टुकड़े-टुकड़े करना था । लेकिन उन्हें रुकना पड़ा । उनका सीना फूल उठा, अवरुद्ध-सा हुआ किसी अज्ञात भय, दुःख, असहाय क्रोध से । लबालब । उनके शब्द ही समाप्त हुए । साँवला, लम्बोतरा चेहरा अधिक विद्रूप और रुआँसा हो गया । ओंठ थरथराने लगे, कलेजा धड़धड़ाने लगा । लेकिन राधाकाकी की आशा विफल हो गयी । सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया । नाना सिर्फ़ परली तरफ़ की खिड़की के पास जाकर खड़े रहे । बन्द खिड़की के पास । गाढ़ किरमिजी रंग के पर्दे के पास । दूरस्थ, स्तब्ध । राधाकाकी की तड़फड़ाहट को सुन वह सहन-शीलता के साथ देखते रहे- - जैसे कि कोई बिगड़ा हुआ, छितरा हुआ चित्र देख रहे हों । वह न चिढ़े, न चिल्लाये । देखे हुए दुःस्वप्न से जगे नही । राधाबाई की आँख में नज़र डालकर उन्होंने इतना ही कहा—"कौन कहता है, व्यर्थ है ?"

"फिर गन्दा सन्देह क्यों कर रहे हो ?"

"सन्देह किस बात का ? तुम कुछ भी नही समझती हो ।" नानाजी की आवाज़ में अनजाने ही धार आयी ।

"अगर मुझे कल कुछ ऐसा हुआ तो क्या करेंगे ?"

"ऊलजलूल मत बोलो ।"

"आप पर कोई शक करेगा तो ?"

राधाकाकी को पता नही चला कि यह चोट नानाजी को लग गयी कि नहीं, उनका मुखौटा कुछ तड़का कि नहीं । नाना वैसे ही खड़े थे । उनके गोरे फूले चेहरे पर कोई फ़र्क नहीं आया, छोटे कपाल पर झुर्री नहीं पैदा हुई, सफेद और घनी भौंहों के नीचे आँखों में हलचल नही हुई । सिर्फ़ उनके ओठ से फॅटे हुए शब्द

बाहर आये—

"कैसे ?"

"यह हमेशा का आर्गूमेण्ट है ।"

'कौन-सा ?"

"यही कि आपके बारे में घटित हो तो ?—यही तो तुमने अभी कहा था ?"

"हाँ । कहा तो था । मुझे कुछ हुआ और आपके बारे में सन्देह किया गया, तो ?"

राधाकाकी भी जिद मे आ गयी । आशा और उत्साह से । नाना अब उनकी ओर मुड़ गये थे । जामदार का विषय टल गया था । राधा काकी से बोलने वाले वह नाना थे । पूर्णतः तो नही लेकिन बहुत-कुछ, बहुत-कुछ हमेशा के । निदान नानाजी का यह एक रूप था । पूरी तरह तो नही लेकिन एक ओर से खुल गये थे । पूरी तरह बन्द द्वार कुछ खुल-सा गया था । राधा काकी ने उस दरार से घुसने का प्रयास किया । नाना चिढेंगे, चिल्लायेंगे, गुस्से मे पैर पटकेंगे । लेकिन जामदार का भूत उनके सिर से उतरेगा । राधाकाकी ने पुनः ज़रा आवेश से पूछा । शब्दों को दोनों तले, रगड़कर ठूँस कर—

"कहिए तो ! आपके बारे में ऐसा घटित हो तो ?"

लेकिन नाना खिड़की से हिले नही, उनके भिचे ओठ ढीले नही हुए । राधाकाकी की ओर हताशा से देखते हुए वह बोले—"बताया न ? मेरी बात अलग है ।"

"अलग ?"

"मनुष्य पैसे के लिए, औरत या व्यसन के लिए ऐसा कुछ बुरा काम करता है । क्या ऐसा कुछ शौक़ मेरे बारे मे हे ?'

"जामदार को कोई शौक़ था ?"

"मुझे नही मालूम ।"

"वही तो मैं कह रही हूँ ।"

"क्या ?"

"तुम्हें नही है कोई शौक़, लेकिन लोगों को यह कहाँ मालूम है ?"

"मुझे लोगों से क्या लेना-देना ! मै अपने को अच्छी तरह पहचानता हूँ ।"

राधाकाकी हताश होकर कुर्सी पर बैठ गयी । नानाजी का जिद-भरा तर्कशास्त्र उनकी समझ में नही आ रहा था । उन्हें वहाँ बैठने या उठने की इच्छा नही थी । बेचैन मनोवस्था मे उन्होंने इतना ही कहा, "कोई किसी को पहचानता नहीं, अपने को तो और भी नहीं ।" ढहती दीवार की भाँति नानाजी एकदम आगे आये । उनकी आँखें तनी हुई थीं । लाल पुतलियाँ । कपाल पर दमकता क्रोध । नानाजी चिल्लाये—"अब हुई शुरू तुम्हारी सयानप । तुम मुझे सिखाने चल रही हो ।

जीवन भर मैंने लड़कों को पढ़ाया। अब तुम मुझे सिखाओ !" हांफती छाती में साँस भरकर नानाजी ने आगे झुककर हाथ सामने किया। राधाकाकी की ओर उँगली करके उन्होंने कहा, "देखो, यह पुलिस का मामला है। मैं कहूँगा, जो भी कुछ कहना है। इसमें तुम टाँग मत अड़ाओ। जो मै कहूँ, वही करो। बस !"

'यह तो हर दिन की बात हुई'—राधाकाकी ने शब्दों का उच्चारण तो नहीं किया। उनके ओठों से वे बाहर ही नहीं आये। आग का चरका लगे, इस तरह वह उठीं। एकदम वह अन्दर गयीं जैसे कि अटके हुए चाप से छुट गयी हों और हकाली गयी हों। कही न देखते हुए। बाहर तिपाई पर चाय के कप वैसे ही थे। खुश्क, गन्दे।

ग्यारहवी के अपंग विद्यार्थी को पढ़ाकर नाना गणपति के मन्दिर में पहुँचे। तब शाम का कुहरा छाने को हो गया था। रास्ते में मन्दिर तक छोटी पगडंडी। उस पर दीपों की क़तार। दीपों के महान उजाले के ठिठुरते ढेर पगडंडी पर निश्चित फ़ासले पर फैले। कान पर मफ़लर लपेटते हुए नानाजी ढेरों में से मन्दिर की ओर गये। धीरे-धीरे धीमी चाल से। निढाल-से।

अपंग छात्र को पढ़ाने के बाद उनके अन्तरंग में प्रवाहित होनेवाला आरम्भिक सन्तोष पता नही कैसे घट गया था। वह आज सूखे, खाली, सुन्न-से हो गये थे। बेचैनी का एक गोलाकार घूमता गोला पेट में बीच-बीच में हिल-डुल रहा था। गला नाहक़ खुश्क हो गया था। सब तो हर दिन की तरह हुआ था जैसा कि पिछले वर्ष से होता आया था। अपंग विद्यार्थी को पढ़ाने नानाजी उसके घर समय पर पहुँचे थे। शाम को छह बजे छात्र तैयार था। सुन्दर, स्वच्छ, उजला कमरा तरतीब से सजा हुआ, प्रसन्न। काले शीशम का चौड़ा पलंग दीवार से सटाकर रखा हुआ था। उस पर विद्यार्थी तकिये से टेक कर लेटा हुआ था। कमर तक गर्म केसरिया शाल लपेटा हुआ पीले बार्डरवाला। ऊपर सफ़ेद कुर्ता। पलंग पर नोटबुक, पुस्तकें रखकर ढंग से रखी हुई। पास मे गोरा, लुभावने चेहरे वाला, हँसती आँखों का छात्र लेटा हुआ था, नानाजी की प्रतीक्षा मे। नानाजी को देखते ही वह मुस्कुराया। टेका हुआ था सो सरल हो गया। बोला—आइए सर ! उसके शब्दो में मज़ेदार स्नेह था। बालिश आतुरता थी। लेकिन नानाजी रोज़ की तरह खुलकर नही हँसे। अपने-आप प्रसन्न नही हुए। उनके ओंठ केवल हास्य मे मसल गये। चुपचाप वह सामने वाली कुर्सी पर बैठे। पुस्तक खोलकर पढ़ाने लगे। ओठों में से शब्द बाहर आने लगे अपने-आप। निश्चित से, एक के पीछे एक। ठेले की गाड़ी की तरह। जल्दी ही उनके शब्द समाप्त हुए। चुल्लूभर पानी जैसे सूख जाय। नानाजी ने विद्यार्थी को प्रोब्लम हल करने को दिया। ओंठ भीचकर नाना खामोश हो गये, मुँह के बेस्वाद को चिचोरते हुए।

सदा की तरह नानाजी की नज़र विद्यार्थी के पैरो पर फैली शाल की ओर

गयी। नानाजी को मालूम नहीं था कि उस केसरिया शाल के नीचे कौन-सा भयानक और चमत्कारिक अपंगत्व छिपा हुआ था। वह छात्र कमर के नीचे भुंजा था। उन्हें इतना ही मालूम था कि कमर के नीचे उसके पैर ही नही हैं। उन्होंने कल्पना की कि उसकी रानों से ही पैरों की उँगलियाँ निकल आयी होंगी। कभी उन्होंने ऐसे ही एक भिखारी को गड़ोले पर जाते हुए देखा था। उस समय शरीर में पैदा हुई सिहरन मिटी नहीं थी। उसी तरह अनजाने में शरीर के खून में पैदा हुई सिहरन मिटी नही थी ; बल्कि वहीं स्थिर रूप से जम गयी थी। विद्यार्थी को प्रोब्लम हल करने को देकर नानाजी उन ढँके हुए पैरों की ओर देखते रहते। वह छिपी हुई सिहरन शरीर में सरसराहट उत्पन्न करती थी। फिर वह अधिक आर्द्रता से, अधिक आवेग से छात्र को पढ़ाने लगते, प्रोब्लम समझाने लगते। अभूतपूर्व सुबोधता, मुक्तता और सुन्दरता उनके पढ़ाने में पैदा होती थी। पढ़ाते-पढ़ाते वह तल्लीन हो जाते थे। अन्दर का समूचा शिक्षक अपने समस्त लगाव के साथ उनके मुख से रिसता रहता। उन्हें यह मालूम ही नहीं होता था कि घंटा कब समाप्त हुआ। वह छात्र लूला था लेकिन कमाल का मेधावी था। घर में ही परीक्षा देने की इजाज़त बोर्ड ने उसे दे दी थी। नानाजी उसे पढ़ाते थे, उसकी ज़िद, आकांक्षा और बुद्धि पर लट्टू होकर। एक भी पैसा नहीं लेते थे—केवल आनन्द, सन्तोष और आत्मतृप्ति के लिए।

"सर, यह स्टेप बताइए न !"

नानाजी की खिड़की के बाहर लगी नजर विचलित हुई। उनके चेहरे पर शिकन पैदा हुई। यह अप्रत्याशित था। उन्होंने नोटबुक लेकर प्रोब्लम धीरे से समझा दिया। स्टेप लिख दी। सब यांत्रिक, इच्छा-अनिच्छा के बीच की सीमारेखा पर था—सब हलचल, बोलचाल, पढ़ाना। उसमें हर दिन की स्नेहार्द्रता नही थी, उमंग नही थी। वस्तुतः दृश्य तो हर दिन का था। बैठक भी वही थी। विषय भी वही था। नित्य के प्रोब्लम। खिड़की में रखी सरस्वती की चाँदी की मूर्ति ट्यूब के प्रकाश में रोज़ की तरह चमक-दमक रही थी। हर दिन की भाँति अगरबत्ती की गन्ध कमरे में फैली हुई थी। हर दिन की भाँति उनका विद्यार्थी स्वच्छ, उत्कंठित, हंसमुख बैठा था। रोज़ की तरह वातावरण प्रसन्न एवं उदात्त था, सारा कुछ हमेशा का, हर दिन का था। सिर्फ नाना रोज़ के नहीं थे। वह वेषांतर कर आये थे। बाहर से न दिखने वाला अन्दर का वेषांतर उन्होंने अपने में चोर की तरह छुपा लिया था। अन्दर क्या चल रहा है यह वह बाहर समझने नही देना चाहते थे। किसी को भी। अपने को भी। लेकिन नानाजी ज़रा जल्दी उठे और बोले—"आज के लिए काफ़ी हो गया।" तब छात्र ने पूछा—"सर, क्या तबीयत ठीक नही ?" नानाजी चौंके, बीमार की तरह मलिन से हँसे। "बोले—नही, ठीक है। अच्छा तो मैं चलता हूँ।"

आदत के अनुसार तयशुदा रास्ते से नानाजी मन्दिर में गये। हमेशा की जगह पर उन्होंने चप्पलें निकाल कर रख दीं। घंटा बजाया। मूर्ति को नमस्कार किया। बक्से में पैसे डाल दिये। प्रदक्षिणा की। मंडप के कोने में पत्थर के बैंच पर वह हर दिन के स्थान पर बैठे, बायाँ पैर ऊपर उठाकर। बैंच का ठंडा स्पर्श उनकी रान को हुआ। शरीर किंचित् शिथिल होने पर उनको थकावट महसूस हुई। एक विचित्र अनोखी-सी ग्लानि उनके गालों पर फैली। लेकिन वे ख़ामोश बैठे रहे—गर्भगृह के पत्थर के देवता की भाँति। खुली आँखों से, निश्चल।

आरती की बेला हो गयी थी। चारों ओर के मैदान की ठंडक मंडप में भरने लगी थी। रास्ते पर दीये दूर तक झिलमिला रहे थे। देवालय में भीड़ बढ़ रही थी। गर्भगृह के सामने भीड़ जमा हुई थी—स्त्रियाँ, बच्चे, पुरुष, बूढ़े। घंटा लगातार बज रहा था। गर्भगृह से धूप और फूलों की संमिश्र गंध बाहर उमड़-घुमड़ रही थी। गर्भगृह के द्वार पर शोभा के दीपों की रंगबिरंगी माला निर्जीव-सी लटक रही थी। शोर बढ़ता ही जा रहा था कि लाल पूरा वस्त्र पहननेवाले पुजारी के हाथ की थाली ऊपर गयी। आरती का उद्घोष शुरू हुआ। झाँझ बजने लगी, तालियों का गजर होने लगा लय-ताल के साथ।

नानाजी ने धक्का-सा अनुभव कर बायाँ पैर नीचे किया। लेकिन वह उठे नहीं। उन्हें उठने की इच्छा नहीं हुई। हज़ारों बार वह मन्दिर में आये थे। रोज आ रहे थे। नियम से आरती के लिए खड़े रहते थे। तल्लीन होकर तालियाँ बजा रहे थे। मुँह से आरती की पंक्तियाँ बुदबुदा रहे थे। आरती की पहली झाँझ बजते ही उठकर गर्भगृह के सामने जाने की उन्हें आदत ही हो गयी थी। आज अनेक दिनों से, वर्षों से, उनके लिए वह स्मृति के परे की चीज़ बन गयी थी। लेकिन वह आदत आज अचानक खो गयी, वे बैठे रहे जैसे शक्तिपात हो गया हो। निरीच्छ ठण्ड। काँच की आँख से वे आरती का बेहोश जल्लोश देख रहे थे—पराये होकर। तटस्थतापूर्वक। उस समुदाय का गजर उन तक पहुँच ही नहीं रहा था। किनारे पर लहर टकरा कर ध्वस्त हो जाय, उस तरह वह दूर ही दूर रहकर विलुप्त हो रहा था। उस दूरस्थ अवस्था में उन्हें अपने से ही अचानक भय लगने लगा, अपने एकान्त-असहाय अजनबीपन का। कितने उलझ गये थे वे जामदार की घटना में। इसका भान तगड़े रस्से की भाँति उन्हें कसता गया। इस संसार में वह झिलमिलाने वाला नारंगी रंग का देवालय, वह आरती का उच्च-घोष, वह भक्तों का मेला—उस क्षण इनमें से कुछ भी वहाँ शेष नहीं था। उस सर्द पत्थर के बैंच पर विकलांग-से होकर बैठे नानाजी और पत्नी की हत्या करने वाला बलिष्ठ जबर्दस्त जामदार। हत्यारा जामदार। लेकिन केवल नानाजी ही उस जामदार की गिरफ़्त में कैसे आये? अकेले नानाजी? इस दुनिया में किसी को भी उस जामदार की परवाह नहीं थी। यह देवालय का नुमाइशी भुतहा गिरोह छोड़ भी दें। उसका कोई

सम्बन्ध नहीं था। लेकिन नानाजी के अड़ोसी-पड़ोसी, गली के लोग, स्वयं उनकी पत्नी—किसी को भी जामदार के नृशंस अघोर कर्म की खबर तक नहीं है! उल्टे सब नानाजी को ही पागल कहेंगे। फिर नानाजी को ही क्या पड़ी है कि वे अपने को नाहक कष्ट दें? ऐसी कौन-सी रिश्तेदारी है? कौन कहाँ का यह जामदार! उसकी वह मोटी-मुटल्ली पत्नी मर जाये या ज़िन्दा रहे, उसकी हत्या हो या न हो, और वह हत्या पति द्वारा की जाए या और किसी के द्वारा—नानाजी को क्या लेना-देना था? सही-झूठ को प्रमाणित करने की ज़िम्मेदारी नानाजी क्यों लें? जामदार ने अपनी पत्नी की हत्या की होगी। वह सम्मानपूर्वक जिएगा, दुनिया भर घूमेगा, शायद उसकी उस नाज़ुक सुन्दर बहिन के साथ विवाह करके ब्लॉक में रहने के लिए भी आएगा। लेकिन उसके पचड़े मे नानाजी क्यों पड़े? हज़ारों ऐसे लोग हत्याएँ करके खुले रूप में घूमते होंगे। पत्नियों, बच्चों, माता-पिताओं, भाइयों एवं अन्य किन्हीं की भी हत्याएँ करके इर्द-गिर्द ही विचर रहे होंगे। इस गर्भ-गृह के सामने वाले जनसमूह मे भी ऐसे रक्त-पिपासु हत्यारे घूमते होंगे। तन्मयतापूर्वक तालियाँ पीटते होंगे; ताल पर डोलते होंगे। चार पैस के साबुन से रक्त-सने हाथ धोकर आये होंगे। साफ़, निर्मल हाथों से देवता से करुणा के लिए प्रार्थना करते होंगे। उस जामदार को तो हाथ भी धोने की आवश्यकता नहीं है। खून की बूँद भी उसने बहाई नहीं है। फिर जामदार यहाँ आया हो तो आश्चर्य क्या है? नहीं, वह आया ही होगा। शायद पत्नी की बहिन के साथ विवाह कर सपत्नीक आयेगा—आरती के लिए, देवता के पैर छूने के लिए। दोनों नयी गृहस्थी के लिए देवता का आशीर्वाद लेंगे। फिर नाना को क्या गरज़ पड़ी है कि वह छटपटाते रहें जामदार के लिए? पत्नी को जला करके अगर वह सुख से, मज़े मे रहने वाला है तो नाना क्यों अपने को जंगल में फँसा लें? उनका जामदार से क्या सम्बन्ध है? उसकी पत्नी से भी? बस! बन्द! जामदार का विषय बन्द! घर मे। बाहर, दिमाग मे, मन में—सब जगह बन्द। न अपने से, न दूसरे से यह विषय खुलेगा। उस विषय का दरवाज़ा ही बन्द। जामदार के फ्लैट की तरह बन्द!

आरती का घोष अचानक समाप्त हुआ। पुजारी मन्त्र-पुष्पांजलि बुदबुदाने लगे। गर्भगृह के सामने वाला स्तब्ध मन्त्रमुग्ध समूह विचलित हुआ। नाना अनजाने खड़े रहे। खाली, वीरान। उनकी गर्दन पर, गले के आसपास के पसीने पर ठण्ड का झकोरा चुभ गया। धोती के पल्ले से उन्होंने पसीने से तर-बतर चेहरा पोंछा। सदा की तरह उन्होंने आरती की थाली को छुआ नहीं, दूर से ही नमस्कार किया। चप्पलें पहनकर वह बाहर आये। फैले हुए अँधेरे में कड़ाके की ठण्ड की लपेट में वे आ गये जैसे खींचे गये हों।

जीने की सीढ़ियाँ चढ़कर नाना सीधे अपने फ़्लैट की तरफ़ गये, हड़बड़ी में।

उन्हें पता चला कि जामदार का दरवाज़ा बन्द है, न देखते हुए भी। अपने आप। उस दरवाज़े की ओर जाने वाली नज़र को भी उन्होंने टाला। सीने में धड़कन चालू ही थी कि नानाजी ने अपने फ़्लैट की बैल दबा दी। थरथराती उँगलियों से।

राधाकाकी ने दरवाज़ा खोला। बिना कुछ बोले वे अन्दर जाने लगीं। नाना के ओठों पर प्रश्न आया था कि पुलिस के लोग आये थे कि नहीं। लेकिन नानाजी चुप रहे। आये होंगे तो पत्नी बतायेगी ही। जान-बूझकर क्यों पूछना चाहिए? फिर उस जंगल में क्यों घुसा जाए? लेकिन राधाकाकी कुछ नहीं बोलीं, वह वैसे ही किचन में गयी। नानाजी ने सोफ़े की कुर्सी पर शरीर का बोझ डाल दिया। वह बैठे रहे कि जैसे सारी शक्ति समाप्त हो गयी हो। कमरे की जलती ट्यूब पर पतंगे तड़तड़ा रहे थे। सारी खिड़कियाँ बन्द थी। शाम को अन्दर आयी ठण्डक कमरे में धीरे से पिघल रही थी। बाहर की सारी आवाजें बन्द थी। बाहर जो सन्नाटा था, वह भी अन्दर सुनायी नहीं दे रहा था। सिर्फ़ ट्यूब पर कूदने वाले पतंगों की नाज़ुक तड़फती तड़फड़ाहट। उसके सिवा सब स्तब्ध। सामने वाली दीवार पर लटके कैलेण्डर की ओर देखते हुए नाना स्तब्ध थे। निष्प्रयोजन देखते ही देखते कैलेण्डर के रंग-बिरंगे आँकड़े अपने-आप छोटे-बड़े होने लगे। आड़े-तिरछे नाचने लगे। नाना उन आँकड़ों का नाच देखते हुए वैसे ही बैठे रहे। तभी राधाकाकी ने पुकारा—सूखी आवाज़ में, पराये की भाँति "खाना परोसा है।"

नानाजी देवालय से लौटते थे तो राधाकाकी के हाथ पर प्रसाद धर देते थे। भभूत रख देते थे। दोनों बाहर के कमरे में जरा बैठा करते थे। आँचल से चेहरे को पोंछते हुए राधाकाकी नानाजी की वार्ताएँ सुनती थीं। दिन भर में घटित भावनाओं के बारे में। मिले हुए लोगों के बारे में चर्चा होती। थोड़ा-बहुत मज़ाक भी चलता, गप-शप, आराम के समय के, उतरती उम्र के। ढलती उमर को राधाकाकी मुँह पर आँचल रखकर हँसती थी। नाना मज़ेदार गम्भीरता से बोलते रहते। बीच में ही कूकर की सीटी बजती थी। राधाकाकी हड़बड़ी में अन्दर जाते हुए कहतीं—चलिए, हाथ-पैर धोइए, गर्म-गर्म खाना खा लीजिए! उस दिन ऐसा कुछ भी नहीं घटित हुआ। यह कार्यक्रम उस दिन हुआ ही नहीं। एकदम चार पृष्ठ उलट कर आगे पढ़ा जाये, वैसा ही कुछ हुआ। वह कुछ ऐसा दिन था कि बिना शाम के आये ही रात हो जाये। जो घटित हुआ और नहीं हुआ वह सब नानाजी के ध्यान में आने पर भी उनको बेध नहीं सका। अहसास तक नहीं हुआ। किनारे से बहुत दूर गहरे डूबते व्यक्ति की तरह उनका दम घुटने लगा था। फिर से पुकारा नहीं गया। कुछ समय बाद वह खुद ही उठे। अपना जड़ित शरीर अन्दर घसीट ले गये। पैरों पर पानी डालकर उन्होंने कपड़े बदले। मुंह धोने के

लिए बेसिन के पास आये। ऊपर के आईने में उनको अपना चेहरा दिखा, झुर्रियों-दार, खिचा हुआ, निस्तेज, विवर्ण चेहरा। नीचे धँसी निष्प्राण आँखें, पकी छोटी भौंहें, मोटी-भद्दी नाक, बिखरे-विरले बाल, फटे पोस्टर की तरह चेहरा—विद्रूप भयावह, बिखरा-सा। टोकरी की बासी भाजी की तरह, मृतवत्, शव-जैसा, मरियल, लेकिन नानाजी ने चेहरे पर पानी नहीं डाला। उसे तरोताज़ा नहीं किया। मुँह का फीका स्वाद नष्ट करने के लिए उन्होंने सिर्फ़ कुल्ला किया। नल बन्द कर दिया। पल्ले से हाथ पोंछते हुए वह किचन में मेज़ के पास थाली के सामने बैठे। नीबू का अचार, गर्म भाप उगलता भात, मुलायम चटनी, लहसुन और सहजन की फलियाँ डालकर बनायी हुई चने की कढ़ी। लेकिन यह सब देखकर नानाजी के मुँह में पानी नहीं आया, ओठ ख़ुश्क ही रहे। हाथ यन्त्रवत् आगे हुआ। भात का चरका हाथ को अहसास नहीं करा सका। वे अपना भात सानते रहे। आख़िर उन्होंने भात का एक कौर बनाया। मुँह में डाल ही रहे थे कि चौके के पास खड़े होकर गर्म रोटियाँ बनाने वाली राधाकाकी के शब्द पीछे से आये—
"जामदार आये थे!"

नानाजी का कौर हाथ में ही धरा रह गया। सामने वाली थालियों की लोह जाली में चमकने वाली थालियाँ की ओर वे देखते रह गये। हाथ के कौर को अजाने उन्होंने मुँह में डाल लिया। उनकी शून्य आँखों में एकदम चमक पैदा हुई। मुँह में कौर का अन्नरस अन्दर झरने लगा। कड़वे, ख़ुश्क मुँह में स्वाद के फ़व्वारे पैदा हुए। अन्न का जीवन-रस शरीर में जाते ही थकावट और ग्लानि का मोटा कवच स्थान-स्थान पर तड़कने लगा। शरीर मुक्त, शिथिल, हल्का होने लगा। यह सब होते-होते ही राधाकाकी के शब्दों का अर्थ उनके दिमाग़ में चूने लगा, उनके सुस्त मरियल शरीर में चैतन्य पैदा करने लगा, मानो शव में प्राण फूंके जा रहे हों। नानाजी स्वाद लेकर भोजन करने लगे। भात के कौर पेट में जाने लगे। शरीर में पैदा हुए जोश के साथ ही छोटे बच्चे की भाँति अन्दर ही अन्दर उनमें हँसी उत्पन्न होने लगी। उनकी आँखों मे, ओठों में वह हँसी छलक आयी। आख़िर आ ही गया न जामदार? जायेगा कहाँ? नहीं छूट सकता वह अपनी पकड़ से। उपाय नहीं है उसके पास दूसरा। आना ही पड़ेगा। बड़ा गर्दन तानकर, गुर्राता जा रहा था न अपनी मग़रूरी में। अब आया पैर पकड़ने, अपने पैरों से। नानाजी ने अंग झँझोड़ा, सहजन की फली ओठों में पकड़ी, फली का गूदा तल्लीन होकर चूसने लगे, मननपूर्वक, आकण्ठ।

जामदार के आने की बात कहने पर भी नाना चिल्लाये नहीं, चिढ़े नहीं, गुस्सा नहीं हुए। ज़रा भी स्फोट नहीं हुआ। ज़रा चौंके भी नहीं, आराम से खाना खाते रहे। कन्धों को सिकोड़ कर, कुहनी मेज़ पर टिकाये। हमेशा की तरह।

राधाकाकी में धीरज बँधा। आगे आकर गर्म रोटी उन्होंने नानाजी की थाली

में परोस दी। फिर गाढ़ा घी रोटी पर डाल दिया। नाना का चेहरा हमेशा की तरह ही था। कोरा और खुश्क, कुछ थका-थका-सा।

"थके-मांदे दिखे।"

"कौन ?"

"जामदार।"

"किसलिए आये थे ?"

नानाजी का सीना ऊपर-नीचे होने लगा।

"मिलने के लिए !"

"किससे ?"

"किससे मतलब ?—आपसे ?"

"मुझसे ?"

"हाँ।"

"क्यों ?"

रोटी पर घी पिघल रहा था। उसकी धार थाली में फैली। नानाजी का हाथ थाली में वैसा ही रहा। बीच ही बीच में।

"बताने को।"

"क्या ?"

"सारी वारदात।"

"मुझे क्यों ?"

"अजी, ऐसा क्यों कह रहे हैं ?"

"क्या कहा उसने ?"

"कुछ नहीं, बोले, फिर से आऊँगा। बोले, आजकल मे ही पुलिस के लोग आयेंगे, शायद।" राधाकाकी मेज़ पर हाथ रखकर केवल खड़ी थीं। नानाजी के गुस्से की बू उनको आयी। वह सकपकायी। समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाये। उन्होंने कढ़ी का बर्तन उठाया और करछुल से परोसने लगीं।

"कितनी देर बैठा था ?"

"थोड़े समय के लिए। चाय पी और चले गये।"

"चाय पिलायी तुमने उसको ?" नाना एकदम चीखे। रुंधा हुआ गुस्सा उनकी आवाज़ की खपच्चियाँ करता गया। राधाकाकी सहम गयीं। कढ़ी का बर्तन छूट कर मेज़ पर गिरा—ठन्न से।

"मतलब ?" डर कर वे पीछे हटीं।

"अरी, तुमने उस आदमी को चाय पिलायी ? तुम्हें कुछ अक्ल, लाज है ?" बोलते-बोलते नानाजी उठकर खड़े हो गए। उनकी बुझी नज़र पहली ही बार राधा बाई पर धधकने लगी। जूठन वाला हाथ थरथराने लगा।

"लेकिन हुआ क्या आखिर इसमें ?" राधाबाई के प्राण आँखों में इकट्ठे हुए। बात,

"क्या हुआ ? सुबह तुम्हारी पत्नी मर गयी और शाम को आकर आराम से चाय पी रहे हो ? हरामखोर !" कुर्सी पीछे ढकेलकर नाना चलते बने । उनका नाटा शरीर तेजी से बाहर गया । बनैले सुअर की तरह—थाली में परोसी रोटी वैसी ही पड़ी रही । उस पर घी फिर से जमता जा रहा था ।

नानाजी का गुस्सा राधाकाकी ने देखा था । चालीस वर्षों की गृहस्थी में ऐसी घटनाएँ अनेक बार घटित हुई थीं—गुस्से की, चिड़चिड़ेपन की, संघर्ष की । भोजन छोड़कर भी वे कभी उठे थे । हर बार राधाकाकी ने उनको समझाया था । उन्हें फिर से भोजन के लिए बिठाया था । कभी अनुरोध करके तो कभी विनती करके ।

लेकिन जाड़े की उस अँधेरी ठंडी रात को, किचन के नीले तीखे प्रकाश में राधाकाकी वैसे ही खड़ी रहीं—अकेली, भयभीत, जंगल में रास्ता भूली-सी ।

दूसरे दिन भी नानाजी की दिनचर्या में कोई अन्तर नहीं आया । राधाकाकी की दिनचर्या में भी । दोनों समय पर उठे । मतलब राधाकाकी ज़रा जल्दी । नाना ज़रा देर से । चाय-नाश्ता करके नाना स्कूल के वाचनालय में गये । राधाकाकी घर के काम में व्यस्त हुईं । नानाजी ने दोपहर को घर आकर भोजन किया । कुछ समय के लिए लेटे । फिर दोपहर की ट्यूशन, चाय के उपरान्त । शाम को अपंग छात्र की ट्यूशन । फिर मन्दिर, शाम को घर वापस । तब तक राधाकाकी ने खाना बना लिया था । हर दिन की तरह वह नीचे आँगन में जाकर बैठी थीं, जामुन के चबूतरे पर । दिन भर में दोनों की बातचीत नहीं हुई थी, ऐसा नहीं था । लेकिन 'हाँ' और 'न' तक सीमित । जहाँ हावभाव से बताना असम्भव, वहीं पर शब्द बाहर आये थे । वे शब्द भी धुँधले, अस्पष्ट, शुष्क, खंडित जैसे कि कहीं दूर से आये हों, क्षण-भंगुर बुद्बुदे की तरह । ऊपर ही ऊपर तरंगित होने वाले । क्षणार्ध मे फूटने वाले । दिन भर में दुराव की दीवार पर अबोले का अदृश्य लेप चढ़ता गया । वह दीवार अधिक चामड़ और मजबूत बनती गयी । ऐसा नहीं था कि दोनों दिन भर बिना बोले नहीं रहते हों । कितनी बार वे वैसी अबोले की स्थिति में रहे थे । एक नहीं, लगातार अनेक दिनों तक । नानाजी काम में होने, पेपर के गट्ठर जाँचने में लगे होते तो उन्हें क्षणभर की फ़ुर्सत नहीं मिलती थी । दिन भर वह पेपर्स लेकर बैठा करते थे । खाना-पीना भी मेज़ पर ही । राधाबाई भी अड़ोस-पड़ोस में जाकर बैठतीं । एकांत में बात ही नहीं होनी थी । दिन को भी, रात को भी । पेपर का काम समेटकर नानाजी सोने आते थे तब राधाकाकी की मध्याह्न रात शुरू होती, अतः दिन भर में बात होती ही नहीं थी । लेकिन वह अबोला निमित्त से रहता—यह यदृच्छया, सहज । क्योंकि नानाजी राधाकाकी से बोलते नहीं थे, उसी तरह औरों से भी बात नहीं करते थे । वैसे उनके अन्य काम भी रुके रहते, ट्यूशनें बन्द रहतीं, मन्दिर की हर दिन की फेरी भी रद्द होती, इनकी

दिनचर्या ही बिखरी-बिखरी रहती।

लेकिन उस दिन नानाजी के अन्य सारे कार्यक्रम ढंग से चल रहे थे। शाला, ट्यूशनें, मन्दिर। दिन की समय-सारिणी ठीक-ठीक तय की गयी। हर दिन की तरह। सिर्फ़ उसमें राधाकाकी के लिए स्थान नहीं था। वह पास में होकर भी जैसे कहीं नहीं थीं। दोनों के बीच का दुधारा दिन भर चलता रहा। द्वार खोलते समय, चाय पिलाते समय, भोजन करते समय, धोती की तहें बनाकर देते समय भी···अगणित बार सदा की तरह दोनों एक-दूसरे के पास आकर भी दूर ही रहे। मूक कठपुतली की तरह। सिर्फ़ शाम को मन्दिर से वापस आने पर राधाकाकी ने द्वार खोला तब नानाजी ने पूरे वाक्य में प्रश्न किया, "पुलिस के लोग आये थे?"

"नहीं।"

राधाकाकी अन्दर गयी थीं। इतना ही था उस पूरे दिन का अर्थपूर्ण संवाद। भोजन मौन में ही हुआ। जो थाली में परोसा जा रहा था, नाना खा रहे थे। ऊपर न देखते हुए, कुछ न बोलते हुए। राधाकाकी परेशान-सी खड़ी थीं। थाली में कुछ समाप्त होता था तो परोस देती थीं। सारा संवाद हाथ से ही। सारा मूक अभिनय। बारूद से भरी कोठरी में दोनों विचर रहे थे। शब्द की चिनगारी पड़ने पर एक स्फोट होता था। शब्द ओठों तक आते थे और बुझते थे। नानाजी के ओंठ बन्द थे। चेहरा पिटा-पिटा-सा। राधाकाकी के ओंठ खुले, चेहरा घबराया हुआ। चेहरे न देखते हुए ही भोजन समाप्त हुआ था। हाथ धोकर नाना बाहर के कमरे में कुर्सी पर जाकर बैठे थे। अँधेरे में, दीया न जलाये। किचन से निबट कर राधाकाकी सोने के लिए गयी। किचन का दीया बुझाया गया, दरवाज़ा बन्द हुआ। पैसेज का ज़ीरो पावर का उदास उजाला केवल नानाजी के कमरे तक पहुँचा था। वह प्रकाश था ही नहीं, केवल उजाले का आभास। असल में अँधेरा ही। समूचे घर में अँधेरा। उस अँधेरे में बैठी नानाजी की देह कभी उठी। बिना कुल्ला किये और हाथ-पैर धोये नानाजी सोते नहीं थे, जन्म-भर की आदत थी। नाइटलैम्प जल रहा था। नानाजी अपने आप बिस्तर पर लेटे दीवार की तरफ़ मुँह करके लेटे। परली ओर राधाकाकी थीं। उनका भी मुँह दीवार की ओर ही था, लेकिन विरुद्ध दिशा में। अब तो दीवार को ही देखना था। दीवार के साथ ही बतियाना था। दीवार पर ही अक्षर घोटना था। छोटे बच्चे स्लेट पर घोटते हैं उस तरह नानाजी घोटते रहे। पुलिस कैसे नहीं आयी? परली तरफ़ के पलंग पर राधाकाकी की साँस धीमी चल रही थी। बीच-बीच में ही धीमी गति में खुर्राटे सुनायी दे रहे थे। लेकिन नानाजी का ध्यान नहीं था। उनका घोटना जारी रहा। असल में पुलिस को आज आना ही चाहिए था, आयेगी। जायेगी कहाँ? शायद पोस्टमार्टम की रपट अभी न आयी हो। सारे केस-पेपर्स तैयार नहीं हुए हों। पुलिस का तो खास ढंग है टालमटोल, चलेगा ही। बेकार का झंझट था।

पुलिस नहीं तो क्या हुआ ? किसी की पत्नी जलकर मर गयी, इसमे पुलिस का क्या इंटरस्ट था ? ऐसी अनेक औरतें रोजाना मरती होंगी—कोई जलकर, कोई डूबकर, कोई कुचलकर। पुलिस के लिए तो यह हर दिन की बात थी, हर दिन की दुर्घटना पर वे क्यों रोयें ? लेकिन फिर भी यह मक्खी भिनभिनाती ही रही थी कि पुलिस नही आयी ! नाना की आँखें झपकने लगी, लेकिन नींद नहीं आयी। पीछे कभी वर्षों पहले नाना शहर के बीचों-बीच रहते थे, तब किसी बाड़े के घर में चोरी हुई, घड़ी, रेडियो, जेवर जो भी कुछ था सब चोरी हो गया। रपट देने के बावजूद आठ दिनों के बाद पुलिस आयी थी। पूछताछ के लिए। लेकिन उस समय आठ दिन के बाद आये थे सो ठीक भी था। वह तो सामान्य चोरी का मामला था, यह तो अमानुषिक हत्या थी। लेटे ही लेटे नानाजी का शरीर थरथराने लगा। वह कब सोये पता ही नही चला। लेकिन सुबह उठे तो निश्चय करके ही। दिन भर कही बाहर नही जाना है। घर के बाहर ही निकलना नही है क्योंकि पता नही कैसे उन्होंने पक्का तय कर लिया था कि आज पुलिस आयेगी ही। जामदार की पत्नी की मृत्यु हुए दो दिन बीत गये थे। तीसरा दिन निकला था। तीसरे दिन पुलिस का आना अटल था, अन्यथा पूछताछ का अर्थ ही क्या रहा ? सारे सबूत नष्ट होने पर पूछताछ का क्या अर्थ था ? जामदार बाई की मृत्यु पुलिस की फाइलों में दुर्घटना मात्र होगी। लेकिन वह अनैसर्गिक मृत्यु तो थी ही न ? फिर तो पूछताछ होगी ही, वह नही टल सकती। और वह भी दो तीन-दिनों मे ही होगी। दो दिनो मे पुलिस नही आयी। मतलब तीसरे दिन तो आएगी ही। नाना बाहर गये और ठीक उसी समय पुलिस आ गयी तो चूक हो जायेगी। फिर नानाजी की गर्दन पर सवार प्रेत कायम—भखे व्हैम्पायर की भाँति। पता नही, वह और कितने दिनो तक खून पीने वाला था। उससे अच्छा तो यही था कि नानाजी बाहर ही न निकलें, तो पूरा नतीजा निकल आयेगा। फिर नाना मुक्त, जामदार भी मुक्त। पुलिस भी मुक्त। सारी निकासी हो जायेगी। तत्काल और सदा के लिए।

नानाजी ने उत्साह से निश्चय किया। और वह तर्क-सम्मत है या नही, यह जाँचने की आवश्यकता भी उन्हे नही महसूस हुई। जीवन भर पढाया हुआ गणित और व्यक्तित्व मे घुला तर्कशास्त्र वह भूल गये। ऐन युद्ध मे कर्ण युद्धशास्त्र को भूल गया था। ठीक उसी तरह कर्ण को परशुराम का शाप था। पता नही, नाना को किसका शाप था। वह दिन भर घर मे बैठे रहे—दरवाज़े की घण्टी बजने की प्रतीक्षा मे। सुबह स्कूल नही गये, नीचे भी कहीं नही गये। ले-देकर इस कमरे से उस कमरे तक या कमरे ही कमरे में। इतनी ही उनकी हलचल और आवा-जाही। सुबह का अख़बार उन्होंने शान्ति से पढ़ा। सुबह की चाय, दाढ़ी, स्नान, भोजन, दोपहर की वामकुक्षित—सब एक के बाद एक व्यवस्थित सम्पन्न हो गया।

समय काटना मुश्किल हो गया तो चहलक़दमी की। दोपहर की ट्यूशन की—दसवीं के छात्र की। क्योंकि वह घर में ही थी। लेकिन शाम की पंगु छात्र वाली ट्यूशन टाल दी। यह विरल बात थी। शाम को धूप कुछ फीकी हो गयी थी। बाहर ठण्डक जमने लगी, रास्ते पर चहल-पहल बढ़ी, फिर भी नानाजी घर में ही थे। कमरे की गैलरी में जाकर उन्होंने रास्ते को निहारा। लेकिन दरवाज़ा खोल कर वे बाहर नहीं आये। तयशुदा लक्ष्मण-रेखा को पार नहीं किया। राधाकाकी दोपहर को नीचे जाकर बैठी थीं, बनूताई के घर। फिर नुक्कड़ पर जाकर भाजी ले आयीं। लेकिन नानाजी घर में ही थे—अपने ही कोश में उलझे हुए कीडे की तरह, आत्मबद्ध।

राधाकाकी के साथ बोलना नहीं था। सब बोलना, संवाद अपने से ही। अन्दर ही अन्दर। निःशब्द। दोपहर को भोजन करते समय राधाकाकी ने पूछा—आज तबियत ठीक नहीं है क्या? नानाजी ने सिर्फ़ इंकार में गर्दन हिला दी। शाम को छह बजने पर भी नानाजी ट्यूशन के लिए नहीं गये। गैलरी में खड़े रहे। यह देखकर राधाकाकी ज़रा डर गयी क्योंकि यह ट्यूशन नानाजी के लिए संजीवनी थी। ट्यूशन के बाद मन्दिर में जाकर आते तो नानाजी कितने उत्साह और उल्लास में रहते! वे प्रसन्न, प्रफुल्ल रहते थे। थोड़े से समय के लिए ही क्यों न हो, नानाजी ने कितनी ही बार राधाकाकी को यह बताया था। राधाकाकी ने यह अनुभव भी किया था। अपंग लड़के की वह ट्यूशन नानाजी कभी छोड़ते नहीं थे। आज वह उन्होंने नहीं की। राधाकाकी को लगा कि यह कुछ अनोखी बात है। यह मामला सीधा नहीं है। गैलरी में खड़े-खड़े पैर दर्द करने लगे तो नाना अन्दर आकर सोफ़े पर बैठ गये। निर्विकार। खोये हुए से। मन्दिर में जाने की बात ही नहीं उठ रही थी। पैर ऊपर उठाकर वे बैठे रहे—शून्य में ताकते हुए। फिर राधाकाकी से रहा नही गया। उनके पैर नाहक अन्दर-बाहर आने-जाने लगे। ऐसे ही किचन से बाहर आकर धैर्य के साथ उन्होंने पूछा—"आज मन्दिर में नहीं जाएँगे?"

नानाजी की नज़र सामने वाली दीवार पर थी, सो हटी नहीं। वह नहीं हिले। बोलने की तो बात ही नहीं थी।

"आज अंगारक चतुर्थी है। अगर भभूत और प्रसाद लाएँगे तो मैं उपवास छोड़ सकूँगी।" राधाकाकी ने साहस करके कहा। अनजाने में उनके स्वर में लाचारी प्रकट हुई। नाना चतुर्थी का उपवास तो नहीं ही रखते थे। लेकिन राधाकाकी का उपवास कड़ा रहता था। वह जल भी नहीं लेती थीं। गणपति की भभूत और प्रसाद लेकर चन्द्रोदय के उपरान्त वह उपवास छोड़ती थीं। यह कितने ही वर्षों का उनका नियम था। सैकड़ों बार नानाजी ने उन्हें मन्दिर से भभूत और प्रसाद लाकर दिया था। लेकिन उस दिन नानाजी के वह ध्यान में नहीं रहा। चतुर्थी

का स्मरण तो नहीं ही था, लेकिन यह भी ध्यान में नहीं रहा कि राधाकाकी का उपवास है। उस दिन एक ही मनोमन्थन चल रहा था—कि पुलिस ! पुलिस के साथ भेंट ! वह सिर्फ़ अपने को मुक्त करना चाहते थे—जामदार की गिरफ़्त से। और सारी बातें अवर्जित थीं। उनकी दृष्टि में नगण्य थीं। उसी में राधाकाकी की चतुर्थी आयी, उपवास भी आया, प्रसाद और भभूत भी।

राधाकाकी अन्दर दरवाजे के पास आयी। नानाजी की ओर आँख लगाकर खड़ी रही। नाना वैसे ही स्तब्ध थे। लेकिन राधाकाकी की ओर न देखते हुए भी उनकी नज़र का अनुरोध नानाजी को सहलाने लगा। उनकी तन्द्रा भंग होने लगी। झटके के साथ वह उठे—"ठीक है। कपड़े निकालो, जाता हूँ।"

राधाकाकी की आँख के कोने में पानी जम गया था। भरी आँख से वह अन्दर मुड़ गयी। उन्होंने नानाजी को कोट, मफ़लर, टोपी लाकर दे दी। तेज़ी से कपड़े पहनकर नाना दरवाजे से बाहर आये। तेज़ी से ज़ीना उतरने लगे। कहीं न देखते हुए। इधर-उधर या पीछे। उनकी नज़र केवल सामने थी। तीर की भाँति।

रास्ते पर आने के बाद नाना तेज़ी से चलने लगे। दिन कुम्हलाता जा रहा था। रास्ते पर दीये फीके, मलिन थे। निराकार। नानाजी ने कान मफ़लर से लपेट लिये, टोपी के ऊपर से कसकर बाँधा। बढ़ती ठण्डक की राशि को काटते हुए नानाजी कदम रख रहे थे। दर्शन से मन्दिर में जाते समय वह धीरे-धीरे मुस्काते हुए जाया करते थे। एक तरह की आकण्ठ परितृप्ति और सन्तोष चखते रहते थे—धीरे-धीरे बच्चा जैसे चाकलेट चूसते हुए मज़े में चलता है अपनी ही तन्द्रा में। लेकिन उस दिन एकमात्र वेग ही नानाजी का ध्येय था। देवालय में जाकर तात्काल उन्हें घर वापस लौटना था। खम्भे को छूकर प्रसाद और भभूत लेकर निकल आने वाले थे। उन्हें भान भी नहीं हुआ कि तेजी में चलते समय उनका कमज़ोर दायाँ पैर दर्द करने लगा है। चलने के दौरान शरीर में पैदा होने वाली गर्मी चेहरे तक पहुँच रही थी। ठण्डक की फुटकार गर्म गालों को चुभ रही थी। जल्दी से चलने की धुन में नाना इतने तल्लीन थे कि जब उनके ध्यान में आया कि किसी सवारी में बैठकर चला जाय, तब तक रिक्शा-स्टैण्ड भी फलाँग-भर पीछे छूट गया था। रोज़ की आदत मन्दिर तक पैदल चलने की, इतने वर्षों की। शरीर उस आदत का गुलाम। रिक्शे से जाने की सूझी ही नहीं। अब वापस स्टैण्ड तक जाने में समय बरबाद होगा—दस-पन्द्रह मिनट आसानी से। फिर इस दौड़-धूप या तेज़ी का अर्थ ही क्या रहा? सारा गड़बड़झाला। अन्धेर नगरी मानो। दिन भर में पहली बार नानाजी अपने से ही हँसे—धुँधली-सी हँसी, अपने को ही। और आगे चलते रहे। रास्ते में कोई वाहन मिल जाये तो देखा जायेगा। लेकिन वापस नहीं जाना है। निश्चयपूर्वक नानाजी चलते रहे, जैसे लहर उछलती आगे

चलती चली जाये। उन्हें रास्ते में वाहन नहीं मिला। जो दिखायी दिया भी वह भरा हुआ, दौड़ता चला गया। आखिर मन्दिर का झिलमिलाता कलश दूर से दिखायी दिया। अतः वाहन करने की आवश्यकता भी नहीं रही। गहन अंधेरे में स्वप्नवत् दिखने वाली वह रंग-बिरंगी जगमगाहट नानाजी को सहस्र किरणों से खींचने लगी। पंख होते तो एक प्रचण्ड छलाँग लगाकर नाना उस कलश पर उतर गये होते। इतने वह अधीर, इतने आतुर हो गये थे।

देवालय की जगमगाहट में पहुँचते ही नाना का धैर्य समाप्त हुआ। दर्शन, के लिए भभूत और प्रसाद के लिए वहाँ कितनी बड़ी भीड़ थी। लकड़ी के कठघरे बँधवाये गये थे। क़तारें लगी थीं। क़तार में खड़े होने पर देवालय का ऊँचा मण्डप जैसे शरीर पर ढहता लग रहा था। नाना भीड़ में दब गये। चींटी की चाल से आगे सरकने वाली यह क़तार कब ख़तम होगी और नाना कब घर जायेंगे ? लेकिन इलाज नहीं था। तिल-तिल नानाजी आगे सरकने लगे। पल-पल जा रहे थे और नानाजी की शक्ति खत्म होने को आ रही थी। हर पल के साथ उनकी देह का रक्त एक-एक बूंद करके गल रहा था। एक पल बीत गया तो एक बूंद गिर गयी। नानाजी खड़े-खड़े थक गये। उन्हें पता नहीं चल रहा था कि कितना समय बीता, कितना ख़ून गिर गया। थकावट से क्लान्त धुन में गर्भगृह के पास वे कब पहुँचे, उन्हें समझ में ही नहीं आया। गर्भगृह की रंग-बिरंगी माला उनकी आँखों के सामने हरी नीली चमकी। जुगनुओं की तरह। घण्टी के गरज में उन्होंने विभोर होकर हाथ आगे को किया। हाथ पर भभूत और प्रसाद गिरने पर वह क़तार से फेंक दिये गये। किसी तरह चेहरे का पसीना पोंछते हुए वह मण्डप के उस शोरगुल में से बाहर निकल आये। घिसटते हुए सीढ़ियाँ उतर आये। रास्ते पर आने पर होश में आये। मैं कौन हूँ, मुझे क्या करना है, इसका भान आया और आँखों के सामने का शोर कम हुआ। वह अच्छी तरह सँभले। सामने रिक्शा दिखते ही हाथ ऊँचा करके रिक्शे को रोका और उसमें बैठ गये। अब पहले जैसा पागलपन नहीं। अब रिक्शा है। पाँच मिनट में घर। थकी गर्दन को उन्होंने पीछे सीट पर रखा। राधाकाकी के दरवाज़ा खोलने पर नाना सीधे अन्दर गये। किचन की मेज पर उन्होंने भभूत और प्रसाद रखा और बिना कपड़े निकाले वह हाथ-पैर धोने गये। राधाकाकी कुछ नहीं बोलीं, सिर्फ देखती रहीं। कौतुक और आत्मीयता से। लेकिन नानाजी को उनकी आँखें नहीं दिखायी दीं, उनमें ममता का द्रव्य भी नहीं देख पाये। हाथ-पैर धोने तक राधाकाकी कुछ नहीं बोलीं। नाना में धीरज नहीं रहा। कभी से उन्होंने प्राणों को कानों में लाकर रखा था। गीले हाथों से, कपड़े न निकालते हुए वे किचन में आये। राधाकाकी भभूत और प्रसाद आले में रख रही थीं। पीठ करके खड़ी थीं, देवता के सामने हाथ जोड़कर। नाना के आने की आहट भी उनको नहीं मिली।

"कोई आया था ?"

राधाकाकी को प्रश्न सुनायी नहीं दिया। वह वैसे ही पीठ करके खड़ी थी और तल्लीन होकर बुदबुदा रही थी—केवल ओंठ हिल रहे थे। "पुलिस के लोग आये थे ?" नानाजी की आवाज़ बड़ी तेज़ आयी, चिड़चिड़ी। राधाकाकी तेज़ी से मुड़ीं, जुड़े हाथों से। चौंकी हुई आँखों से नानाजी की ओर देखती ही रहीं। नानाजी उसी वेष में थे जैसे बाहर से आये थे। दूर से आये यात्री की तरह। चेहरा पसीने से तर। सिर पर टोपी। गले में मफ़लर। शरीर पर कोट। सारा सरंजाम वैसा ही था। आँखें विलक्षण त्रस्त।

"अरी, मैं क्या पूछ रहा हूँ ?" नाना फटी आवाज़ में चिल्लाये।

"नहीं"—राधाकाकी का खिसयाया-सा एक धुँधलासा···!

"क्या नहीं ?"

"नहीं आये।"

"यह कैसे हो सकता है ? सच बता रही हो ?" नानाजी की भौंहे एक-दूसरे से चिपक गयी। आँखें संकुचित हुई, शब्दों में दहशत थी।

"मतलब ?" राधाकाकी थरथरायी, आँखों के साथ ओंठ भी फैले।

"मतलब, सच कह रही हो या छुपा रही हो ? तुम उस जामदार से मिली तो नहीं हो ?" मेज पर गीले पंजे टेककर आगे झुकते हुए नानाजी ने एक-एक शब्द गिनकर निकाला, क्रुद्ध, दनदनाता। उनका पसीने से तर गीला चेहरा विद्रूप होकर चमक रहा था।

राधाकाकी नानाजी की ओर देखती रही। किसी विचित्र, अपरिचित, गन्दे जानवर को देखा जाय, उसी तरह। लेकिन उनकी नजर विचलित नहीं हुई। वह धीरे-धीरे स्थिर, कठोर और दृढ़ होती गयी। जमने लगी।

"क्या बोल रहे हैं आप ? हुआ क्या है आपको ? जबान को लगाम भी है कि नहीं ?" राधाकाकी के ओंठ फड़कने लगे। चेहरा चमकने लगा।

नानाजी ने टेबुल पर चमकने वाले टाप पर नज़र स्थिर की। वे अपने ही से हँसे। विद्रूप हँसी।

"तीन दिन हुए—तुम कहती हो, तो पुलिस के लोग नहीं आये···ठीक है।"

"क्या ठीक है ?"

"मुट्ठी गर्म की होगी। घूस दी होगी पुलिस का उसने। मैं ही बेवकूफ़ हूँ।" नाना पुनः हँसे। जोर से। नाटकीय ढंग से। असल में वह छटपटा रहे थे। शिकार हाथ से निकल जाने की छटपटाहट और मुक्ति उन्हें विभाजित कर गयी।

"घूस देनी होती तो क्यों आये होते आपके पास ? उन्हें क्या जरूरत थी ? निरर्थक बोलने में क्या रखा है ?" राधाकाकी की आवाज चुभने वाली थी। कभी तो इसका नतीजा निकालना था, कहीं यह दुष चक्र रोकना था। यह छटपटाहट

रोकनी थी। उनके शब्दों में अन्तिम चेतावनी-सी थी।

"आया होगा वह। उसे लगा मैं उसके चंगुल में आ फँसूँगा। लेकिन फिर आया वह? नहीं! पहचान लिया उसने कि मैं फँसने वाला नहीं हूँ। उसे मालूम हो चुका कि झूठी गवाही मैं नहीं दूंगा। इसलिए पुलिस की मुट्ठी गर्म की उसने। और क्या कर सकता है वह?" राधाकाकी के शब्दों में जो धाक थी उससे नाना चौंके थे। अपनी बात का, युक्ति का स्वयमेव फ़ालतूपन, झूठ उन्हें अनजाने प्रतीत-सा हुआ था। लेकिन वे हठ से, ज़िद से, चिढ़ से बोलते गये। उन्मुक्त-से ढलान पर से घिसटते गये।

"लेकिन आप पुलिस की प्रतीक्षा क्यों कर रहे हैं? आप ही जाकर कहिए न पुलिस से। अगर हिम्मत हो तो! आपको सत्य से इतना लगाव है न? उसके लिए तो आप सिरफिरापन कर रहे हैं। फिर पुलिस की घर में प्रतीक्षा क्यों कर रहे हैं? डरपोक की भाँति?" राधाकाकी के बेलगाम शब्द नानाजी को रौंदते चले गये। आँखों में कोई मिर्च का पाउडर झोंक दे, उस तरह वह हक्के-बक्के से हो गये। मेज़ पर झुके हुए नानाजी उस जानवर की तरह उछले जिसकी आँखें फोड़ दी गयी हों। अन्धेपन से, तैश में। देवता के सामने वाले राधाकाकी के काले साँवले, पिचके हुए चेहरे की ओर बौखला कर देखते रहे, अविश्वास के साथ, निर्निमेष।

'हूँ!' नानाजी के मुँह से एक ही उद्‌गार बाहर आया, वह ऐसे गूंजा जैसे गहरी गुफा से निकला हो। उस उद्‌गार में क्या नही था? रोम-रोम मे सारा द्वेष, चिढ़, वेदना, भय, तुच्छता---राधाकाकी के प्रति और अपने प्रति भी। दोनों के सम्बन्ध के बारे में यह परायेपन का, तटस्थ, प्रभुत्व का उद्‌गार दमकते धारदार फल की तरह उन दोनों के चालीस वर्ष के साझे जीवन को, एकात्म सम्बन्ध को खड़े चीरता हुआ चला गया।

चालीस वर्ष! चालीस वर्षों तक इस विद्रूप, सामान्य, क्षुद्र, बुद्धू, कृतघ्न महिला के साथ गृहस्थी हुई। इसके लिए मशक्कत की, मरते दम तक ट्यूशन कीं, कलेजा फटने को आ जाये इतने पेपर के गट्ठर जाँचे, चालीस वर्ष! इसके लिए जिया, इसके साथ जिया! ये सारी गृहस्थी, यह ब्लाक! क़र्ज़ लेकर लड़के को विदेश भेजा। इसके लिए सब व्यर्थ, सब व्यर्थ! कैसे नहीं पहचाना इसको? कैसे नहीं समझा इसको? यह पत्नी नही है, जीवन रस को खींचने वाला बाँध है, जहरी, चीमड़ बाँध। नाना के मर्दपने को, शिक्षक धर्म को, जीवन भर के सुरक्षित मूल्यों को, सत्य को इसने चुनौती दी। उस समूचे अस्तित्व को ही इसने चुनौती दी जिस अस्तित्व पर वह पुष्ट हुई। मग़रूर, बुद्धू। कृतघ्न, चुनौती!

नानाजी के शांत, विकल शरीर में अचानक एक अननुभूत, अनोखी, राक्षसी शक्ति फैल गयी। अहंकार, अपमान, स्वत्वहरण, मानहानि की एक विलक्षण, क्रूर, अन्ध शक्ति। उसे वह झेल नही पा रहे थे। वे अपने-आप हिले जैसे धकेल दिये

गये हों। तूफ़ान में नाव डगमगा जाए इस तरह झूलते हुए वह आगे सरकने लगे। मेज पर नानाजी की थाली रखी गयी थी। पड़ोस में लकदक करने वाला लोटा, प्याला। पास में ही चटनी, नमक, कचूमर का स्टेनलेसस्टील का बर्तन था। पिछले ही महीने में दोनों जाकर लाये थे। राधाकाकी की पसन्दगी से। चबूतरे पर रसोई के बर्तन ढँके हुए थे। कुकर से मूँग की खिचड़ी की मंद सी गन्ध आ रही थी। देवता के सामने वाली अगरबत्ती की गंध भी महक रही थी। लेकिन यह सब नानाजी भूल गये थे। वह कुछ भी नहीं देख पा रहे थे, कुछ भी भान उन्हें नहीं था। अस्तित्व के सारे चिह्न धुँधले पड़ गये थे, सारे बंधन खो गये थे, मुखौटे तड़क कर टूट गये थे। अब रह गये थे नानाजी—मूल पुरुष नाना। आदिशक्ति के साथ एकरूप हुए, मूलतया मुक्त, मान की अमानुष।

नाना आगे बढ़ गये। राधाकाकी की आँखें फट गयीं। उनका जबड़ा फैल गया। वह पीछे हो आयीं। दीवार से चिपककर खड़ी हो गयी। दोनों हाथों की हथेलियाँ दीवार को नोच रही थी, कुरेद रही थी। लेकिन सीमेंट की कठिन दीवार पर केवल हथेलियों का पसीना चिह्नित हुआ और एक-दो छोटी-सी खरोंचें। बाहर जाड़े की ठिठुराने वाली रात निःशब्द फैली हुई। सारी खिड़कियाँ बन्द, दरवाज़े बन्द। बाहर आवाज़ नहीं थी। होगी तो भी अन्दर नहीं आ रही थी। अन्दर की आवाज़ का बाहर जाना असम्भव था। सारी आवाज़ें बन्द, केवल हलचल—ठंडी, हत्यारी, जंगली हलचल। जानलेवा, जान देने वाली। नानाजी के थरथराते क़दम आगे को जा रहे थे। उनके सिर में दिमाग के टुकड़े करने वाला निर्दय यंत्र ठंडेपन से चक्कर काट रहा था। इसकी आवाज़ बन्द करनी होगी। उनके समस्त जीवन को, व्यक्तित्व को नेस्तनाबूद करने वाली यह जानलेवा आवाज़ बन्द करनी होगी। कैसे? दोनों हाथों के पंजों की पकड़ में खड़े-खड़े इसका हरा-पीला गला दबाया जाय या दीवार पर लटकने वाली ब्रेड काटने की छुरी इसके हृदय में भोंक दी जाय? या गैस छोड़कर तीली जलायी जाए? जामदार की तरह?

राधाकाकी की आँखों में डर की चिनगारियाँ पैदा हुई थी। उन्हें देखते ही नाना आग-बबूला हो गये थे। जलते पलीते की तरह। वे आगे-आगे बढ़ते गये। राधाकाकी दीवार में चिपकी हुई—एकजीव हो गयी हों मानो। रंग-उड़े विद्रूप भित्ति-चित्र की भाँति। आँचल हाथ पर खिसका हुआ। गले की विद्रूप हड्डियाँ ऊपर आयी हुई, सपाट छाती ऊपर-नीचे हो रही थी। चेहरा सफ़ेद-पीला, बिखरा हुआ। उस पर बालों की लटें लटक रही थी। ओंठ निचुड़ गये थे, टेढ़े-मेढ़े। चीख निकलने को थी। लेकिन निकली नहीं। लेकिन आगे बढ़ने वाले नानाजी ने उसे सुना। स्पष्ट, कर्कश, घिन पैदा करने वाली। एक बार, दो बार, तीन बार—नहीं, नहीं—"मना करा, ऐसा मत करो!"

(अनु०—चन्द्रकांत बांदिवडेकर)

सिन्धी

- पोपटी हीरा नंदाणी
- लखिमी खिलाणी

(अनुवादक—मोतीलाल जोतवाणी)

स्त्री और पुरुष

□

पोपटी हीरानंदाणी

"**पास** वाले फ़्लैट में एक मुआ छड़ा-छांड़ आकर रहने लगा है!" कमला ने ताज़ा ख़बर सुनाते हुए कहा।

दो-चार दिन के बाद हमारे नौकर ने बताया, "बीबीजी, बाजू वाले मकान मे जो आदमी आकर रहा है, वह ख़ूब शराब पीता है।"

मैं समझती थी कि ये लोग अविवाहित लड़की के ही पीछे पड़े रहते हैं। लेकिन अब मैंने जाना कि इनके यहाँ किसी विवाह-मण्डप में न बैठे लड़के की भी शामत आती है।

एक दिन उसके फ़्लैट के ठीक नीचे वाले फ़्लैट मे रहने वाली सुशीला मिल गयी। बोली, "अजी, सुनती हो? बग़ल में किस मुए अंग्रेज़ को मकान दिलाया है? मुआ रात के बारह-एक बजे तक डांस करता रहता है। एक तो रिकार्ड बजाने का शोर, दूसरे बूटों की एड़ियों की टॉप-टॉप, तीसरे छोकरों-छोकरियों की खिलखिलाहटें···इन लोगों की अक़्ल क्या घास चरने गयी है कि फ़्लैट ख़रीद-ख़रीदकर उनमें लुच्चों-लफंगों को किराये पर बिठाते हैं?···"

इतने में पड़ोसिन विदुरी भी आ टपकी। छूटते ही बोली, "हाँ-हाँ, फ़्लैट का मालिक ख़ुद सूखा-सड़ा ग़ैर-शादीशुदा आदमी है, तो फ़्लैट मे भी बिठाया है कोई कच्चा-फीका क्वाँरा।"

मैंने कुछ कहा नहीं। उस नये किरायेदार के फ़्लैट का मुँह उत्तर-पूर्व की ओर था और हमारे फ़्लैट का मुँह दक्षिण-पश्चिम की ओर। उसके घर में जो कुछ होता था, मेरी आँखों या कानों की राह से नही गुज़रा था। और फिर बम्बई ऐसे शहर में कोई शख़्स एक ही पथ लिफ़्ट में, बस या ट्रेन में चढ़ता है, या उसमें से उतरता है, तो उसकी ओर एकबारगी नज़र उठ जाती है। नहीं तो, नहीं। फिर चाहे उसके घर का दरवाज़ा और हमारे घर का दरवाज़ा एक-दूसरे के आमने-सामने ही क्यों न हो, उनके बीच चार फ़ुट का ही फ़ासला क्यों न हो।

अभी कुछ ही दिन बीते होंगे कि रात को किसी ने आकर उसके दरवाज़े पर डण्डे से ज़ोरदार खट्-खट् की। इस समय बेहूदा ढंग से कौन उसका दरवाज़ा खटखटा रहा है ? मैं तनिक उत्सुक हो उठी। मैंने अपने दरवाज़े में सेफ्टी-चेन लगाकर, दरवाज़ा ज़रा खोलकर देखा, उस क्वाँरे के ठीक नीचे वाले फ़्लैट में रहने वाला आदमी—सुशीला का पति—एक पुलिस इंस्पेक्टर को साथ लिये खड़ा था। सामने वाला दरवाज़ा खुला तो इंस्पेक्टर एकदम भीतर गया। सुशीला का पति वहीं बाहर खड़ा रहा। पाँच-दस मिनट के बाद इंस्पेक्टर बाहर निकला। भीतर-भीतर से किसी ने उसके साथ हाथ मिलाया, उसे 'गुड नाइट' कहा और दरवाज़ा बन्द कर दिया।

इंस्पेक्टर ने फ़्लैट के अन्दर क्या देखा, जो देखा उसके बारे में कुछ माल-पानी मिलने पर क्या कहा, वह इंस्पेक्टर के धमकाने की आवाज़ से ज़ाहिर था। वह कह रहा था, "आप बेकार ही हम लोगों को रात के समय परेशान करते हैं। क्या था वहाँ ? कुछ भी तो नहीं। चार-पाँच दोस्त आपस में मिलकर गप्पें उड़ा रहे हैं। बस, इतना ही। क्या लोग अपने-अपने घर में बैठकर यह कुछ भी नहीं कर सकते ?"

मैं समझ गयी कि इस बार तो जो हुआ सो हुआ। लेकिन ये पड़ोसी उस कच्चे क्वाँरे को यहाँ से उखाड़कर ही दम लेंगे। पुलिसवाला अपने भारी बूटों की टॉप-टाप करता हुआ और सुशीला का पति अपनी हल्की चप्पल की लाप-लाप करता हुआ—दोनों सीढ़ियाँ उतर गये। बस, फिर क्या था ? पास वाले फ़्लैट में से ज़ोरों की 'हा-हा-ही-ही' की आवाज़ें आने लगी। हमें अपने बाथरूम की आधी बन्द खिड़की पूरी बन्द करनी पड़ी।

सुबह को मालूम हुआ कि उस क्वाँरे के घर से एक जली हुई सिगरेट नीचे गिर पड़ी थी, जिससे रसोईघर के नैपकिन को आग लग गयी थी। कपड़े के जलने की गन्ध से सुशीला की नींद खुल गयी थी। उसने अपने पति को जगाया था और वह ग़ुस्से और हड़बड़ाहट में आकर पुलिस थाने चला गया था।

वह नया किरायेदार सुबह को नीचे गया और उसने शिकायत करने वाले से हाथ जोड़कर माफ़ी माँगी कि वह अपने दोस्तों की ग़लत हरकत के लिए बहुत ही शर्मिन्दा है। आगे कभी ऐसी गुस्ताखी नहीं होगी।

सुशीला ने जब मुझे यह सब बताया, तो मैंने उसे समझाने की कोशिश करते हुए कहा कि कुछ लोगों के स्कूली-जीवन का अल्हड़पन उनकी युवा-अवस्था तक साथ-साथ घिसटता चला आता है। इसीलिए वह उसे अपना बेटा मानकर उसकी नादान हरकतों को माफ़ कर दिया करें। सुशीला ने नाक सिकोड़कर कहा, "मैं भाड़ में झोंक दूं ऐसे लफंगे को।" लेकिन मुझे तो न जाने क्यों ऐसा मस्त-मलंग अच्छा लगा था।

एक रात को हम रात वाला फ़िल्म-शो देखकर लौट रहे थे। हम लिफ़्ट में ऊपर जा रहे थे। उनके साथ एक लड़की भी थी।

वैसे मैं कुछ दिनों से चाह रही थी कि उसे बार-बार आँख भरकर देखूँ, उसके बारे में कुछ ज़्यादा जानूँ। लेकिन उस लड़की को देखकर मैं उसे नहीं, उस लड़की को ही देखने लगी। वह बहुत ख़ूबसूरत थी, जैसे पानी पर थिरकती चाँदनी हो। उसकी आँखें कमल के फूलों की मानिंद थी। मुँह छोटा और लाल था, जैसे कोई पहाड़ी बेर हो। वह भारत की नहीं, किसी और मुल्क की थी। स्पेन की नहीं लगती थी, क्योंकि उसका मुँह तिकोना न था। इटली की भी नहीं थी, क्योंकि उसकी नाक सीधी-सुडौल न थी। नहीं, वह फ़्रांस की भी नहीं थी। उसमें फ़्रांसीसी महिला की-सी नफ़ासत नहीं थी। फिर भी उसमें गजब का आकर्षण था। गोया उसे देखने के लिए ये दो आँखें काफी न थी। वह सच नहीं लगती थी—सच में झूठ की मिलावट से बनायी गयी कोई दिलकश चीज़ थी। मैं उसकी ओर ऐसे निहारती रही, जैसे वह कोई द्रव्य पदार्थ हो और मैं उसे पीना चाहती हूँ।

मुझे ऐसा करते देखकर उसने भी शरारत-भरी नज़र से मेरी ओर देखा। ऐसा लगा, अबकी बार उसके कमल-नयनों में पुतलियों के दो काले भौंरे बन्द नहीं थे, बल्कि वे काले भौंरे क़ैद तोड़कर कमलों के गिर्द मँडरा उठे थे।

हमने घर में प्रवेश कर भीतर से दरवाज़ा बन्द कर लिया। मैंने अपने पति से पूछा, "यह परी का बच्चा यहाँ कैसे आ पहुँचा है?"

उसने हँसकर कहा, "शुक्र है, खुदा का, तुमने ये शब्द मुझसे यहाँ कहे।"

मैं तो जो भीतर हूँ, वही बाहर हूँ। मैंने कहा, "ऐसी ख़ूबसूरती मैंने कभी देखी नहीं। मेरा दिल कर रहा था कि मैं लोगों को बुला-बुलाकर ऐसी अद्भुत सुन्दरता के दर्शन कराऊँ। पर यह लड़की उसके यहाँ आयी कैसे?"

मेरे पति ने बात को टालते हुए कहा, "मुझे क्या पता है, तुम ही उससे पूछो।"

पुरुषों को ऐसी बातों की जानकारी होती है, यह मैं जानती थी। इसीलिए जिद कर मैंने फिर पूछा।

उसने कहा, "जैसे और कई चीज़ों का व्यापार चलता है, वैसे इसका भी एक व्यापार है। हीरे जवाहरात और दुर्लभ मूर्ति-चित्र एक मुल्क से दूसरे मुल्क में भेजे या भिजवाए जाते हैं। इसी तरह लड़कियों का भी काला आयात-निर्यात होता है। यह लड़का अवश्य ही कोई एजेन्ट होगा। वह खुद उसे सूँघ भी न सकेगा, क्योंकि उसे सूँघने के लिए भी बड़ी बड़ी क़ीमत अदा करनी पड़ती है। बस, उसका काम तो यह है कि वह उस परीज़ादी को सुख-सुविधा से रखे और नियत स्थान पर पहुँचा आये।"

मेरी अक़्ल इस बात को पचा नहीं पायी। मुझे कुछ समझ में नहीं आया। क्या ऐसी सुन्दरता का रचयिता ख़रीदारों के लिए ही इसे रचता है?

मेरा जी किया कि मैं उन दोनों से, या उनमें से एक से बातें कर कुछ ज्यादा जान सकूँ। सुबह को उसके यहाँ काम करने वाली महरी से उसके बारे में पूछा, तो उसने कहा कि वहाँ फ़्लैट में कोई औरत-शौरत तो नहीं थी। इसका मतलब यह हुआ कि वह लड़की रात-रात में ही चली गयी थी। दूसरे किसी पड़ोसी को उसकी भनक तक नहीं मिली।

उसके बाद मैंने उस युवा को कई बार लिफ़्ट में अन्दर जाते या उसमें से बाहर निकलते देखा। परन्तु हर बार वह पीठ देकर या मुँह फेरकर आगे बढ़ जाता। अपने फ़्लैट के भीतर पहुंचकर वह अपने पीछे हाथ से दरवाज़ा बन्द कर देता। लिफ़्ट मे एक साथ होना, तो वह अपनी निगाह थोड़ी-सी ऊपर उठाता. शराफ़त से कुछ दूर हटकर खड़ा होता। लिफ्ट का दरवाज़ा खोलकर तब तक अन्दर खड़ा रहता, जब तक मैं उसमें से बाहर न निकलूं। बस, उसके बाद वह अपना रास्ता नाप लेता।

इधर कई दिनों से उसके साथ कुछ घटा नहीं था। घटा भी हो, तो मुझे मालूम नहीं पड़ा। हाँ, एक और घर में कुछ नया ही हुआ था। एक दिन मैंने देखा, मेरे कमरे की खिड़की के सामने वाले फ्लैट की बालकनी में एक दुबली-पतली लड़की चावल साफ़ कर रही थी। कोलाबा के ये मकान एक-दूसरे के इतने नज़दीक हैं कि चाहे-अनचाहे, दूरबीन के बिना ही सामने वाले मकान मे बहुत कुछ देखा जा सकता है। मैं जिस मकान की बात कर रही हूँ, उसकी खिड़कियाँ और दरवाज़ों पर पर्दे लगे रहते हैं। इसीलिए उस मकान की बालकनी में जो कुछ होता है. वही कुछ चाहे-अनचाहे दिखायी दे जाता है।

वह लड़की आँखें उठाये बिना ही, आँखों के छोरों से मेरी उपस्थिति को भाँपने लगी थी। मैं उसे प्रतिदिन किसी न किसी काम में निमग्न पाती थी। कभी वह धुले हुए कपड़ों की बाल्टी ले आती और एक-एक कर कपड़ा सुखाने को डालती, तो कभी सूखे कपड़े उतारकर लपेटती और भीतर ले जाती। एक-दो बार पर्दा परे हो जाने पर मैंने उसे कपड़े इस्त्री करते हुए भी देखा।

कुछ महीने निकल गये। मैंने एक दिन उसके बन्द कमरे में से किसी के मार-पीट करने और किसी के रोने-रिरिआने की आवाज़ें सुनी। वह रो भी रही थी और उसे मार-पीट न करने के लिए अनुनय-विनय भी कर रही थी।

आसपास के घरों में यह रोना-चिल्लाना कोई नयी बात नहीं थी। रात को अगर ऐसी आवाज़े आती थी, तो बालकनियों में कुछ अंधेरे साये उभर आते थे। पाँच-दस मिनट के लिए ये साये वही वह बेबस रुदन सुनते थे और फिर वापस कमरों में जाकर बिस्तरों पर पसर जाते थे।

मैंने अपने पति से कहा —"देखो, ज़रा पता लगाओ कि उस मारवाड़ी के यहाँ वह कौन औरत है। इधर समझौता' के नये नाम से वही पुरानी संस्था

पनप रही है।"

वह गुस्से से बोला, "यह गाँव नहीं, बम्बई शहर है। किसके घर में किसकी मारपीट होती है, हमारा इससे कोई सरोकार नहीं।'

फिर एक आधी रात को उस स्त्री का क्रंदन मुखर हो उठा। चारों ओर कई खिड़कियाँ खुलीं। बालकनियों के दरवाज़े खुले। अचानक ही उस मकान की भी बालकनी का दरवाजा खुला और एक धोतीधारी आदमी उस दुबली-पतली लड़की को बालों से घसीटता हुआ बाहर आया और उसने उसे लातें मार-मार कर फ़र्श पर गिरा दिया।

हमारी इन दो बालकनियों से दो मर्दाना आवाजें उठीं—"साला, क्या करता है? हम अभी पुलिस को बुलाते हैं।" दो औरतों ने उस आदमी को ज़नाना क़िस्म की गालियाँ भी दी।

उस आदमी ने भीतर जाकर बालकनी का दरवाज़ा बन्द कर लिया। वह बेचारी वहीं बालकनी में गट्ठर-सी पड़ी रही और रोती-सुबकती रही।

सुबह को लोग-बाग कानाफूसी करते रहे—वह बंगालिन है। परित्यक्ता है। उसकी सौतेली माँ है। उसने उसे बेच दिया है—वग़ैरह-वग़ैरह। लेकिन उन सब बातों में एक सच अवश्य था कि वह एक बेसहारा स्त्री थी और उसे एक पुरुष ने चारदीवारी और एक छत का सहारा दिया था। वह उस एहसान का बदला उससे न जाने क्या-क्या काम कराकर सूद समेत वसूल करता था।

मेरी बहुत इच्छा होती थी कि मैं उसके लिए कुछ करूँ। लेकिन इन हालात में, मैं कर भी क्या सकती थी? यहाँ धर्म की बेटी और धर्म की बहन की तरह, धर्म पत्नी को भी शायद असली रिश्ते में नहीं गिना जाता। इसीलिए हम स्त्रियों को कई काम अपने आप करने की छूट नहीं है।

फिर भी मैंने अपने पति से लुका-छुपाकर उस लड़की के सम्बन्ध में पूछताछ की। मैंने उसकी दयनीय दशा देखी, और साहस जुटाकर उस पड़ोसी लड़के को एक पत्र लिखा कि अगर तुम इस लड़की से शादी करो, इसे अपनाओ, तो कैसा अच्छा हो!

तुरन्त ही उसका उत्तर मिला। लिखा था, "दीदी, तुम अगर साथ दो, तो वह तुम्हारी छोटी भावज बन सकती है।"

बस, फिर क्या था? मेरी खुशी का ठिकाना न था। अब तो मेरे पति को भी उस काम में मदद देनी पड़ी। पड़ोसियों ने भी खूब मदद की।

आज वे दोनों सुखी गृहस्थ-जीवन व्यतीत कर रहे हैं, और उस गृहस्थी में मेरा अच्छा-खासा दख़ल है।

(अनु०—डॉ० मोतीलाल जोतवाणी)

बोलती गुड़िया



लखिमी खिलाणी

नरीमन प्वाइंट पर स्थित एक गगनचुम्बी इमारत के बीसवें माले पर एक आधुनिक तौर-तरीके के ऑफिस में प्रवेश करता हूँ। रिसेप्श-निस्ट अभिनेत्री-सी लग रही है। मैं उसे सेठ केवलराम को अपने आने की सूचना देने के लिए कहता हूँ और जाकर नरम-नरम सोफे पर बैठता हूँ। सामने आईने में अपनी सिकुड़ी हुई पैंट की सलवटें आँखों को क्षत-विक्षत करती हैं। सोचता हूँ, कम-से-कम आज के दिन तो पैंट को इस्त्री कराता। जेब में से कंघी निकालकर बिखरे-बिखरे बालों को सँवारता हूँ। मुँह पर हाथ फेरता हूँ। मैंने दाढ़ी ठीक ही बनाई है। बूट पर भी अभी कुछ देर पहले एक रुपया देकर पालिश करायी है।

इंटर-कॉम पर से मुँह ऊपर उठाकर वह मीनाकुमारी मुस्कराकर कहती है, "सेठ जी के यहाँ कुछ फिल्म प्रोड्यूसर बैठे हैं। वे थोड़ी ही देर में आपसे मिलेंगे।"

वह अपने ऐसे खूबसूरत चेहरे, दिलकश मुस्कराहट और नपी-तुली आवाज की कीमत महीने में दो ढाई हजार रुपये तो अवश्य ही वसूलती होगी। अगर वह किसी प्रोड्यूसर को पसन्द आ जाए, तो वह उसे सोने-चाँदी में भी तोल सकता है।

इस बार मैं अपने घर से दृढ़ निश्चय करके निकला था कि बम्बई में अपने पुराने मित्र केवल से अवश्य ही मिलूँगा। अभी हाल में मुझे पता लगा कि वह यहाँ है। उसका बैंकिंग का धन्धा है। फिल्मों में उसका ढेर-सा धन लगा है। उसकी गिनती बम्बई के अव्वल नम्बर के सेठों में होती है। प्रायः सिन्धी पत्रों में उसके चित्र नेताओं-अभिनेताओं से आलिंगन-बद्ध स्थितियों में लिये हुए प्रकाशित होते रहते हैं।

केवल की आवाज फोन पर बिल्कुल बदली हुई लगती थी—"नहीं पहचाना? हम लखनऊ में एक-साथ पढ़ते थे। हाँ-हाँ!

मैं मूलो चन्दीरामाणी हूँ । अपने दफ्तर के काम से यहाँ परसों आया । मैंने सोचा, बहुत सालों में तुमसे मुलाकात नहीं हुई है । कहाँ ? तुम्हारे ऑफिस में ? शाम को चार बजे के बाद ? अच्छा·· अच्छा !''

छोड़ो यार तुम्हें क्या जरूरत है, तुम इन सेठों-साहूकारों से मिलो ! वे अपने-अपने बँगलों में खुश हैं । तुम भी अपनी चाल में रूखी-सूखी खाकर अच्छी ही गुजर-बसर करते हो ।

नहीं-नहीं, ऐसा कैसे होगा आखिर, हम छुटपन के दोस्त हैं । हम दो साल हॉस्टल के एक ही कमरे में रहे हैं । ऐसा भी तो हो सकता है कि उसे किसी ईमानदार और काबिल अकाउण्टेण्ट की आवश्यकता हो । या हो सकता है, वह मेरी भागीदारी में कोई छोटा मोटा अलग धन्धा शुरू करना चाहता हो । सुदामा की तरह मेरा भाग्य भी रातों-रात पलट सकता है ।

अब इस उम्र में भला तुम क्या धन्धा करोगे ? आखिर, धन का क्या करोगे ? एक-दो साल में तुम्हारी लड़कियाँ अपनी पढ़ाई पूरी कर नौकरी करने लगेंगी । उन्हें आजादी दो, भले ही वे अपना-अपना कोई जीवन-साथी— बंगाली या पंजाबी ढूंढ़ लें । वैसी भी सिन्धी लड़कों की कीमत चुकाने की त्रिसात तुममें नहीं है, फिर क्यों बेकार ही तुम किसी के आगे हाथ फैलाते हो, सिर नवाते हो ?

ठीक है, ऐसा ही सही । लेकिन किसी दोस्त से मिलने या उससे दुआ-सलाम करने में मेरा क्या जाएगा ?

लेकिन उसके फोन पर बात करने के ढंग से ऐसा नहीं लगता था कि वह तुमसे मिलने के लिए बड़ा ही उत्सुक है ।

मैं अपनी निगाहों में सवाल लिये रिसेप्शनिस्ट का चेहरा ताकता हूँ । वह फिर मुस्कराकर फोन का चोगा उठाती और फोन मिलाती है । क्षण-भर में मुँह ऊपर कर कहती है—हाँ, आप अन्दर सकते हैं । चपरासी एयरकण्डीशण्ड ऑफिस का दरवाजा खोल लम्बा सलाम करता है । उसने भी, लगता है, मुझे कोई नया रंगरूट फि प्रोड्यूसर समझा है । क्या तो ऑफिस की भीतरी सजावट है । सबसे पहले मेरी नजर सामने की दीवार पर लगे, सुनहले फ्रेम में मढ़े, राष्ट्रपति जैलसिंह के चित्र पर जाती है । उनसे मुस्करा कर हाथ मिलाने वाला, गंजे सिर और छोटे द वाला यह मोटा-ताजा शख्स कौन है ? इस ऑफिस में तो कोई भी दिखायी नहीं देता । गोदरेज की गोल घूमने वाली कुर्सी खाली पड़ी है । अचानक ही पास वाली दीवार में एक दरवाजा खुलता है । वही चित्र वाला मोटा-ताजा शख्स तौलिये से मुँह पोंछता हुआ प्रवेश करता है । ''कौन ? मूलो चन्दीरामाणी ! आओ, आओ ! यहाँ बैठो ! मैं तुम्हारा ही इन्तजार कर रहा था । बहुत सालों के बाद मिले हैं । बीस साल तो हो गये होंगे ? तुम तो बिलकुल वैसे-के-वैसे लगते हो । वही कद-काठी । तुम्हारे सिर के बाल भी सालिम हैं । मेरे बाल तो झर गये

हैं, यार !" लगता है, अभी उसे यक़ीन नहीं है, इसीलिए वह अपनी टिण्ड पर हाथ फेरकर तस्दीक़ करता है।

सचमुच अगर वह रास्ते पर मिलता, तो मैं उसे कतई नहीं पहचान पाता कि वह वही केवल है। उसकी छोटी आँखें चेहरे पर बढ़ गयी चर्बी मे गुम-सी हो गयी हैं। उसकी ठुड्डी के नीचे ठड्डी और उसके भी नीचे ठड्डी है। उसने अपने पेट मे भी, लगता है, कोई शाही तिजोरी दबा रखी है।

"अच्छा सुनाओ, कैसी कट रही है? कहाँ थे तुम इतने सारे साल? यार, मैं तो पढाई खत्म कर हांगकांग चला गया था। वहाँ से लागोस, फिर दुबई। अब बम्बई मे पाँव जमाए हैं। तुम्हारे कितने बच्चे है? मेरी पहली पत्नी तो यार मर गयी। अपने पीछे एक अमोल रत्न छोड गयी। दूसरी पत्नी से दो जुड़वाँ बेटियाँ हैं, बस। तुम कानपुर में क्या करते हो? कानपुर तो गन्दगी से भरा शहर है। बम्बई मे कितने दिन रहोगे? मेरे घर पर खाना क्यों नही खाते? मैने जुहू पर एक नया बँगला बनवाया है। अमिताभ बच्चन के बँगले के साथ-साथ···"

अचानक फ़ोन को घण्टी उसकी वाग्धारा मे रुकावट ला देती है—"हाँ-हाँ··· बोल रहा हूँ।··· कौन? हाँ-हाँ, कहो··· किसकी बात कर रहे हो? उसकी इतनी हिम्मत? कल ही साले को अन्दर कराता हूँ—"

"पुलिस कमिश्नर अपना यार है। देखो, अगर उसे छह महीने तक जमानत भी मिले। नही। इस बार उसे सबक कुछ सिखाना पडेगा। कितने भी पैसे खर्च करने पडे। वह उसकी बेटी नही, पत्नी है। हा-हा···हाँ···"

हँसने से उसका गुब्बारे-सा फूला पेट जैसे समुद्र की लहरों पर झूलने लगता है। इतने मे दूसरे टेलीफोन की घण्टी बज उठती है, "एक मिनट ठहरो!" अब वह पहले वाले टेलीफोन पर जोर-जोर से चिल्लाकर बोलता है, मानो वह लन्दन से ट्रंक कॉल हो।

"कौन सुगुनचन्द? हाँ-हाँ, कहो। आज रात का प्रोग्राम? कहाँ से बोल रहे हो? उल्लास नगर से? आज नही आना। सी.सी.आई. क्लब मे एक रिसेप्शन पर जाना है। नही, कोई दोस्त-वोस्त नही। एक प्रभावशाली व्यक्ति है। मुख्य-मन्त्री जी भी वही होंगे। सुनो, एक केस स्कॉच व्हिस्की का तो भेज देना। लेकिन माल असली हो।···"

वह एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे टेलीफोन के तारो मे लिपटता जाता है, सेठ केवलराम। लगता है, उसे मेरी उपस्थिति का भान नही है। बड़े लोगो की यही मासूम अदाएँ है, जो उन्हे बाक़ी लोगो से अलग-अलग करती है।

सब भाग्य की बात है। केवलराम का भाग्य अच्छा रहा। वह जिन्दगी की दौड़ में काफ़ी आगे निकल गया है। कारें, बँगले, नौकर-चाकर, साल मे लाखो रुपये की आमदनी, क्लबो मे बड़े-बड़े लोगों के साथ उठना-बैठना, सरकार तक

पहुँच—क्या कमी है उसे ? वाक़ई, कामयाबी उसके पाँव छूती है।

अपनी क़िस्मत तो जहाँ खड़ी हो गई थी, अड़ियल घोड़ी की तरह वहीं बिदकी हुई खड़ी है। दो क़दम पीछे ही गयी होगी। महँगाई के इस ज़माने में पन्द्रह-सोलह सौ रुपये तनख्वाह से भला क्या होता है ? बच्चों के स्कूल-कॉलेज की फ़ीस, बिजली के बिल, बीमे की क़िस्त, तिस पर दो-दो बेटियों के विवाह कराने की चिन्ता। मेरा तो सदा ही हाथ तंग रहता है।

थोड़ा-सा खाँसकर या कुर्सी को घिसटाकर केवलराम का ध्यान आकृष्ट करना चाहिए। गला सूख गया है।

"यार, चपरासी को एक गिलास पानी लाने को तो कहो।"

केवलराम टेलीफ़ोन के चोंगे से मुँह हटाकर मेज़ पर लगे बटन को दबाता है।

"अच्छा, फिर बात करेंगे। रात को घर पर फ़ोन करना। अब यहाँ सामने मेरा एक दोस्त बैठा है। उसे भी तो एण्टरटेन करना है।···"

चोंगा रखकर चपरासी को फटकारते हुए कहता है, "साहब के लिए जल्द ही पानी ले आओ, फिर चाय-कॉफ़ी भी ले आओ।"

"साहब, किचिन में दूध ख़त्म हो गया है।···"

"अच्छा···तो फिर पानी ले आओ। ठण्डा पानी। देखो, फ्रिज में साफ़्ट ड्रिंक होगा।···"

चपरासी के जाने के बाद वह बहक-बहक उठता है, "सब साले चोर हैं। कोई चीज रहने नहीं देते। आज के ज़माने में किसी पर विश्वास नहीं है। चलो, घर चलते हैं। वहीं गर्म, ठण्डा, सब पीयेंगे। यहाँ बैठेंगे, तो ये फ़ोन भी परेशान करते रहेंगे।"

"नहीं, यार मैं चलता हूँ। फिर कभी मिलेंगे। आज शाम को तुम्हें किसी पार्टी में भी तो जाना है।" मैं उठकर उससे विदा लेना चाहता हूँ।

"पार्टी तो रात को देर से है। चलो, जुहू पर मेरा बँगला तो देखो। सारे शहर कानपुर में तुमने एक भी ऐसा बँगला नहीं देखा होगा। लौटकर जहाँ तुम कहोगे, वहीं तुम्हें उतारकर आगे जाऊँगा। किस होटल में ठहरे हो ?"

केवलराम की मर्सीडीज़ कार मैरीन ड्राइव पर उड़ती जा रही थी। वाक़ई, बम्बई वालों की शान निराली है। आजकल ये व्यापारी और उद्योगपति राजा-महाराजा लोग हैं। क्या तो उनका ठाट-बाट है। मिनिस्टर, गवर्नर भी उनकी बीन की आवाज़ पर झूमते हैं, नाचते हैं।

महालक्ष्मी रेसकोर्स के पास से गुज़रते हुए वह पूछता है, "तुमने कभी रेस खेला है ? मुझे तो दो-तीन बार जैक-पाट लगा है। काले धन को सफ़ेद करने के लिए यही सबसे ज़्यादा सरल और सस्ता तरीक़ा है। अब सोचता हूँ किसी उद्योग में धन लगाऊँ। मुख्यमन्त्रीजी अपनी भागीदारी में बीअर फैक्टरी लगाने पर ज़ोर

दे रहे हैं। नल का पानी पीने के लिए 'सेफ़' नहीं है। आगे चलकर भारत में सभी लोगों को पानी के बजाय बीअर पीनी होगी। उस दिन क्या तुमने अखबार में नहीं पढ़ा ? दूध की बोतल में एक मेंढक निकला। मैं सभी अखबार मँगवाता हूँ। एक कामयाब बिज़नेसमैन के लिए मार्केट इंटेलीजन्स निहायत ज़रूरी है।"

ड्राइवर के अचानक ब्रेक लगाने से मेरा माथा आगे वाली सीट से जा टकराता है। मेरा चश्मा नीचे गिर पड़ता है।

केवलराम ड्राइवर पर गालियों की बौछार करता है—"सूअर, पाजी, अन्धे हो ? देखकर नहीं च ाते ?···"

ड्राइवर भुनभुनाता है—"सर ! एक बच्चे ने अचानक दौड़कर रास्ता पार किया। उसे बचाने के लिए···"

"मर जाने दिया होता साले को। मेरा मुँह क्या ताकता है ? उतरकर देखो, गाड़ी को कोई चोट-वोट तो नहीं आयी ?"

ड्राइवर के कार में से नीचे उतरने पर केवलराम बड़बड़ाता है—"सब साले चोर हैं। कुछ कहो तो यह कैसे आँखें दिखाता है ? इसकी हिम्मत बढ़ गयी है। अब इसे नौकरी से अलग करना पड़ेगा। लुक-छुपकर पेट्रोल की चोरी करता है। आज के ज़माने में किसी पर वि ास नहीं है।"

कार का हॉर्न सुनकर बँगले का दरबान ौड़कर आ, गेट पर लगा हुआ ताला खोलता है। "आओ, सबसे पहले मैं तुम्हें अपना बँगला दिखाऊँ। इस पर साठ लाख लगे हैं। नीचे यह ड्राइंग-रूम, डाइनिंग-रूम और किचिन है। बेडरूम सारे ऊपर हैं। पीछे देखो, कितना बड़ा लॉन है। उधर ही अपना प्राइवेट स्विमिंग पूल भी है।···

"मैंने अब हर रविवार को तैरने का प्रोग्राम बनाया है। डॉक्टरों ने वज़न कम करने को कहा है। दो बार माइल्ड हार्ट-अटैक हो चुका है।"

यह ड्राइंग-रूम तो नहीं लगता, ड्राइंग-हाल लगता है। एक अजायबघर की तरह है। देश-विदेश की बेशक़ीमती अजीब चीज़ों से सजाया हुआ। औरत के नंगे शरीर की संगमरमरी मूर्तियाँ, चीन-जापान से आये मिट्टी के गुलदान, छत से लटकते हुए वीनस के झाड़-फानूस···शीशे के शो-केसों में नक़्क़ाशी किये गये मिट्टी के बर्तन और खिलौने।···मुझे तो ऐसे बेशक़ीमती ईरानी क़ालीन पर अपना गन्दा बूट रखने में बड़ा ही संकोच हो रहा है।

बैरा ट्राली में पिस्ते, बादाम, काजू, पेस्ट्री और मिठाई की दर्जन भर प्लेटें लाकर टेबुल पर सजाकर रखता है। मैं अपने दोस्त की ऐसी मेहमान-नवाज़ी का क़ायल हो गया हूँ। बेकार ही मैं उस पर शक कर रहा था।

"बताओ, क्या पीओगे ? मेरे पास शेम्पेन, शेरी, कोन्याक, मार्टिनी—दुनिया भर की बेहतरीन शराबों की सब क़िस्में मौजूद हैं।"

ये विलायती शराब चखने को मेरा दिल तो कर रहा है, लेकिन मैं उन्हें नोश करने के तौर-तरीके से वाक़िफ़ न होने के कारण चाय की फ़रमाइश करता हूँ। शराब-नोशी का तौर-तरीका न जानने से कहीं मेरी क़लई न खुल जाये।

"जाओ, दार्जिलिंग पत्ती की बढ़िया चाय बनाकर लाओ। वही जो मैं लन्दन से लाया था। देखते हो न, हमें भारत की बेहतरीन चीज़ें भी विलायत से लानी-मँगानी पड़ती हैं। पता है, इस चाय का क्या दाम है? पाँच सौ रुपये पाउण्ड!

"तुम तो काजू-पिस्ते कुछ भी नहीं ले रहे। लो, यह पेस्ट्री ही लो। नहीं भाई, नहीं। तुम्हें बताया तो है, डॉक्टरों ने सख्त मना कर रखा है।

"पहले ह्यूस्टन से दिल की बाइ-पास सर्जरी करा आऊँ, उसके बाद ये सब चीज़ें खाऊँगा। अमेरिका का यह वही अस्पताल है, जहाँ संजीव रेड्डी और ज़ैल-सिंह ने ऑपरेशन करवाये थे। पूरे पाँच लाख रुपयें का खर्चा है। खर्च की कोई बात नहीं। लेकिन सोचता हूँ, मेरे पीछे मेरे कारोबार की देखभाल कौन करेगा? अकेले-सिर काम करता हूँ। आज के ज़माने में किसी पर विश्वास नहीं है। जिन फ़िल्म-प्रोड्यूसरों को मैंने बड़ी-बड़ी रकमें दी हैं, वे सबकी सब हड़प जायेंगे।"

वह घड़ी की ओर देखकर बैरे को कहता है, "जाओ, मेम साहिबा को ऊपर जाकर कहो, पार्टी पर चलने के लिए ठीक आठ बजे यहाँ से जायेंगे।"

"साहब, मेम साहिबा ने कहा है, मैं आज पार्टी पर नहीं चलूँगी, मुझे बुखार है।"

"तुम जाकर उसे कह दो कि वह बुखार की कोई टिकिया ले ले। आज तो उसे चलना ही होगा। अच्छा ठहरो, मैं ही जाकर उसे देखता हूँ। कपड़े बदलकर भी आता हूँ।···तुम बैठो, मैं अभी आया।"

केवलराम बड़ी मुश्किल से अपने भारी-भरकम शरीर को घसीटता सीढ़ी-दर-सीढ़ी ऊपर जाता है। उसे चाहिए कि वह अपने घर में एक अदद लिफ़्ट लगवा ले।

इस घर में बड़ी शान्ति है, न किसी बीमार बूढ़े-बुढ़िया का 'खऊँ-खऊँ' खाँसना और न किसी बच्चे का चिल्ल-पों करना। हमारे यहाँ तो न सिर्फ़ अपने घर के बच्चे, बल्कि आस-पड़ोस के भी बच्चे भाग-दौड़ करते नजर आते हैं, घर को सिर पर उठाये रहते हैं। वे सोफ़ा पर नाचेंगे, पर्दों के पीछे या पलंगों के नीचे लुका-छुपी खेलेंगे। मैं घर पर सजावट की कई चीज़ें लाया, उन्होंने उनमें से एक भी नहीं रहने दी। जब तक वे उन खिलौनों के कल-पुर्ज़े अलग-अलग कर उनका अन्त न ला देंगे, तब तक उन्हें चैन नहीं आयेगा।···

पोर्टिको से, ज़ोर से ब्रेक लगाकर कार खड़ी करने की आवाज़ आती है। बढ़ी हुई दाढ़ी का एक युवा मुझे देखकर भी अनदेखा करने का दिखावा कर, लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ ऊपर चला जाता है। अवश्य ही वह केवलराम का

बेटा प्रकाश होगा। कॉलेज से लौटा होगा।

केवलराम ने तैयार होने में बड़ी देर कर दी है। इस ड्राइंग-रूम में कोई पुस्तक-पत्रिका भी दिखायी नहीं देती। ख़ाली बैठकर उसके ही पन्ने पलटता। बड़े लोगों को सैकड़ों बड़े काम होते हैं। उन्हें पढ़ने का समय ही कहाँ मिलता होगा?

केवलराम बन-ठनकर तैयार होकर नीचे आता है। मैं उसे कहता हूँ, "तुम्हारा बेटा बड़ा ही स्मार्ट है। एकदम फ़िल्म हीरो की तरह।"

"हाँ, फ़िल्म-प्रोड्यूसरों ने भी उसके सिर में यह हवा भर दी है। पढ़ना-लिखना छोड़कर वह अब स्टूडिओज़ के चक्कर काटता रहता है और अभिनेत्रियों के आगे-पीछे घूमता रहता है। मेरी तो यह इच्छा थी कि वह अमेरिका से बिजनेस-मैनेजमेंट का कोई कोर्स कर आये, मेरे कारोबार में मेरा हाथ बँटाये, उसे सँभाले। लेकिन क्या करें, आजकल हवा का रुख ही उल्टा है।"

कुछ क्षण चुप रहकर केवलराम उठ खड़ा होता है। "ठहरो, मैं तुम्हें एक नयी अजीब चीज़ दिखाता हूँ।" वह शीशे के शो-केस में से एक बड़ी गुड़िया निकाल कर लाता है। "यह है—बोलती, गाती और नाचती गुड़िया। अभी पिछले हफ़्ते ही इसे जापान से बीस हज़ार येन देकर लाया हूँ। अच्छा-ख़ासा मनोरंजन है। रेडियो और टी.वी. से यह मुझे ज़्यादा पसन्द है। जब कभी कोई बोर हो रहा हो, तो वह इस गुड़िया का बटन दबाये। यह नाचती है, गाती है और चुटकुले सुनाती है मानो यह हाड़-मांस का जिन्दा इन्सान हो।"

केवलराम बैटरी पर चलती उस गुड़िया का बटन दबाता है। लेकिन गुड़िया ने चलने से साफ इन्कार कर दिया है। अवश्य ही बैटरी डाउन हो गयी होगी। वह उसमें नये बैटरी सेल डालता है। लेकिन बेसूद। वह खफ़ा होकर गुड़िया को उलट-पलटकर झकझोरता है। किसी ने अवश्य ही इसे खराब कर दिया है।···

"बैरा···ए बैरा!"

बैरा थर-थर काँपता कहता है, "हुजूर! मैं आज इस कमरे में आया ही नहीं। अरुणा और करुणा से पूछकर देखें, उनकी कुछ सहेलियाँ आयी थीं। हो सकता है उन्होंने···"

"मैंने तुम्हें कई बार कहा है कि मेरी अनुपस्थिति में ड्राइंग-रूम पर ताला लगा दो। बुलाओ, उन छोकरियों को। उनकी आज खबर लूँगा।"

आठ-नौ साल उम्र की दो जुड़वाँ बहनें सहमी-सहमी सी कमरे में आती हैं।

"किसने तोड़ी है यह गुड़िया? मैंने तुम्हें बताया था कि यह क़ीमती गुड़िया खेलने के लिए नहीं है।" केवलराम अरुणा को बाँह से पकड़कर झकझोरता है।

"मैंने नहीं तोड़ी, डैडी।" अरुणा रुआँसे स्वर में कहती है और अपने को छुड़ाने के लिए छटपटाती है।

"डैडी की सगी । झूठ बोलती है !" केवल ने गुस्से में आकर उसे एक चपत रसीद कर दी है।

लगता है, उस चपत ने उसकी जुड़वाँ बहन करुणा के गाल पर भी लाल-लाल निशान कर दिये हैं। वह चिल्लाकर कहती है, "छोड़ दीजिए दीदी को। आप हमारे डैडी नहीं हैं।"

केवल की हथेलियों पर जैसे किसी ने पिघला हुआ लोहा रख दिया हो। वह अरुणा को छोड़कर पागल-सा चिल्ला उठता है, "निकल जाओ यहाँ से !"

उसका शरीर काँप रहा है। चेहरा पसीज उठा है। वह छाती पर हाथ रखकर हाँफ रहा है। वह अपनी जेब मे से एक टिकिया बमुश्किल निकालकर अपनी जीभ तले रखता है।

काश ! मैं उसकी कोई मदद कर सकूँ। किसी डॉक्टर को ही फ़ोन करूँ। ऊपर से उसकी पत्नी और बेटे को ही बुलाऊँ।

दरवाजे पर एक औरत चुपचाप आ खड़ी है। यही रेणुभाभी होंगी। उसका चेहरा बुझा हुआ है। उसकी आँखों की पुतलियों में कोई हरकत नहीं है। उसने अपना शरीर एक शाल में ढाँप रखा है। अहिल्या की भाँति पत्थर का बुत बनी खड़ी है वह।

छाती पर हाथ धरकर केवलराम सोफ़े पर लेटा हुआ है। लम्बी-लम्बी साँसें लेता हुआ वह शायद यही भुनभुना रहा है कि आज के जमाने में किसी पर विश्वास नहीं है।

मुझे केवलराम की हालत पर तरस आता है। मैं यहाँ से जल्द-ब-जल्द खिसक जाना चाहता हूँ।

(अनु०—मोतीलाल जोतवाणी)

मलयालम

• गोपिक्कुट्टन्

• एम. आर. मनोहर वर्मा

(अनुवादक—वी. डी. कृष्णन् नंपियार)

म्यूटेशन



गोपिक्कुट्टन्

दहलीज पर घण्टी बजी। चन्दा इकट्ठा करने वाले होंगे। नहीं तो भिखमगे। वे भी चालाक हो गये हैं।

कृष्णन मास्टर बहुत धीरे-से दहलीज तक आये।

भिखमंगे नहीं, चन्दावाले भी नहीं। बेलबॉटम पैंट्स और ढीला स्लैक पहने एक युवक खड़ा मुस्करा रहा है।

"क्या बात है ?" मास्टर ने पूछा।

"आप ही को देखने आया हूँ···। मुझे पहचाना नहीं ?"

उन्होंने ध्यान से देखा, "मुझे याद नहीं आ रहा है···। इधर आकर बैठो।"

युवक के चेहरे पर निराशा का भाव। "नही मास्टर, आप मुझे पहचानेंगे नहीं तो मैं नहीं बैठूंगा।"

कृष्णन मास्टर को आश्चर्य हुआ। यह ज़िद्दी अपरिचित है कौन ? लम्बा क़द, स्वस्थ शरीर, थोड़ी भूरी चमकती आँखें।

···ओ···इन आँखा को मैंने कहीं देखा है···कहाँ ? बीस वर्ष की अध्यापकी में कहाँ-कहाँ काम किया है। कितनों से निकट का सम्बन्ध स्थापित किया है। उनमें ऐसी भूरी आँखें किसकी रहीं ?···

"मुझे बिल्कुल याद नहीं आता, बेटा।···मेरे कई परिचित लोग हैं। उनमें से कौन हो तुम ?"

वह बालों को ठीक करके उन्हें देखता रहा। "मेरा घर मेलड्डाटि में है, मास्टर।"

कृष्णन मास्टर को फ़ौरन याद आया।

"महमूद हो !"

"जी, जी हाँ, महमूद ही हूँ। मास्टर मुझे भूले नहीं।" फिर बिना बुलाये ही वह ड्योढ़ी तक पहुँचा मानो ऐसी जगह आया हो, जहाँ आने का उसे हक़ है।

"महमूद, मैंने कभी सोचा नहीं था कि तुम इधर आ आओगे

"...बैठो !"

वह बैठा-बैठा हँस रहा है। कैसी मासूम हँसी है उसके चेहरे पर।

महमूद एकदम बदल गया है। मैली लुंगी और मुंडाए हुए सिर पर तुर्की टोपी पहने रोज़ स्कूल-लैबोरेटरी में जो छोकरा आया करता था, आज वह परिष्कृत युवा बन गया है। बड़ी-सी मूँछें, कन्धों तक फैले बाल और...। पर सिर्फ़ उन भूरी आँखों की चमक और मासूम हँसी में कोई परिवर्तन नहीं आया है।

"सुनोजी। मेहमान आये हैं। कॉफ़ी चाहिए।" मास्टर ने अन्दर की ओर देखकर कहा।

"कॉफ़ी नहीं, चाय !" महमूद ने बीच में टोककर उसी आवाज़ में कह दिया।

मास्टर हँसी रोक नहीं पाये। इतने दिन गये फिर भी इसकी आदत बदली नहीं। वही पुराना खुला व्यवहार और श्रद्धा-भाव आज भी ज्यों-का-त्यों बरक़रार है।

"तो आइए ! चाय तैयार होने तक इसे खा लें।" अन्दर से बुलावा आया। वे खाने के कमरे में गये।

"यह महमूद है...मेलड्डाटि का मेरा शिष्य।" मास्टर ने पत्नी से उसका परिचय कराया।

"इतना कहना काफ़ी नहीं होगा। पुराना सँपेरा जो था...।"

पत्नी ने मास्टर को ध्यान से देखा। यह परम उत्साही युवक कौन है ?

महमूद छोटे चम्मच से सत्तू खा रहा था। मास्टर ने उसकी आँखों की तरफ़ देखा। स्कूल-लैब में स्पेसिमेन जार में पड़े सुवर्ण नाग की चमकती आँखें याद आयीं...।

बहुत कम छात्रों और आठ-दस अध्यापकों वाला छोटा स्कूल। हाईस्कूल के एकमात्र साइंस-टीचर थे कृष्णन मास्टर। छात्रों और सहयोगियों ने उन्हें 'बी. एस-सी.' पुकारा और इसी नाम से स्थानीय लोगों से उनका परिचय भी कराया।

हाई स्कूल के दर्जों में भौतिक विज्ञान पढ़ाने के लिए कृष्णन मास्टर की नियुक्ति हुई थी। पर मेलड्डाटि स्कूल के बी. एस-सी. को सभी वैज्ञानिक विषय पढ़ाने थे। बहुत पहले अपने हाई स्कूल के दिनों में उन्होंने 'एलिमेण्ट्री कनाल', 'फ़ॉल्स फूट', 'स्यूडोपोडिया' आदि पढ़े थे। कभी यह सोचा नहीं था कि इससे बाद में फ़ायदा होगा।

नये हाई स्कूल में हर क्लास लेने में उन्हें काफ़ी तैयारी करनी पड़ी। मज़ेदार पेशा था। बुद्धिमान और समझदार छात्र। गाँव का भोलापन और सीधापन उनसे गया नहीं था। उन्होंने उनसे सब कुछ उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे सूखी ज़मीन बरसात की पहली बूँदों को बटोरती है।

उन्हीं दिनों कृष्णन मास्टर को साँप पकड़ने के काम से सम्बद्ध होना पड़ा।

स्कूल के अहाते के किसी बिल से साँप निकल आया था। लड़के उसे घेर कर पत्थर फेंक रहे थे। यह जानने के लिए कि बात क्या है, मास्टर वहाँ पहुँचे।

साँप के बीच का भाग पत्थर लगने से पिस गया था। वह रेंग नहीं सकता था। मास्टर ने पास जाकर देखा।

छोटा-सा एक गज का पतला सर्प था। बड़ी अजीब रंगीनी थी उसकी। चमकता सुवर्ण जैसा रंग। अन्दर के भागों को बाहर के अर्द्ध-पारदर्शी चमड़े से देखा जा सकता था। फण के बाहर चमकता भूरा रंग। जीभ का भी वही रंग। सबसे बड़ा आश्चर्य उसकी आँखें हैं। पिंगल वर्ण के रत्नों-सी चमकती सजीव आँखें।

सर्प फण उठाने की कोशिश करता और जीभ बाहर निकालता।

मास्टर ने सोचा, ऐसा साँप मैंने पहले कभी नहीं देखा। यह सुवर्ण नाग कहाँ से आया? मेरे पुरखों ने दूध और हल्दी पिलाकर जिन नागदेवताओं की पूजा की थी, क्या उनमें से एक है यह? अनन्त और तक्षक की परम्परा में पैदा हुआ? कैसा सौन्दर्य है इस भयानक जीव का? सर्प-सुन्दरी क्लियोपैट्रा।

यह एक अपूर्व वस्तु है। स्कूल-लैब में इसे सुरक्षित रखें, तो बड़ी सम्पत्ति होगी। बिना नाम के इसे रखा कैसे जा सकता है! मुझे तो इसकी जाति की जानकारी नहीं।

सर्प को ट्रे में डाल दिया गया। उल्टे लेटे उसके नीचे के हिस्से पर भी सुवर्ण का रंग था।

काँच की छड़ से मुँह और पेट को लथेड़ा। मरा हुआ है। बाट-पेटी[1] में चिमटी है। लड़कों से ब्लेड मँगवाया। सर्प का पेट काटकर अन्दर के भागों को बाहर ले आये। चिमटी से दबाये जाने पर साँप ने फण उठाया। मास्टर को डर लगा कि यह डँसेगा तो नहीं! जैसे तक्षक ने परीक्षित महाराज को डँसा था। आखिर उसे स्पेसिमेन बोतल में डाल दिया। चमकते फण को फैला कर रखने में विशेष ध्यान दिया। तनूकृत 'फॉरमाल डिहाइड' डाल ढक्कन से बन्द किया और लैब में खिड़की के पास रखा। इधर से देखने पर साँप के शरीर की चमक से अन्दर की छायाएँ साफ़ दीखती थीं।

जार पर लेबल लगाया—सुवर्ण नाग (अपनी कल्पना में बना नाम)।

साँप को काट-छाँटकर बोतल में रखना स्कूल के छात्रों के लिए एक नया दृश्य था। वैसा चमत्कार दिखानेवाला मास्टर भी उनके लिए नया प्राणी था। लैब की खिड़की खोलने पर सुवर्णनाग को देखने छात्रों की भीड़ जमने लगी।

---

1. बेट-बॉक्स

एक छुट्टी के दिन एक छोटा लड़का मास्टर की खोज करता लॉज में आ गया।

"मैं आपको देने के लिए एक चीज़ लाया हूँ!" वह बोला।

फिर उसने एक छोटा-सा कार्ड-बोर्ड का बक्स बरामदे में रखा। रस्सी से उसे ठीक तरह से बाँधा था। उसके ऊपर बड़े अक्षरों में लिखा था—केयर[1]।

"मिल्क पाउडर है क्या? कहाँ से मिला?" मास्टर ने पूछा।

"केयर! यानी सावधान।···" उसने कहा।

मास्टर ने उसका चेहरा देखा। भरे गालों और भूरी आँखों वाला सुन्दर लड़का। सिर पर तुर्की टोपी।

"तू कौन है?"

"मैं महमूद···मेलड्डाटि में रहता हूँ। छठी क्लास में पढ़ता हूँ।"

"इस बक्स में क्या है?"

"आप ज़रा खोलकर देखिए···। नहीं तो मैं ही खोलूंगा।"

उसने आँगन में बैठकर बक्स खोला और उसे नीचे डाला। उसके अन्दर से कोई भारी चीज़ नीचे गिरी—मानो गोबर हो।

मास्टर ने देखा तो सहम गये।

एक मोटा मण्डली साँप! तिकोने आकार के उसके सिर के नीचे गले पर रस्सी बाँधी है। सारे शरीर पर गोल बिन्दियाँ। जिनके छोर पर भूरे वृत्त जैसे किसी कलाकार ने बड़े ध्यान से खींचे हों। मोटा पेट और छोटी पूँछ।

थोड़ा रेंगने के बाद वह सिकुड़कर बैठ गया। बीच-बीच में जीभ बाहर निकालता है। काली-कलूटी जीभ पर रेखाएँ। पीली आँखें मानो बुढ़ापे का परिचय दे रही थीं। भैंस का-सा मोटा असुन्दर जबड़ा।

मास्टर को लगा कि पैरों से ऊपर तक उन्हें ठण्ड लग रही है। इस 'भयंकर' नाग की हवा लगने मात्र से जान जायेगी।

महमूद अपने मुँड़ाए हुए सिर पर हाथ रखे हँस रहा था। तुर्की टोपी दूसरे हाथ से पकड़ रखी थी।

"साब, यह हमारे घर के घास के झाड़ के बीच पड़ा हुआ था। मैंने मजदूर से रस्सी का फन्दा डलवाया···मास्टरजी को देने···हम इसे भी बोतल में रखेंगे, सर।" वह बड़े उत्साह में था।

मास्टर को कुछ नहीं सूझा कि क्या कहे। कल स्कूल खुलने तक इसे कैसे रखेंगे···?

---

1. अमेरिका से केरल के स्कूली बच्चों को दूध-पाउडर आदि भेंट-स्वरूप दिये जाते हैं। इस योजना का नाम है—'केयर'।

दूसरे दिन सुबह-सुबह महमूद लॉज में आ गया था। साँपवाला बक्स भी वही स्कूल ले गया था। इस छोटे-से बालक का उत्साह देखकर मास्टर भी पिघल गये थे।

उस साँप को बिना क्षति पहुँचाए मारने और फिर उसे काट-छाँट कर बोतल में रखने में भी महमूद उनके साथ रहा।

अब लैब की खिड़की खुले तो बोतलों में दो साँप देख सकते हैं।

वही शुरुआत थी। उसके बाद पास में कहीं भी साँप दिखायी पड़े, तो उसे मारकर स्कूल पहुँचाने में लोगों और छात्रों का उत्साह बड़ा। लोगों ने यह खबर फैलाई कि बी. एस-सी. मास्टर अच्छा संपेरा है। कितने प्रकार के और कैसे-कैसे बड़े और रंगीन साँप हैं। उनके नाम और वैज्ञानिक नाम मास्टर को मालूम नहीं थे। फिर भी जितने साँप मिले उन्हें बोतलों और अन्य पात्रों में डालकर अपनी कल्पना के अनुसार नाम दिये।

लैब में कोई साँप ले आये तो महमूद तुरन्त वहाँ पहुँच जाता। जब तक उसे बोतल में डाल न दिया जाता, तब तक वहीं रहता। हर नये साँप को स्पेसिमेन जार में डाल बन्द कर दिया जाता और वह दूर खड़ा होकर उसे देखता।

"अब बीस हो गये। हमें एक सौ चाहिए, मास्टरजी।"

"दसवीं पास करके तुम सँपेरे हो जाना महमूद।" एक बार मास्टर ने कहा।

"मास्टर ने अभी से मुझे ऐसा नाम दिया?" उसने खुश होकर पूछा।

महमूद का काम सिर्फ़ यही नहीं था कि दूसरो के लाये साँपों को ठीक रखने में सहायता दे। स्कूल के संग्रह की विशिष्ट वस्तुओं में से भी कुछ उसी की लायी हुई थीं।

उस बड़ी बोतल में घोल में डूबा सफ़ेद अंगूर-गुच्छ अपूर्व वस्तु था। नींबुओं के आकार के वे साँपों के सफ़ेद-गोल अंडे थे। दस-बीस होंगे। वे परस्पर मिले हुए थे। उनका बाहरी चर्म कच्चा ही था। एक रोज़ महमूद काग़ज़ में लपेटकर ले आया था उन्हें। उनमें से एक को भी तोड़ने की हिम्मत मास्टर में नहीं आयी। सब को बोतल में रखकर घोल उँड़ेला, दूसरी बोतल मे पंख उठाये लेटा जीव साँप नहीं था, पंखवाला गिरगिट था। वह भी महमूद की सम्पत्ति था।

मास्टर को सबसे ज्यादा चकित करने वाला प्राणी पास की बोतल में झींगे की तरह थोड़ा मुड़ा हुआ पड़ा था। एक रोज सिगरेट की डिबिया में उसे ले आया था महमूद। एक फुट लम्बा और अँगूठे-सा मोटा। राख के रंग के शरीर पर छोटी काली बिन्दियाँ, जिनके छोर गोरे थे। मुँह और सिर को पहचान नहीं सकते। वह सिगरेट की डिबिया में सिकुड़ा पड़ा था मानो राख के बीच कुत्ता लेटा हुआ हो।

मास्टर ने उसे स्पेसिमेन जार में डाल दिया। बिना किसी परिवर्तन के वह

उसके अन्दर भी सिकुड़ा रहा। एक बार सिर उठाकर देखता तक नहीं।

"मरा हुआ है क्या महमूद ?"

"जी नहीं…जरा देखिए !" उसने कांच की छड़ से उसे कुरेदा। वह सिर उठाकर मुंह खोलने लगा। लाल मुंह। अन्दर विषैले टेढ़े दांत।

"हम एक बात करें, मास्टर ! इसे काट-छांट न कीजिए। यह तो बिल्कुल छोटा है।"

"ठीक, यही ठीक रहेगा !"

बोतल के ऊपर बड़ा गिलास फनल रख उससे तनूकृत घोल उँडेला।

हाय मां ! कैसी घबराहट थी उस प्राणी की। उस मारक द्रावक में वह उठता-गिरता था। कितनी देर तक उसका मृत्यु-पराक्रम जारी रहा।

मास्टर को दुख हुआ, कैसा पाप है यह !

महमूद बड़े ध्यान से उसको देखता रहा था। एक हाथ से वह अपना सिर खुजला रहा था। उसकी आँखें चमक रही थीं।

ऐसे अवसर भी आये, जब महमूद के उत्साह के आगे कृष्णन मास्टर हार मान गए थे।

एक दिन वह किसी साँप की हड्डियाँ लपेटकर ले आया। "मास्टरजी, हम इसे भी जोड़ रखेंगे। देखने में मजा आयेगा।"

सैकड़ों छोटी-छोटी हड्डियाँ। इन्हें कैसे जोड़ दूं ? कृष्णन मास्टर को उसकी जानकारी नहीं थीं। पर महमूद के सामने उसे कबूल करने का संकोच था।

"ठीक है। समय मिलने पर देखा जायेगा।"

हड्डियों का पैकेट अलमारी में रखा। मास्टर ने सोचा कि कभी यह काम भी कर पाऊँगा।

"मास्टरजी, उन हड्डियों को हम जोड़ देंगे।" महमूद ने दो-एक बार याद दिलायी।

"महमूद, मेरा सिर्फ़ यही काम नहीं…अभी कहे देता हूँ।" मास्टर ने नक़ली गम्भीरता दिखायी।

उसने पल-भर उनकी आँखों में देखा। फिर धीरे-से लैब से चला गया। उसका चेहरा उतर गया था।

फिर दो दिन उसे देखा नहीं। मास्टर ने चपरासी को भिजवाकर क्लास में उसकी पूछताछ की।

महमूद जब आया, तो पहले से ज्यादा उत्साह था उसमें।

"क्या हुआ भई, दो दिनों से तुम दिखायी नहीं दे रहे ! कहीं बीमार तो नहीं पड़े थे ?" मास्टर ने उसका कन्धा झटका।

"नहीं जी, बीमार नहीं हुआ था। सोचा कि मेरे आने पर आपको तकलीफ़

होगी।"

"सिर्फ़ तेरे न आने की तकलीफ़ रही मुझे।"

मेलड्डाटि स्कूल के लैब में दीवार से लगी अलमारी में नीचे के खाने में शायद आज भी कागज़ का वह पैकेट पड़ा हुआ होगा—महमूद की लायी हड्डियाँ।

कृष्णन मास्टर का साँप-विज्ञान सिर्फ़ एक वर्ष के लिए जारी रहा।

उस साल गर्मी की छुट्टियों में उनका तबादला हो गया—वेण्डडरा को।··· फिर कितने-कितने तीरों से होकर बहे···आखिर चावक्काट में समुद्र के किनारे मछुओं के पास मक्खियों के पहल में आ पहुँचे हैं। यहाँ भी स्थायी नहीं। यहाँ से भी बह जायेंगी।

इसी बीच कितने साल बहते रहे। किसी समय वह ऐसे अध्यापक थे, जो साँप को बोतल में डालकर अपने छात्रों को ललचाते थे। आज उस खोये स्वर्ण नाग का स्मरण करने से मन अशान्त हो जाता है।

कृष्णन मास्टर ने सोचा नहीं था कि कभी एक दिन उनकी खोज में चावक्काट के इस किराये के घर पर उनका एक प्रिय शिष्य महमूद आ जायेगा।

अपने सामने बैठे पकवान खाने वाले महमूद की आँखों में देखा तो मास्टर की स्मृति में मेलड्डाटि का स्कूल, वहाँ की लैब में बोतल में पड़ा सुवर्ण नाग और उसकी चमकती आँखें तैर आयीं···।

महमूद भी उन्हीं दिनों को याद कर रहा था। उसने एकाएक पूछा, "यहाँ समुद्री साँप तो मिलेंगे···आपने उन्हें प्रिज़र्व किया है?"

उन्हें जल्दी कोई उत्तर नहीं सूझा। वह विचार निराशाजनक जो ठहरा।

"महमूद, मैंने वह आदत तो कब की छोड़ दी!"

"क्यों? क्या हुआ मास्टरजी ऐसा क्यों···?"

"क्या बताऊँ?"

"मेलड्डाटि से मैं बड़े-बड़े स्कूलों में गया था। वहाँ जन्तु-विज्ञान पढ़ाने वाले दूसरे अध्यापक थे। इससे मेरा साँप-विज्ञान बन्द हो गया।"

"उससे क्या मास्टरजी, एक बार जो शौक़ पैदा हुआ था, उसे जारी रखा जा सकता था।" उसे मास्टर की उदासीनता देखकर निराशा हुई।

"सिर्फ़ उसी कारण से नहीं महमूद। मैं जहाँ भी गया, कहीं भी तुम्हारे-जैसा शिष्य मुझे नहीं मिला। अकेले मैं कर नहीं सकता था साँप पकड़ने का काम।"

महमूद का मुँह लाल हो गया। क्या मैंने उसकी बहुत अधिक तारीफ़ की?

"···फिर भी, मास्टरजी, उस दिन मेलड्डाटि से जब आप तबादला होकर गये, तो मुझसे एक शब्द भी कहे बिना चले गये!" उसके शब्दों में छोटे बच्चों की-सी शिकायत भरी थी।

"वो सब जल्दबाज़ी में हो गया। किसी से मिलने या विदा लेने का अवसर न मिला। ख़ैर, अब तुम क्या कर रहे हो ?" मास्टर ने विषय बदलने के लिए पूछा।

"मैं क्या कर रहा हूँ, आप ही बताइए !" वह वही पुराना महमूद बन गया। उसे उत्साह फिर से प्राप्त हुआ।

मास्टर थोड़ी देर सोचते रहे।

"तुम अब कालीकट के बड़े बाजार में अनाज के थोक व्यापारी होगे या गल्फ़ में किसी तेल-क्षेत्र के निरीक्षक हो।"

महमूद ठहाका मारकर हँसा। लगातार उसकी आँखों से पानी आ-आकर गालों से होकर बहने लगा। फिर भी उसकी हँसी बन्द नहीं हुई।

मास्टर भी हँसे बिना रह नहीं पाये।

पत्नी रसोईघर से आ खड़ी हुई। ये कैसे गुरु-शिष्य हैं !

"आपसे ग़लती हो गयी मास्टरजी ! मैं आज भी सँपेरा ही हूँ···अब भी साँप की खोज वैसे ही कर रहा हूँ जैसे पहले कर रहा था।" अपने आँसू पोंछकर वह हँसने लगा।

उसके कहने का अर्थ मास्टर की समझ में नहीं आया।

"मैं रिसर्च कर रहा हूँ। यूनिवर्सिटी में···।"

"ओ ! मैंने सोचा कि तुम एक सामान्य मुसलमान की तरह बड़े व्यापारी हो गये होगे।"

"ऐसे नहीं चलेगा···मैं आपको नहीं छोड़ूँगा, भले ही आपने मुझे छोड़ दिया हो।"

मास्टर ने उसकी चमकती आँखों को भीगते देखा।

"जानते हैं, मैं क्या रिसर्च कर रहा हूँ ? 'विष की मेडिसिनल वैल्यू' पर।"

कृष्णन मास्टर को आश्चर्य हुआ। साथ ही गर्व भी। इस युवा को मैंने ही राह दिखायी थी। मुझ-सा अनभिज्ञ !

"महमूद, अब कहाँ से आ रहे हो तुम ?"

"मैं आप ही से मिलने आया हूँ। मैंने खोज निकाला कि आप यहीं हैं। मैंने निश्चय किया है कि आपसे मिलकर ही मैं अपनी थीसिस सबमिट करूँगा।"

मुझे अल्पज्ञानी और रिसर्च थीसिस में क्या सम्बन्ध ? कृष्णन मास्टर सोचने लगे।

"मैं आपको एक बात बताऊँ। हम त्रिचूर म्यूज़ियम तक चलें ?" महमूद ने एकाएक कहा।

"बात क्या है ?"

"वहाँ कई साँपों को पाल रखा है। उनमें एक वह भी है जिसमें हमारी

रुचि है। आपको वह सुवर्ण-नाग याद है, जिसे आपने प्रिजर्व किया था। वैसा एक त्रिचूर मे है—जिन्दा।"

मास्टर ने उस पुरानी घटना को याद किया। स्कूल के अहाते के झाड़ों से निकले सुवर्णनाग पर लड़के पत्थर फेंक रहे थे। साँप के अर्द्ध-पारदर्शी शरीर से रोशनी आ रही थी···पिंगल वर्ण की आँखें रत्न की तरह चमकती थीं···।

कैसा सुन्दर दृश्य था वह!

"मास्टर जी, क्या सोच रहे हैं? हम जायेंगे?"

"नहीं महमूद, मुझे अब इन बातों में रुचि नहीं। अब तुम समझ गये होगे कि सुवर्ण नाग नाम तक मेरे अज्ञान की उपज था।"

महमूद हँसा।

"अज्ञान नहीं मास्टर जी, सचमुच वह सुवर्ण-नाग ही है। वह एक म्यूटेशन है। प्रकृति का एक प्रयोग। जन्तुओं के गठन में सामान्य से एक क़दम आगे। गोरे कौओं और गोरे बाघों के बारे में आपने सुना है न? गोरा मयूर और भूरे हाथी भी हैं। मानवों में भी भूरे रंग के लोग हैं न? ये सब अलबिनो हैं, जिनमें ऐसा पिगमेण्ट नहीं, जो स्वाभाविक वर्ण दिलाता है। इसी प्रकार अन्य म्यूटेशन भी हैं। चमकता सुवर्ण-नाग एक 'अलबिनो' है। उस समय हमें इसका पता नहीं था। विज्ञान के अध्ययन में नाम उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितनी वह रुचि है, जो प्रकृति के छोटे परिवर्तन को भी ध्यान से देखती है। यह रुचि हमने मेलड्डाटि के स्कूल की लैब में बनाये रखो···।" उसने बातें जल्दी से खत्म कीं। फिर मास्टर का चेहरा देखकर हँसता रहा, नादान बालक की तरह। अपने अध्यापक के सामने आवेगपूर्वक अपना बुद्धि-वैभव दिखाने की लज्जा उस हँसी मे झलकी।

···क्या यही वे दिव्य सर्प हैं जिनकी पूजा-आराधना अपने पूर्वज किया करते थे? सिर्फ एक म्यूटेशन? कृष्णन मास्टर सोचने लगे। अनन्त भी एक गोरा सर्प था।

"हम त्रिचूर जायेंगे जरूर। सुवर्ण नाग को एक बार और देखकर अध्ययन करेंगे···।"

"नहीं महमूद। तुम जाकर उसे देख लो और थीसिस पूरी कर लो।"

महमूद बिना कुछ कहे बाहर देखता रहा। शायद निराश हुआ होगा।

"थीसिस सबमिट करके मैं फिर आऊँगा। तब हमें एक और जगह जाना होगा। 'ना' मत कहिएगा।" उसके शब्दों में प्रार्थना का स्वर था।

"वह कहाँ? सुवर्ण-नाग और भी है क्या?"

"जी हाँ, मेलड्डाटि स्कूल की लैब में उस दिन मास्टरजी ने जो प्रिज़र्व किया था···हम दोनों साथ वहाँ जायेंगे। वहीं से हमारी अध्ययन-यात्रा शुरू हुई थी।"

उसकी आँखें चमकीं।

ठीक है। मेलड्डाटि स्कूल की उन पुरानी सम्पत्तियों को एक बार फिर देखना चाहिए। वहाँ महमूद और मेरे द्वारा जमा की गयी विशिष्ट वस्तुएँ हैं।

महमूद को विदा करने कृष्णन मास्टर सड़क तक गये। बस-स्टॉप की तरफ़ जाते उस युवक को देखते हुए मास्टर को अपनी नौकरी पर गर्व हुआ।

···अध्यापक हुए कई वर्ष हो गये। हजारों की तादाद में छात्रों को पढ़ाया। जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उन्हें फिर देखा। बस-कण्डक्टर, अध्यापक, बाबूजी, बीड़ी बनानेवाला, मजदूर, बेरोजगार···।

एक ऐसे भौतिक विज्ञान को मैं बना नहीं पाया, जो ज्ञान की अधित्यका पर चढ़ रहा हो। तो क्या, अपने अज्ञान की प्रेरणा से एक ऊँचा जन्तु-विज्ञानी बन रहा है? अज्ञानी की छाया में पला ज्ञानी!

शायद यह भी प्रकृति का एक तमाशा होगा—एक और म्यूटेशन!

(अनु०—वी० डी० कृष्णन नंपियार)

होश न आने तक बनू के पास बैठे रहे। भूख-प्यास सब ग़ायब। पोते के लिए इतना गहरा आकर्षण। पत्नी या बेटों के लिए भी कभी ऐसा तो नहीं हुआ।

तेरह घंटे बाद बनू को होश आया।

नरोत्तम को देख एकदम क्षीण स्वर में कहा—"बाबा! मेरे एक पाँव पर चक्का चढ़ गया। दूसरा बिलकुल ठीक है।"

बनू ठहरा राकेश शर्मा के ज़माने का बच्चा! महाशून्य का आदमी, इस धरती का माटी-गारा पाँवों में नहीं लगाना चाहता।

पोते की बात सुन नरोत्तम छलछला आये।

उन्हें उसी रात की गाड़ी से दिल्ली जाना था। वहाँ से जाते हरिद्वार। ट्रेन चली गई। छुक्-छुक् भी उन्हें सुनाई पड़ रही थी गाड़ी की। मगर ट्रेन पकड़ने की कोई ललक अन्दर नहीं रह गई थी। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की तरह बनू का आकर्षण उन्हें बाँधे रहा।

अगले दिन बनू ने पूछा—"बाबा! आप कब जायेंगे तीर्थ? मैं तो क्रिकेट खेल न सकूँगा। बैट लाने की ज़रूरत नहीं। पकड़ कर चलने के लिए एक अच्छी-सी बेंत की लकड़ी लेते आना।"

नरोत्तम ने कहा — बलि को पाताल में दबाये रखने के लिए विष्णु का एक पाँव ही काफी था। एक पांव बहुत है। इंद्रियातीत जगत में जाने के शौकिया सुख के बजाय तेरे पास रहने में आनंद है—मैं तीर्थ नहीं जा सकूँगा।

नरोत्तम की बात सुन बनू को यों ही हँसी आ गई।

(अनु०—शंकरलाल पुरोहित)

कॉलोनी की एक सुबह

□

एम. आर. मनोहर वर्मा

सबसे आगे थे जोसफ मात्यु। प्रोफ़ेसर। मुटापा कम करने वे सुबह (खाली पेट) गिलास-भर पानी पीकर दौड़ते थे। तोंद कुछ बढ़ी है। बीवी रोज़ शिकायत करती है। उसने पहले ही दौड़ने का सुझाव रखा था। पहले तो संकोच के मारे दौड़े नहीं। फिर डॉक्टर को कहना पड़ा—तोंद कम करनी हो तो दौड़ना ही होगा। तोंद यों बढ़ जायेगी तो···। अश्लील बात के लहजे में बीवी कह रही थी···। पूरा न कहूँ, तो वही ठीक होगा।

कॉलोनी को घेर कर दौड़ना। यह निश्चित नहीं कि कितनी बार दौड़ना है। हाँफने और पसीना आने तक। शुरू के दिनों में तकलीफ़ हुई। रोज की दिनचर्या में परिवर्तन। सवेरे उठने पर बिना दूध की कॉफ़ी···फिर अखबार···फिर शौच—यही तो दिनचर्या थी।

उन्होंने परवाह नहीं की। अब तो दो महीने बीत चुके। तभी आदत बन गयी है। अगर पूछा जाये कि तोंद कम हो गयी है···तो इसका उत्तर देना बीवी का फ़र्ज है। वह कहती कि कम हो रही है।

अच्छा हुआ।

इस कॉलोनी में पन्द्रह घर हैं। नाम है गांधी कॉलोनी। बोर्ड पर अब गांधी नहीं। 'गाड़ी' ही है। गांधी हो या गाड़ी, दोनों ठीक हैं।

परती ज़मीन थी। बीस घर बनाने की योजना थी। पन्द्रह बन गए तो मज़दूरों ने झंडा उठाया। बाक़ी पाँच को छोड़ दिया। परती ज़मीन अभी बाक़ी है। ज़रूरतमन्द लोग अब भी घर बना सकते हैं। गांधी के बाद नेहरू, इन्दिरा और राजीव के नाम पर कॉलोनियाँ आ गयी हैं तो अब इस ओर देखेगा कौन ?

पन्द्रह घरों को घेरकर एक साफ़-सुथरी सड़क। दौड़ने की खूब सुविधा है। कंक्रीट-लगी सड़कें। ऊपर तारकोल भी पोता है। पानी बरसने पर भी फिसलेगा नहीं।

रंजि नामक विद्यार्थी, जो यूनिवर्सिटी-मीट में दौड़ने की तैयारी कर रहा था, प्रोफ़ेसर के पीछे था।

प्रोफ़ेसर ने देखा—

यह भी एक तरह की पढ़ाई है। दौड़ने का अभ्यास। पैरों के वेग और लम्बाई-चौड़ाई का अभ्यास।

उसका अरमान था कि इस बार वह यूनिवर्सिटी का कप्तान बनेगा···पर बनेगा नहीं। फ़िज़िकल एजुकेशन के प्रोफ़ेसर नरेन्द्रन् के मामा का लड़का भी तैयारी कर रहा है। अब तो सब बातों पर ऐसा ही प्रभाव अक्सर पड़ता है।

प्रोफ़ेसर ने फिर मुड़कर देखा। यह देखकर कि रंजि के अलावा और भी लोग पीछे दौड़ रहे हैं, उनका उत्साह बढ़ा।

विष्णु नम्बूदिरि दौड़े आ रहे थे। बुढ़ऊ क्यों दौड़कर मुटापा कम करते हैं? शबरीमला[1] के मन्दिर के पुजारी रह चुके हैं। वह गौरव आज भी है। लेटर-हेड में 'भूतपूर्व पुजारी, शबरीमला-मन्दिर' यों अंग्रेज़ी में है। वह भी एक प्रकार का विज्ञापन है। पूजादि कर्मों को जानने वालों का भी नाम होना चाहिए—आये-दिन पूजा और यन्त्र-तन्त्रों में लोगों का विश्वास बढ़ रहा है। नम्बूदिरि ब्राह्मणों की क़िस्मत ही कहिए। अच्छा ही हुआ कि कॉलोनी में एक ऐसा सज्जन भी आ गया है। सभी तरह के लोग चाहिए।

अचानक कोई लड़की प्रोफ़ेसर को पीछे छोड़कर आगे निकली। अरे! यह कैसी स्पीड है?

कौन है यह?

ओः, यह भी दौड़ने लगी है। इसका भी लक्ष्य होगा—यूनिवर्सिटी मीट। सब दौड़ते-दौड़ते रिकार्ड तोड़ेंगे।

यह प्रिया, एक पुराने राजघराने की सत्रह साल की लड़की है। लगता कि इसकी माँ की भी यही उम्र है।

प्रोफ़ेसर ने सोचा—दौड़ने की गति क्यों न बढ़ा दूँ? नहीं! लगातार एक ही स्पीड में दौड़ना ठीक होगा। स्पीड का बढ़ना या कम होना गड़बड़ी करेगा। आखिर कसरत के लिए ही तो यह दौड़ है। मीट के लिए थोड़े ही जाना है!

प्रिया एक राउण्ड पूरा करके प्रोफ़ेसर को फिर पीछे छोड़ गयी।

वाह री।

चार राउण्ड पूरे करके प्रिया थक जायेगी, फिर अपने महल की तरफ़ दौड़ेगी,

---

1. शबरीमला का मन्दिर, जहाँ शास्ता (अय्यप्पन) की मूर्ति है, विख्यात है। लाखों तीर्थयात्री प्रतिवर्ष जंगलों के बीच के मन्दिर में पैदल चलकर दर्शन करते हैं।

जो गांधी कॉलोनी में बनवाया गया है। प्रोफ़ेसर को हँसी आयी।

प्रोफ़ेसर दौड़ते वक़्त अपने दोनों ओर देखने के आदी हैं।

चौदहों घरों के सामने से होकर ही तो दौड़ते हैं। सामने ही क्यों, पीछे भी देखने को क्या-क्या अजीब दृश्य होंगे।···

प्रोफ़ेसर हर चीज़ को ढूँढ़ निकालने की क्षमता रखते हैं।

अलावा इसके अपनी पत्नी का प्रोत्साहन भी मिलता है।

मोली जोसफ़ मात्यु—एक भली ईसाई औरत है। हर रविवार गिरजाघर जाती है, घुटने टेककर प्रार्थना करती है, ईसा पर पूरा भरोसा रखती है। जानती हो, उसका प्रोत्साहन कैसा है? दौड़कर हाँफते हुए प्रोफ़ेसर घर आ जाते तो उन्हें कुर्सी पर बिठाती, भीगे गमछे से पसीना पोंछती और गरम कॉफ़ी दे देती।

फिर वह धीरे-से पूछती—घर नम्बर एक में कुछ नयी बात है···दो नम्बर में···तीसरे में? (चौथा उनका अपना है) वैसे पन्द्रह तक की बातें, चौदह नयी बातें।

प्रोफ़ेसर ने ही सबसे पहले अप्पुकुट्टन को मायादेवी को गले लगाते देखा था।

ऐसी बातों को प्रोत्साहन देना होता है। रोज़ ऐसी बातें प्राप्त करना मुश्किल है।

अब प्रोफ़ेसर बात समझ गये हैं। यूँ ही कुछ कहानियाँ प्रस्तुत करेंगे। कम से-कम एक चुम्बन की कहानी न सुनने पर मोली को नींद नहीं आती। इसलिए दौड़ते वक्त कोई-न-कोई कल्पित कहानी गढ़ लेते। घर पहुँचते ही उसे सुना देते।

पीछे दौड़ाकों की संख्या बढ़ जाती है···बूढ़े और अधेड़ सब दौड़ने लगे हैं। प्रिया के साथ दौड़ने एक और छोटी लड़की भी आयी है···यह तो शोभा है··· शायद ग्यारह नम्बर की होगी। इसका बाप दुबई में है। अब तक वह आया नहीं। ड्राफ़्ट आते होंगे। वही काफ़ी है। कॉलोनी में सबसे पहले उसी घर में टी. वी. ख़रीदा गया था।

दिन निकल रहा था। सूरज ऊपर उठने को आया···धूप सबसे पहले शायद इसी कॉलोनी पर पड़ती है। कहीं-कहीं से चिड़ियाँ कॉलोनी की तरफ़ उड़ती दिखायी पड़ती हैं। यह रोज़ाना का दृश्य है। अब धूप चढ़ने में ज्यादा समय नहीं लगेगा। चिड़ियों के आगमन का यही अर्थ है।···

पसीना आने वाला है, हाँफने भी लगे हैं। प्रोफ़ेसर ने मन में सोचा कि आज की दौड़ प्रायः ख़त्म होने को आयी है।

पीछे के दौड़ाकों की संख्या और बढ़ गयी है।

अब तो लगता है कि कॉलोनी के हर घर से कम-से-कम एक व्यक्ति दौड़ने आता है। प्रोफ़ेसर ने मन में कहा कि जब मैंने दौड़ना शुरू किया था तो मैं अकेला ही था। तब डरने का कारण था। कुछ दिन डरा भी था। कॉलोनी के नल से

पानी भरने वाली, पास के मोहल्ले की औरतों का डर।

अब तो सब आदत-सी हो गयी है।

अब फिर से दौड़ूँ ?

आज कौन-सी कहानी कहूँ ? फ़ौरन प्रोफ़ेसर को पत्नी की याद आयी। एक कहानी चाहिए—मज़ेदार कहानी।···

उन्होंने एक गढ़ ली।

पानी भरनेवालियों में एक गोरी लड़की है न ? उस लड़की को स्पोर्ट्समैन रंजि पीछे से आकर पकड़ता है।···

औरतों का जमघट फ़ौरन उसे घेर लेता है।

बात बिगड़ती जा रही थी।

उन्होंने जाकर सब-कुछ ठीक कर दिया।

श्रीमती के लिए यह कहानी काफ़ी होगी।

प्रोफ़ेसर को हँसी आयी। फिर देखा पसीना आया कि नहीं।

नहीं। तीन बार और दौड़ लगायें, तभी पसीना आयेगा। स्पीड बढ़ाने की बात उन्होंने सोची। फिर एकदम उसे छोड़ दिया।

किसी घर से क्लॉक बजने की आवाज़ सुनी। छह बार—यानी छह बजे हैं।

रंजि मानो छह बजने के इंतज़ार में था। उसने अपनी गति बढ़ायी। प्रोफ़ेसर को पीछे छोड़कर वह आगे बढ़ा। उसने सोचा होगा कि ताली बजानेवाला कोई होगा बेचारा। यद्यपि उसे प्रोत्साहन देने वाला कोई नहीं था, तथापि वह सबसे आगे था।

शायद रंजि की दौड़ पर विचार करते-करते प्रोफ़ेसर की गति काफ़ी मन्द हो गयी। प्रिया राजकुमारी भी दौड़ती पास आ गयी और हँस दी। उसकी सहेली शोभा ने भी वैसा ही किया·· उन्हें शंका हुई कि शायद दोनों लड़कियाँ उनकी हँसी उड़ा रही हैं।

नहीं, हँसी नहीं उड़ा रही होंगी।

डॉक्टर राजमोहन के घर पर बीमार लोग आने लगे हैं। इतनी सुबह उठ, नहा-धोकर और ठिकिया लगाकर बाल-बच्चों सहित आ धमके हैं···।

राजमोहन बच्चों के डॉक्टर हैं। ज़रूरत पड़ने पर बड़ों को भी देखते हैं।

प्रोफ़ेसर को हँसी आयी। अगर इन बच्चों को भी (मेरे समान) दौड़ने की सलाह दे दें, तो क्या हाल होगा ?

छह महीने के बच्चे कैसे दौड़ेंगे ? माताओं को उन्हें गोद में लेकर दौड़ना पड़ेगा। शायद···देखने में काफ़ी मज़ा आयेगा।

इसी समय विष्णु नम्बूदिरि भी प्रोफ़ेसर के आगे हो गये।

हाय ! यहाँ तक सोचा नहीं था।

सोचा नहीं था कि वह उन्हें पीछे छोड़ेंगे। ऐसी-वैसी बातें सोचकर दौड़ें तो हाल यही होगा। अब वह सबसे पीछे हैं। कैसी शर्मनाक हालत !

इस बार दौड़ खत्म करूँगा। प्रोफ़ेसर जल्दी गेट खोलकर अन्दर गये। लगा कि बीवी उठी नहीं है। या कि किचिन में है···मुझे जगाकर और दौड़ने भेज कर वह थोड़ी देर सुस्ताती है। बड़ा मजा आता है उसे···पर कभी देर तक ऐसे लेटती नहीं। जब तक मैं लौटता हूँ तब तक वह उठ जाती है।

पर आज पता नहीं क्यों, उसकी नींद जारी है। प्रोफ़ेसर कुर्सी पर बैठे। पसीना तो सूख जाये। अखबार उठाकर देखा। पर पढ़ नहीं पाये। काली कॉफ़ी चाहिए। शौच जाना है। उसके बाद ही अखबार पढ़ा जा सकता है।

अब भी सड़क पर दौड़ने वालों को देखा जा सकता है। फ़िलहाल विष्णु नम्बूदिरि प्रिया के आगे पहुँचने की कोशिश कर रहे थे।

सोचा कि ताली बजाकर उनको प्रोत्साहन दूँ। तोंद, जनेऊ और रुद्राक्ष माला को हिलाती हुई उनकी दौड़ देखने लायक है। प्रिया तो छोटी लड़की है। सोयज की गति में दौड़े, तब भी वह थकेगी नहीं।

तब दरवाज़ा खुला।

मोली आयी। हाथ में एकदम गरम कॉफ़ी।

"आज क्यों जल्दी चले आये ?" उसने आते ही पूछा।

"नहीं, जल्दी तो नहीं ?" प्रोफ़ेसर ने कहा।

"फिर···शरीर का पसीना तो सूख गया।"

"वो ठीक है।"

"हवा तो तेज़ है श्रीमती···" प्रोफ़ेसर ने कॉफ़ी का प्याला ले लिया। फिर धीरे से उसे पिया और कहानी सुनायी।

श्रीमती जी को कहानी पसन्द आयी।

कॉफ़ी खत्म हुई तो प्रोफ़ेसर आगे के कार्यक्रमों के लिए उठे।

तभी किसी ने गेट खोला। तेल न लगाने से गेट आवाज़ करता है। कोई खोले, तो पता चल जाए, रात को भी। इसीलिए तेल लगाने में देर होती।

प्रोफ़ेसर फिर बरामदे में आये। छड़ों के बीच से देखा—कौन होगा ?

कोई अनजाना युवक आँगन में खड़ा है। वह चारों ओर देख रहा है।

"क्या है ?" प्रोफ़ेसर ने पूछा।

"स्वामीजी की तबियत ठीक नहीं।···" आगन्तुक ने कहा।

"कौन स्वामी ?" प्रोफ़ेसर ने तुरन्त पूछा। वैसे कॉलोनी में एक ही स्वामी हैं। सुब्रह्मण्य अय्यर—रिटायर्ड आर. डी. ओ.। सर्विस के अन्तिम दिनों में आई. ए. एस. होने का ख्वाब देखा था। पर हुए नहीं। राजनीतिक दाँव-पेंच का यह भी एक हिस्सा है। नहीं, राजनीतिज्ञों के पैर नहीं पड़ सकता।

आगन्तुक ने कहा—"सुब्रह्मण्य अय्यर—रिटायर्ड आर. डी. ओ.।"

"अच्छा···" प्रोफ़ेसर समझ गये।

"हालत नाज़ुक है···अभी चलिए···" उसने कहा।

यह अय्यर जी की आदत है। तबीयत कुछ खराब हुई तो तुरन्त प्रोफ़ेसर को बुलाते। थोड़ी देर बातचीत करेंगे तो ठीक हो जायेंगे।

प्रोफ़ेसर ने मुस्कराकर पूछा—"तुम कौन हो?"

तुरन्त उसका मुख खिल उठा। वह मुस्कराया और कहा—"मैं उस रिटायर्ड आर. डी. ओ. का भांजा हूँ। मद्रास में रहने वाली रासा का बेटा। केमिकल इंजीनियरिंग कर रहा हूँ। यह फ़ाइनल इयर है।···"

प्रोफ़ेसर ने बीच में कहा, "ठीक-ठीक! थोड़ी देर में आ जाता हूँ। तुम जाओ।"

पर वह जाने को तैयार नहीं हुआ। प्रोफ़ेसर को लेकर ही जायेगा। "जी आपके आ जाने पर ही मामा कॉफ़ी पियेंगे।···"

आऊँगा, आकर कॉफ़ी पिलाऊँगा—प्रोफ़ेसर ने मन में कहा। उन्हें थोड़ा क्रोध अवश्य आया था।···ज़्यादा से ज़्यादा थ्री मिनिट्स, इस वेश में सड़क पर चल नहीं सकता। दौड़ना होगा। वेश बदलने पर उससे बच सकता हूँ। प्रोफ़ेसर का तमाशा सुनकर उसे हँसी आयी।

"मैं यहाँ बैठूंगा, सर। क्या अंग्रेजी दैनिक नहीं आया?"

प्रोफ़ेसर का क्रोध बढ़ गया। अंग्रेज़ी दैनिक! चन्दा बढ़ाये जाने से बन्द कर दिया—ऐसा कह सकता हूँ इससे? यूं तो कॉलिज में अंग्रेज़ी दैनिक है, फिर घर पर मँगाने की क्या जरूरत है?

प्रोफ़ेसर ने कहा, "आया नहीं।"

ज़्यादा सुनना न पड़े, इससे पहले ही वह अन्दर गये। अब की बार समय बर्बाद करना ठीक नहीं होगा।

"बच्चे उठे नहीं क्या?" प्रोफ़ेसर ने पत्नी से पूछा।

"नहीं···आठ बजे तक सोते हैं गोबरगणेश।" शिकायत-भरी आवाज़ आई पत्नी की।

"थोड़ा पानी लाकर सबके ऊपर डालो।" प्रोफ़ेसर ने दाँत पीसकर कहा।

शौच जाते हुए प्रोफ़ेसर ने कहा—"आज दोपहर बाद ही क्लास है। अच्छा हुआ। अय्यर के यहाँ गया तो दोपहर को ही लौट पाऊँगा।"

प्रोफ़ेसर के तीन बच्चे थे। दो बेटे और एक बेटी। सन्तुष्ट परिवार। तीनों छात्र हैं।

तीनों खूब सो रहे थे। प्रोफ़ेसर की पत्नी ने एक-एक को जगाया।

"देख, धूप कहाँ तक चढ़ आयी है। उठ, देख, इंजीनियरी फ़ाइनल का एक

लड़का आ गया है ! जाकर उससे अपने संदेह पूछ ले ।"

तीनों आँखें पोंछते हुए उठे । फिर किचिन में गये ।

प्रोफ़ेसर जब किचिन में पहुँचे, तब तीनों वहाँ मौजूद थे ।

तीनों ने पिता से 'गुडमॉनिंग फ़ादर' कहा । तब बड़े लड़के ने पूछा— "डैडी, आपकी दौड़ खत्म हुई क्या ?" बाक़ी दोनों सयत्न हँस रहे थे ।

यह हँसी क्यों ?

हँसी उड़ाते होंगे···अपने पिता की ही हँसी उड़ानी चाहिए, वह भी सवेरे उठते ही ।—मन में कुछ कहते हुए प्रोफ़ेसर गुसलखाने की ओर बढ़े । पीछे तब भी हंसी की गूंज ।···

जल्दी ही प्रोफ़ेसर नित्यकर्मों से निवृत्त होकर आये । बरामदे में आगन्तुक लड़का बैठा ऊँघ रहा था । केमिकल इंजीनियरिंग में पता नहीं, ऊँघने को क्या कहते हैं ।

प्रोफ़ेसर ने उसे जगाया—"चलो, हम लोग चलेंगे ।"

आँखें पोंछकर लड़का उठा और प्रोफ़ेसर के पीछे हो लिया । प्रोफ़ेसर आगे-आगे चले, पर रास्ते में कुछ नहीं बोले ।···।

(अनु०—वी. डी. कृष्णन नंपियार)

हिन्दी

- अब्दुल बिस्मिल्लाह
- शैलेश मटियानी

अतिथि देवो भव

□

अब्दुल बिस्मिल्लाह

गर्मी बहुत तेज थी। तीन-चार दिनों से बराबर लू चल रही थी और जगह-जगह मौतें हो रही थीं। शहर की सड़कें चूल्हे पर चढ़े तवे की तरह तप रही थीं। बड़े लोगों ने दरवाज़ों पर खस की टट्टियां लगवा ली थीं और उनके नौकर उन्हें पानी से तर कर रहे थे। दूकानों पर पर्दे गिरे हुए थे। पटरी पर बैठने वाले नाई, खोमचे वाले और लॉटरी के टिकट बेचने वाले ओवरब्रिज के नीचे पहुँच गये थे और शाम होने का इंतज़ार कर रहे थे। रिक्शों में लोग इस तरह दुबककर बैठते थे मानो शरीर का अगर कोई अंग बाहर रह गया तो वह जल जायेगा। प्रायः सभी के रूमाल पसीना पोंछते-पोंछते काले हो गये थे। देहात के लोग तो अपने चेहरों को मोटे तौलिये या गमछे से इस तरह लपेटे हुए थे कि दूर से वे डाकू जैसे दिखाई पड़ते थे। पैदल चलने वाले लोगों ने अपने सिर पर छाता नहीं तो अपना बैग ही रख लिया था। किसी-किसी ने तो रूमाल को ही सिर पर बांध लिया था। ठेलों पर बिकने वाला पानी पाँच पैसे गिलास से बढ़कर दस पैसे के भाव हो गया था।

इस तरह गर्मी ने उस शहर की समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को परी तरह अपनी गिरफ़्त में ले लिया था। लोग आज़ाद होते हुए भी ग़ुलाम थे और मज़े की बात यह कि वे गर्मी का कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे। अतः लू से बचने के लिए उन्होंने अपनी जेबों में प्याज़ की छोटी-छोटी गाँठें रख ली थीं और शुक्र मना रहे थे।

एक छोटा-सा प्याज़ सलमान साहब की जेब में भी पड़ा था। इसे उनकी बीवी ने चुपके से रख दिया था। सलमान साहब को हालांकि इस बात का पूरा पता था, पर वे यही मानकर चल रहे थे कि प्याज़ के बारे में उन्हें कुछ नहीं मालूम है और अपने इस विश्वास पर वे डटे हुए थे कि लू का प्याज़ से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

सलमान साहब अपना सूटकेस उठाये छन्-छन् करती सड़क पर

बढ़े जा रहे थे । हालाँकि उनकी इच्छा हो रही थी कि अपने सिर पर औरों की तरह वे भी रूमाल बाँध लें या तौलिया निकालकर चेहरे के इर्द-गिर्द लपेट लें, पर असुविधा के ख़याल से वे ऐसा नहीं कर पा रहे थे । इसके अलावा उन्हें इस बात की उतावली थी कि जल्दी से वे मिश्रीलाल गुप्ता के निवास पर पहुँच जायें । रिक्शा उन्हें मिला नहीं था, अतः अपने मन को वे यह भी समझाते जा रहे थे कि स्टेशन से उसका कमरा ज़्यादा दूर नहीं है । यह बात मिश्रीलाल ने ही उन्हें बतायी थी ।

सलमान साहब मिश्रीलाल गुप्ता से मिलने पहली बार उस शहर में पहुँचे थे। मकान का नम्बर तो उन्हें याद था, पर सिचुएशन का पता नहीं था । लेकिन उन्हें पूरा विश्वास था कि वे मिश्रीलाल गुप्ता को अवश्य ही ढूँढ़ लेंगे ।

मिश्रीलाल गुप्ता सलमान साहब के पड़ोस का एक ऐसा लड़का था जो क़स्बे भर में अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण मशहूर था । गुप्ता ख़ानदान का वह पहला युवक था जिसने मांस खाना आरम्भ कर दिया था और मुसलमान होटलों में चाय पिया करता था । जी हाँ, जिस तरह बनारस का विश्वविद्यालय हिन्दू है और अलीगढ़ का विश्वविद्यालय मुसलमान, ठीक उसी तरह उनके क़स्बे के होटल भी हिन्दू और मुसलमान थे । यह बात अलग है कि हिन्दू होटलों में मुसलमानों के लिए या मुसलमान होटलों में हिन्दुओं के लिए प्रवेश की कोई मनाही नहीं थी । फिर भी जो धार्मिक लोग थे, वे इसे बुरा समझा करते थे । सलमान साहब के पड़ोसी ज़की साहब हमेशा मुसलमान हलवाई के यहाँ से ही मिठाई मँगवाते थे, क्योंकि जो शिवचरण हलवाई था वह इस्तिंजे से नहीं रहता था ।

उस क़स्बे में उन दिनों एक ही स्कूल था और वहाँ सबको अनिवार्य रूप से संस्कृत पढ़नी पड़ती थी । अतः सलमान साहब ने भी 'रामः, रामौ, रामाः' पढ़ा । और नतीजा यह निकला कि वे उर्दू नहीं पढ़ सके । जैसे मिश्रीलाल के बाबा गिरधारीलाल गुप्ता अपने ज़माने में सिर्फ़ उर्दू ही पढ़ सके थे, संस्कृत सीखने का मौक़ा उन्हें नहीं मिला था । एक तो वैश्य, दूसरे मदरसे में उसका प्रबन्ध नहीं था, सो, इसी क़िस्म की मजबूरियों ने सलमान साहब से संस्कृत पढ़वायी और जब वे उच्च शिक्षा लेने के लिए शहर पहुँचे तो वहाँ भी उन्होंने संस्कृत ही पढ़ी । उन्हें विश्वास था कि एम. ए. करने के बाद वे कहीं न कहीं संस्कृत के लेक्चरर हो जायेंगे, पर ऐसा नहीं हुआ और अब वे अपने ही क़स्बे के नये-नये खुले इस्लामिया मिडिल स्कूल में हिस्ट्री पढ़ाने लगे थे ।

मिश्रीलाल जिन दिनों इण्टर कर रहा था, तब सलमान साहब ने उसे सुबह-शाम संस्कृत पढ़ायी थी, अतः वह उन्हें अपना गुरु मानता था और उनके चरण छूता था । अब वह बी. ए. कर चुका था और किसी कंपिटीशन की तैयारी कर रहा था । उसकी प्रबल इच्छा थी कि सलमान साहब जब उसके शहर में आयें तो

तो वे उसके निवास पर अवश्य पधारें। मिश्रीलाल की इस इच्छा को अनपेक्षित रूप से पूर्ण करने के लिए ही वे बग़ैर सूचना दिये उस शहर में पहुँच गये थे और अचानक उसके दरवाज़े पर दस्तक देकर उसे चौंका देना चाहते थे।

सलमान साहब ने मुहल्ले का नाम याद किया—गोपालगंज। हाँ, यही नाम है। मकान-नम्बर बी-पाँच सौ बासठ। राधाचरण मिश्र का मकान। स्टेशन से से यही कोई आधा मील पर स्थित।

"क्यों भाई साहब, गोपालगंज किधर पड़ेगा?"

उन्होंने एक दूकानदार से पूछा तो पान की पीक थूकने का कष्ट न करते हुए ही उसने गलगलाकर यह बताया कि वे महाशय थोड़ा आगे निकल आये हैं। पीछे मुड़कर बिजली के उस वाले खम्भे से सटी हुई गली मे घुस जायें।

सलमान साहब उसकी दूकान के शेड से जब बाहर निकले तो लू का एक थपेड़ा चट् से उनके गाल पर लगा और उन्होंने अपनी एक हथेली कनपटी पर लगा ली। ठीक उसी वक़्त उन्हे अपनी जेब में पड़े हुए प्याज़ का भी खयाल आया और क्षण भर को वे आश्वस्त हुए।

हाँ, यही गली तो है। उन्होंने बिजली के खम्भे को ध्यान से देखा और गली में घुस गये।

दाहिनी ओर ए ब्लॉक था। सलमान साहब ने सोचा कि बायीं ओर जरूर बी ब्लॉक होगा, पर उधर एच ब्लॉक था। वे और आगे बढ़े। शायद ए वाली साइड में ही आगे चलकर बी पड़े। लेकिन नहीं, जहाँ ए ख़त्म हुआ वहाँ से एम शुरू हो रहा था। बायीं ओर सी था। वे चकरा गये।

"कहाँ जाना है?"

एक सज्जन सड़क पर चारपाई निकालकर उसे पटक रहे थे और नीचे गिरे हुए खटमलों को मार रहे थे। उन्होंने उनकी बेचैनी को शायद भाँप लिया था। सलमान साहब ने खुद अपने जूते से खटमल के एक बच्चे को मारा और पूछा, "यह बी-पाँच सौ बासठ किधर पड़ेगा?"

"ओह, मिसिरजी का मकान। वह पुराने गोपालगंज मे है। आप इधर से चले जाइये और आगे चलकर मन्दिर के पास से दाहिने मुड़ जाइयेगा। वहाँ किसी से पूछ लीजियेगा।"

सलमान साहब ने उन्हे धन्यवाद दिया और चल पड़े। मन्दिर के पास पहुँच कर जब वे दाहिनी ओर मुड़े तो उन्होंने देखा कि पीछे चार-पाँच भैंसें बँधी हुई हैं और एक लड़की अपने बरामदे मे खड़ी होकर दूर जा रहे चूड़ीवाले को बुला रही है।

"पुराना गोपालगंज क्या यही है?"

उन्होंने उस लड़की से ही जानकारी लेनी चाही, पर उसने उनकी ओर कोई

ध्यान नहीं दिया। उसका सारा ध्यान चूड़ीवाले के ठेले पर लगा हुआ था। सलमान साहब आगे बढ़ गये।

थोड़ा और आगे जाने पर पुराने ढंग के ऊँचे-ऊँचे मकान उन्हें दिखायी पड़े जिनकी छाया में उस इलाके की सँकरी सड़कें अपेक्षाकृत काफी ठंडी थी और नंग-धड़ंग बच्चे उन पर उछल रहे थे। सलमान साहब का मन हुआ कि यहाँ वे क्षण भर के लिए खड़े हो जाये, पर अपने विचार का तुरन्त ही उन्होंने परित्याग किया और चलते रहे।

सामने से एक लडका दौड़ा आ रहा था। उसके पीछे एक मोटा-सा चूहा घिमटा आ रहा था। लड़के ने चूहे की पूँछ में सुतली बाँध दी थी और उसका एक छोर थामे हुए था। सलमान साहब को देखकर, जैमी कि उन्हे उम्मीद थी, वह बिल्कुल नही ठिठका और उनकी बग़ल से भागने के चक्कर मे उनसे टकरा गया।

"ये बी-पाँच सौ बासठ किधर है जी? तुम्हे पता है, मिश्रजी का मकान?"

लड़के ने उनकी ओर उडती-सी नजर डाली और एक मकान की ओर संकेत करता हुआ भाग गया। (उमके पीछे-पीछे चूहा भी घिसटता हुआ चला गया।)

मलमान साहब ने एक ठडी साँस ली और उस विशालकाय इमारत के सामने जाकर खडे हो गये। वहाँ बाहर ही दो औरतें चारपाई पर बैठी थी और पंजाब समस्या को अपने ढंग से हल करने मे लगी हुई थी।

"अरी मिट्ठन की अम्माँ, वो तो भाग मनाओ कि हम हिन्दुस्तान मे है, पंजाब मे होती तो न जाने क्या गत हुई होती···"

"राधाचरण मिश्रजी का मकान यही है?"

स्त्रियाँ चारपाई पर बैठी रही, जबकि सलमान साहब ने सोचा था कि वह उठ खडी होगी, जैसा कि उनके कस्बे मे होता हे, लेकिन यह तो शहर है···

"मिसिरजी यहाँ नही रहते, वे जवाहर नगर मे रहते है। यहाँ सिरिफ उनके किरायेदार रहते है।" एक स्त्री ने उन्हे जानकारी दी और खामोश हो गयी।

"क्या काम है?"

दूसरी ने पूछा और अपना सिर खुजलाने लगी।

"इस मकान में एक लड़का रहता है मिश्रीलाल गुप्ता, उसी से मिलना था।"

"ऊपर चले जाइए, सीढी चढ़कर दूसरा वाला कमरा उन्ही का है।" उस सिर खुजलाने वाली औरत ने बताया और खड़ी हो गयी।

सलमान साहब भीतर घुस गये।

वहाँ अँधेरा था और सीढी नजर नही आ रही थी। थोड़ी देर तक खड़े रहने के बाद उन्हें कोने में एक नल दिखायी पडा, फिर सीढी भी दिखने लगी और वे सँभल-सँभलकर ऊपर चढ़ने लगे।

इस बीच उन्होंने अनुमान लगाया कि मिश्रीलाल सो रहा होगा और दरवाजा खटखटाकर उसे जगाना पड़ेगा। वह हड़बड़ाकर उठेगा और सिटकिनी खोलकर आँखे मलते हुए बाहर देखेगा। फिर सामने उन्हे पाकर चरणो पर झुक जायेगा।

"कौन ?"

सीढियाँ खत्म होते ही उस पार से किसी स्त्री का प्रश्न सुनाई पड़ा और वे ठिठक गये।

"मिश्रीलालजी हैं क्या ?"

"थोड़ा ठहरिए !"

उस स्त्री ने जरा सख्ती के साथ कहा और सलमान साहब को लगा कि स्त्री किसी महत्त्वपूर्ण काम मे लगी हुई है। वे बिना किवाड़ोवाले उस द्वार के इस पार खडे हो गये और कुछ सोचने लगे। तभी उन्होने देखा कि एक अधेड वय की गोरी-सी औरत, मात्र पेटीकोट और ब्रेसियर पहने बरामदे से भागकर सामने वाली कोठरी मे घुस गयी और जल्दी से साडी लपेटकर, ब्लाउज का हुक लगाती हुई बाहर निकल आयी।

"आइए !"

उसने सलमान साहब को पुकारा तो वे इस प्रकार भीतर घुसे जैसे उन्होंने उस स्त्री को अभी थोडी देर पहले भीतर घुसते हुए देखा ही नही है। स्त्री ने भी शायद यही सोचा और इत्मीनान से खडी रही।

सलमान साहब ने देखा कि बरामदे मे बने परनाले के मुहाने पर एक उतारी हुई गीली साडी पडी है और जय साबुन की गध पूरे माहौल मे भरी हुई है।

"मिश्रीलालजी बगल वाले कमरे मे रहते है, पर वे हैं नही। सुबह से ही कही गये हुए हैं, आप कहाँ से आ रहे है ? बैठिए !"

स्त्री न अत्यंत विनम्रता के साथ यह सब कहा और एक बँसखट बिछाकर फिर भीतर घुस गयी। थोडी देर बाद वह एक तश्तरी मे गुड और गिलास मे पानी लिये बाहर आयी और बँसखट पर तश्तरी रखकर खड़ी हो गयी।

"पानी पीजिए, आज गर्मी बहुत है।"

इतना कहकर उसने अपनी उतारी हुई साडी की ओर देखा और न जाने क्या सोचकर पानी नीचे रखकर फिर भीतर घुस गयी। अबकी वह ताड़ का एक पंखा लेकर लौटी और उसे भी बँसखट पर रख दिया।

सलमान साहब ने गुड खाया, पानी पिया और पंखा लेकर उसे हल्के-हल्के डुलाने लगे।

"मिश्रीलाल कही बाहर तो नही चला गया है ?"

"बाहर तो नही गये हैं, शहर मे ही होगे कही। पिक्चर-विक्चर गये होंगे या किसी दोस्त के यहाँ चले गये होगे। रोज तो कमरे में ही रहते थे, आज ही निकले

हैं बाहर।"

सलमान साहब ने घड़ी देखी, तीन बज रहे थे। उन्होंने थकान का अनुभव किया और बँसखट पर थोड़ा पसर गये।

स्त्री फिर भीतर से तकिया ले आयी।

"आप थोड़ा आराम कर लें, गुप्ताजी शाम तक तो आ ही जायेंगे।"

स्त्री ने उनके सिरहाने तकिया रखा और अपनी गीली साड़ी बाल्टी में रखकर नीचे उतर गयी।

सलमान साहब जब लेटे तो जेब मे पड़ा प्याज़ उन्हे गड़ने लगा और उन्होने उसे बाहर निकालकर चारपाई के नीचे गिरा दिया। थोड़ी देर बाद उन्हें नीद आ गयी।

नीद में उन्होंने सपना देखा कि उनके स्कूल मे मास्टरों के बीच झगड़ा हो गया है और पी. टी. टीचर सत्यनारायण यादव को हेड मास्टर साहब बुरी तरह डाँट रहे हैं। सलमान साहब उनका पक्ष लेकर आगे बढ़ते हैं तो सारे मास्टर उन पर टूट पड़ते है।

उनकी नींद टूट जाती है।

वे उठकर बैठ जाते है।

लगता है रात हो गयी। भीतर एक मटमैला-सा बल्ब जल रहा है, जिसकी रोशनी बरामदे मे भी आ रही है। बरामदे में कोई बल्ब नही है, भीतर से आने वाली रोशनी के उस चौकोर से टुकड़े मे ही एक स्टोव जल रहा है और स्त्री सब्जी छौंक रही है। जहाँ दोपहर में जय साबुन की गंध भरी हुई थी, वही अब जीरे की महक उड़ रही है।

"मिश्रीलाल नहीं आया अभी तक ?"

"अरे, अब हम क्या बतायें कि आज वे कहाँ चले गये है ! रोज़ाना तो कमरे में ही घुसे रहते थे।"

उस स्त्री ने चिंतित मन से कहा और स्टील के एक गिलास मे पहले से तैयार की गयी चाय लेकर उनके सामने खड़ी हो गयी।

"अरे, आपने क्यों कष्ट किया ?"

"इसमें कष्ट की क्या बात है ? चाय तो बनती ही है शाम को।"

सलमान साहब ने गिलास थाम लिया। स्त्री स्टोव की ओर मुड़ गयी।

तभी एक सद्य:स्नात सज्जन कमर में गमछा लपेटे और जनेऊ मलते हुए सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आये और कमरे में घुसकर हनुमान-चालीसा का पाठ करने लगे। जीरे की महक के साथ-साथ अब अगरबत्ती की महक भी वातावरण मे तिरने लगी।

सलमान साहब ने भीतर झाँककर देखा तो पाया कि उस कमरे में पूरी

गृहस्थी अत्यंत सलीके के साथ सजी हुई थी और दीवारों पर राम, कृष्ण, हनुमान, शंकर, पार्वती, लक्ष्मी और गणेश आदि विभिन्न देवी-देवताओं के फोटो टँगे हुए थे। वहां एक ओर लकड़ी की एक तख़्ती लगी थी जिस पर लिखा था—राम-मनोहर पांडेय, असिस्टेंट टेलीफोन-ऑपरेटर। वे सज्जन अपने दाहिने हाथ में अगरबत्ती लिये, बायें हाथ से दाहिने हाथ की टिहुनी थामे सभी तस्वीरों को सुगन्धित धूप से सुवासित कर रहे थे और अत्यंत श्रद्धा के साथ रामचरित-मानस की चौपाइयाँ गुनगुना रहे थे। बीच-बीच मे वे गीता के कुछ श्लोक भी सही-ग़लत उच्चारण के बोल जाते थे। छत पर एक गंदा-सा पंखा अत्यंत धीमी चाल से डोल रहा था।

स्त्री ने सब्जी पका ली थी और अब वह रोटियाँ बना रही थी।

सलमान साहब की इच्छा हुई कि अब वे वहाँ से चल दें और किसी होटल मे ठहर जायें, सुबह आकर मिश्रीलाल से मिल लेंगे, क्योंकि रात काफी होती आ रही है और उसका अभी तक पता नही।

वे खड़े हो गये।

"मैं अब चलता हूँ, कल सवेरे आकर मिल लूंगा।"

उन्होंने अपना बैग उठा लिया।

"कहाँ जायेंगे?"

स्त्री ने उनसे सीधा सवाल किया और पीछे को मुड़कर उनकी ओर ताकने लगी।

"किसी होटल मे रुकूंगा।"

"क्यों भाई साहब, होटल में क्यों रुकियेगा? क्या यहाँ जगह नही है? खाना तैयार हो गया है, खा लीजिए और छत पर चलकर लेटिये। रात में गुप्ताजी आ ही जायेंगे। और अगर न भी आये तो सुबह चले जाइयेगा। इस टाइम तो मैं आपको न जाने दूंगी। आइये, जूता-वूता उतारिये और हाथ-मुँह धोकर खाने बैठिये।"

"नहीं भाभीजी, आप क्यों कष्ट उठाती हैं?"

उस स्त्री को अब भाभी कहने में कोई हर्ज नहीं लगा सलमान साहब को।

"कष्ट की क्या बात है! आइये, खाना खाइये।"

सलमान साहब विवश हो गये उन्होंने जूते उतारे और हाथ-मुँह धोकर खड़े हो गये।

अब तक पांडेयजी अपनी पूजा-आराधना से ख़ाली हो गये थे और भीतर बिछी चौकी पर बैठकर कुछ कागज़-पत्तर देख रहे थे। सलमान साहब को उनसे नमस्कार करने तक का मौक़ा अभी नहीं मिला था। यह उन्हें बहुत खल रहा था। लेकिन अब इतनी देर बाद नमस्कार करने का कोई औचित्य भी नहीं था,

इसलिए उन्होंने सीधे-सीधे बात करने की कोशिश की।

"भाई साहब, आप भी उठिये।"

"नहीं, आप खाइये, मैं थाड़ी देर बाद भोजन करूँगा।"

उन्होंने तनिक शुष्क स्वर में सलमान साहब को उत्तर दिया और बग़ैर उनकी ओर देखे अपने कागज़-पत्तर में उलझे रहे।

"आप बैठिये, दिन भर के भूखे-प्यासे होंगे। वे बाद में खा लेंगे, दफ़्तर से आकर उन्होंने थोड़ा नाश्ता ले लिया है। आप तो सो रहे थे।"

स्त्री ने एक बार फिर उनसे आग्रह किया और पीढ़ा रखकर थाली लगा दी। लोटे में पानी और गिलास रख दिया।

सलमान साहब बैठ गये।

वे भीतर से बहुत आह्लादित थे। उनके क़स्बे में ऐसा नही हो सकता कि बग़ैर जाति-धर्म की जानकारी लिये कोई ब्राह्मणी किसी को अपने चौके में बैठाकर खाना खिलाये। लेकिन शहर में ऐसा हो सकता है। यद्यपि यह कोई बड़ा शहर नहीं है और यहाँ के लोग भी बहुत-कुछ ग्रामीण संस्कारों वाले हैं, पर हैं तो आखिर शहर के। यहाँ के पढ़े-लिखे लोग प्रगतिशील विचारों के होते हैं, उनमें संकीर्णता नहीं होती। वे धर्मप्रवण होते हुए भी रूढ़ धारणाओं से मुक्त होते हैं···

सलमान साहब सोच रहे थे और खा रहे थे। उन्हें बैंगन की सब्ज़ी बहुत अच्छी लग रही थी। ताज़े आम का अचार भी यद्यपि पूरा गला नहीं था, पर स्वादिष्ट था। रोटियों पर घी भी चुपड़ा हुआ था। ऐसी रोटियाँ उनके घर में नही बनतीं वहाँ तो उल्टे तवे पर बनी हुई विशालकाय और अधसिकीं चपातियाँ किसी पुराने कपड़े में लिपटी रखी होती हैं···

स्त्री ने एक फूली हुई भाप उड़ाती रोटी उनकी थाली में और डाल दी थी।

"आप गुप्ताजी के गाँव से आये हैं ?"

सलमान साहब ने सिर उठाया। पाँडेयजी अब कागज-पत्तरों से खाली हो गये थे और आम काट रहे थे। उनकी आवाज में उसी तरह की शुष्कता विद्यमान थी।

"जी हाँ !" सलमान साहब ने जवाब दिया और अचार उठाकर चाटने लगे।

पाँडेयजी ने संकेत से पत्नी को भीतर बुलाया और आम की तीन फाँकियाँ थमा दीं। स्त्री ने उन्हें सलमान साहब की थाली में डाल दिया।

"आप उनके भाई हैं ?" फिर वही शुष्क स्वर।

सलमान साहब को कोफ़्त हुई।

"जी नहीं, मेरा वह शिष्य है।"

"क्या आप अध्यापक हैं ?"

"जी हाँ।"

"कहाँ पढ़ाते हैं ?"

"अपने ही क़स्बे में।"

आप भी गुप्ता हैं ?"

"जी नहीं।"

"ब्राह्मण हैं ?"

"नहीं, मैं मुसलमान हूँ, मेरा नाम मुहम्मद सलमान है।"

उन्होंने अपना पूरा परिचय दिया और रोटी के आख़िरी टुकड़े में सब्ज़ी लपेटने लगे।

पांडेय जी ने अपनी स्त्री की ओर आँखें उठायीं तो पाया कि वह खुद उनकी ओर देख रही थी। ऐसा लगा कि दोनों ही एक-दूसरे से कुछ कह रहे हैं, पर ठीक-ठीक कह नही पा रहे हैं।

सलमान साहब अगली रोटी का इंतज़ार कर रहे थे।

लेकिन स्त्री स्टोव के पास से उठकर भीतर चली गयी थी और कुछ ढूँढ़ने लगी थी। सलमान साहब आम खाने लगे थे।

स्त्री जब बाहर निकली तो उसके हाथ में काँच का एक गिलास था और आँखों में भय।

उसने सलमान साहब की थाली के पास रखा स्टील का गिलास उठा लिया और उसकी जगह काँच का गिलास रख दिया।

सलमान साहब को याद आया कि अभी शाम को जिस गिलास में उन्होंने चाय पी थी, वह भी स्टील का था। जिस थाली में वे खाना खा रहे थे, वह भी स्टील की थी अतः पल भर के लिए वे चिंतित हुए, फिर उन्होंने अपनी थाली उठायी और परनाले के पास जाकर बैठ गये। वहाँ एक कटोरे में राख और उस पर बाध का एक गुझना रखा हुआ था। सलमान साहब ने गुझना उठाया और अपनी थाली माँजने लगे।

स्त्री ने थोड़ा-सा पीछे मुड़कर उनकी ओर देखा, लेकिन फिर तुरन्त बाद ही वह अपने काम मे व्यस्त हो गयी।

मिश्रीलाल अभी तक नहीं आया था।

अहिंसा



शैलेश मटियानी

"खाट बिनवा लो, खाट !" की आवाज़ लगाते हुए मोहल्ले की सँकरी गलियों से गुज़रते हुए भी उसका ध्यान बिन्दा पर ही था। गाँव से यहाँ शहर, मेडिकल कॉलेज से सटे अस्पताल तक पहुँचना अब कहीं ज्यादा सिलसलेवार स्मृति में घुमड़ता जाता है, जबकि बिन्दा को आखिर-आखिर अस्पताल में भर्ती कर लिया गया है और उस कमज़ोर तथा रुग्ण औरत को कई दिनों तक लगातार पीठ पर लादे रहने की सी थकान ही नहीं, असुरक्षा और डर से भी थोड़ी-सी राहत मिली है।

अभी उसे चारपाई नहीं मिली, ज़मीन पर ही जगह मिली है, लेकिन अस्पताल की हद में होने का अहसास ही कुछ कम नहीं। परसों तक तस्कीन न थी। गाँव से क़स्बे तक बैलगाड़ी और फिर वहाँ से टेंपो में शहर के बस-अड्डे तक लाने और फिर रिक्शे से अस्पताल तक ले आने की अवधि में, कई बार पीठ पर लेकर उतारना-चढ़ाना पड़ा था उसे। रात-दिन घर-गृहस्थी के कामों में ताँगे की घोड़ी की तरह खटती औरत का चलने-फिरने तक को दूसरों का मोहताज हो जाना, यह कोई सामान्य संकेत नहीं था, और दरअसल हालात के एकाएक कहीं-से-कहीं पहुँच चुकने का यह साक्षात्कार ही जगेसर को एक-क्षण चाँपे रहा था और पहली बार उसे इस दुष्कल्पना में जाना पड़ा कि क्या अब बच्चे अपनी माँ को वापस लौटता नहीं देख सकेंगे ? जो औरत मरणांतक यातनाओं के बीच भी बच्चों को यह आश्वासन देती, जाने कैसे मुस्कराती बड़े इत्मीनान से बोलती आई कि जानवरों को ठीक से रखना, मैं जल्दी ही वापस लौटूँगी—उसको इस रूप में वापस ले जाना कि बच्चे 'अम्मा' चीखते हुए छाती पर गिर भी पड़ें, तो भी वह आँखें खोलकर देख तक न सके—

"खाट बिनवा लो, खाट !" जगेसर अचानक अँधेरे में चीखता-सा चिल्ला उठा। धूप चमचमा रही थी। भयंकर उमस में धूप त्वचा

को झुलसाती मालूम पड़ती थी और प्यास शरीर के जोड़ों में से फूटती हुई-सी धूप-उमस में काम करने या चलने-फिरने का अभ्यास न हो, ऐसी बात नहीं, लेकिन यह भीतर की सारी आर्द्रता को लीलती-सी प्यास, पहले कभी न लगी होगी कि मोहल्ले के एक नलके से दूसरे तक का फ़ासला पार करना भी कठिन हो जाये।

शहर पहुँचते ही पहले सीधे मोती के डेरे पर गये थे तीनों। गोविन्दा को उसने वहीं से घर वापस भेज दिया था कि अब कोई डर नहीं, सारा कुछ सँभल जाएगा।

ऊपर किसी मकान के बारजे से पुकारना-सा सुनाई पड़ा, तो जगेसर ने तुरन्त सिर उठाकर देखा, लेकिन पूरी इस सावधानी में कि कहीं भ्रम ही न हो। कोई कोई पुकारता है, 'ए सब्ज़ी वाले।' तो भी 'ए खाटवाले, ए खाटवाले!' की सी आवाज़ सुनाई पड़ती है और उम्मीद जुड जाती है, लगता है जिसने पुकारा है, उसने देख लिया है कि चिलक धूप में यह आदमी क्यों मारा-मारा फिर रहा है।

अस्पताल के बरामदे मे दो दिन, दो रात पड़ी रहने वाली औरत आखिर किसी तरह भीतर जगह पा गई है और कुछ इलाज भी शुरू होता मालूम पड़ता है। ऐसे मे मेहनत की कमाई मे से उसके लिए कुछ दवा-दारू और फल-डबल-रोटी-दूध का इन्तज़ाम करने का परितोष ऐसा है कि शायद कभी न था। आज सुबह मौसमी के दाने में छेद करके, रस निचोड़ने में वह जैसे जीभ को कोशिश करके, चिड़िया की चोंच की तरह आगे को करती रही थी—और उसकी उदास आँखों में जैसा जल-भरे पोखरों को भी छोटा करता हुआ-सा फैलाव था, विषाद का ही नही, उसे पति के रूप मे अपने रोम-रोम में समो रहे होने का—वह सब अत्यन्त दा॰ण होते भी, अपूर्व था। इस औरत के साथ बिताये लगभग बीस वर्ष उन कुछेक क्षणों मे आईने में पड़ते प्रतिबिम्बों की तरह भीतर इकट्ठा हो आये थे। इसे घरवाली के रूप में देखने और महसूस करने का ऐसा अवसर, शायद इससे पहले, कभी उपस्थित न हुआ था। महीने-भर से भी लम्बी बीमारी की चपेट में, जिस्म से अब लगभग बुझती-सी यह औरत अपने भावनात्मक रूप में जैसे सम्पूर्ण आभा में प्रकट होती चली आ रही है। कराहती भी है, तो लगता है कि सह सकने की सारी सीमाओं के टूट जाने पर ही इसकी पकड़ छूट गई है। कभी-कभी तो आभास होता है कि बीमारी जितना इस औरत के शरीर के वज़न को कम करती है, उतना ही इसकी आत्मा के वजन को बढ़ाती चली जा रही है। अपने वजूद में अब यह एक पृथक् संसार हो गई-सी मालूम पड़ती है और इसे पीठ पर लिये टट्टी-पेशाब के निमित्त ले जाने में लोगों का देखना न चुभता है, न संकोच में डालता है। अलबत्ता याद आता है कि बरसो पहले जब हैज़ा और फिर मियादी बुखार ने तोड़कर रख दिया था, तो यह औरत अपनी नाक तक को भूल

गई मालूम पड़ती थी। खुद जगेसर मारे दुर्गन्ध के उबकाने लगता था, इसे दूर हट जाने को कहता था कि कहीं उसे भी हैज़ा न हो जाए, लेकिन इसको नाक सुड़कते तक नही पाया कभी। पहले जैसे बच्चों की साफ़-सफ़ाई करती थी, इसमें कोई फ़र्क न था। इसके द्वारा गीले कपड़े से पोंछे जाने के स्पर्श अभी तक ज्यों-के-त्यों हैं।

"ए खाट वाले !" की आवाज़ दुबारा आई तो जगेसर ने कुछ ज्यादा ध्यान देकर देखा और इत्मीनान होते ही, संकेत करके बताइ सीढ़ियों पर से होता, ऊपर बरामदे तक पहुंच गया।

पूछने पर वह सिर्फ़ बान का भाव बताता है और यह कि तराजू साथ नहीं है, लेकिन गुच्छे तौले हुए हैं। बिनाई की मज़दूरी खाट वाले के विवेक पर छोड़ देने के हालाँकि दोहरे संकट हैं, लेकिन जब सब-कुछ ऊपर वाले के भरोसे छोड़ देने का अवसर उपस्थित हुआ पड़ा है तब आदमियों पर भी छोड़ने में ज्यादा बाधा नहीं और कुल मिलाकर परिणाम गलत नही निकले हैं। कल भी बारह रुपयों की कमाई हो गई थी, आज भी यह दूसरी खटिया पर हाथ लगाना है।

वह कुछ कह नहीं सकता कि क्या बिन्दा का दुख उसमें समाया हुआ साथ-साथ चल रहा है कि लोगों का रुख प्रायः सहानुभूति का जैसा मालूम पड़ता है। या उसके चेहरे पर एक सहज-निश्छल आदमी होने की-सी जो प्रतिच्छाया है, जिसके चलते अपने परिवार ही नही, बल्कि इलाके-भर मे भलेमानसों में शुमार होता है उसका, इसका कुछ प्रभाव है। संयोग कि टेढ़े और बहसी कम, ढंग के ग्राहक ज्यादा मिल गये। शुरू में उसके ही ध्यान मे कहाँ था? वो तो मोती रिक्शा वाला जीता रहे और उसकी शहरवाली कि बिन्दा को भी कुछ बतियाने का सहारा हो गया—उसे भी काम सूझ गया कि हाँ, ठाली बैठे रहने से फ़ायदा? बान-बसूले का भी बन्दोबस्त मोती का है। बरसों पहले की दोस्ती को भूला नही है।

जाने अभी कितने दिन अस्पताल में पड़े रहना होगा। जी बना लिया है कि सब छूटे, छूट जाये—यह दुःख का साथ नहीं छोड़ना है। अब तो जिन्दगी का एकमात्र सार इसमें है कि इस देवी-सरूप औरत के इलाज में कहीं कोई कसर न छूटे। साढ़े चार सौ साथ लेकर चला है, अभी और बन्दोबस्त करना पड़े, तो हिचकना नहीं है। यह वक़्त न तो पैसे का मुख देखने का है, न अपनी तकलीफ़ों और फ़जीहतों से बेसब्र होने का। यह तो रोम-रोम से एक ही प्रार्थना का वक़्त है—हे परमेश्वर—

जाने क्या है कि जब भगवान का स्मरण करता है जगेसर, तो सारा वृत्तान्त सामने रखने की जरूरत ही नहीं रह जाती। अनुभव होता है कि जो वह नहीं जानता, उसे भी जानने वाला जानता है। उससे किसी का क्या छिपा है?

वह अधेड़-सी औरत थी। इस वक़्त घर मे अकेली। वह गुड़ के साथ पानी लेती आई तो कुछ क्षण अपने में ही थमा-सा रह गया जगेसर। मन में यही हुआ कि बनाने वाले, तूने सचमुच कितनी बडी बनाई है पृथ्वी ! पानी का अकाल यहाँ कही नही। किसी में थोड़ा कम, किसी मे ज्यादा।

अँगोछे से पसीना पोंछते हुए गुड की डली के साथ पूरा लोटा-भर पानी पी गया जगेसर एक साँस मे। तो जाने क्यों एकाएक लगा कि पानी सिर्फ उसी के गले मे नही उतर रहा है। उसे याद आया कि जब गिलास या लोटा ऊँचा करके पानी पिया करती थी तीतरी की अम्मा—यानी बिन्दा—तो कैसी गट्ट-गट्ट की-सी आवाज़ की एक लयबद्ध शृंखला बनती जाती थी और उसका औरत होना कैसे अपनी पूरी पारदर्शिता मे प्रकट होता जान पड़ता था। अब तो चम्मच से पिलाने की नौबत आ गई···

खाली लोटे की ओट करके सावधानी से उसने अपनी आँखो को अँगोछे से ऐसे पोंछ लिया जैसे पानी पीते मे बिखरा जल हो, आँसू नही, लेकिन रोकते-रोकते भी गले से कुछ रुँधी हुई-सी आवाज निकल ही गयी। इसे भी डकार लेने के बहाने बचा लेना चाहता था वह कि उस अधेड़ औरत ने पूछ ही लिया, "लगता है तुम्हारे घर मे कुछ विपदा है, भइया ! मौसम भी तो यह मार हारी-बीमारी का है···"

जगेसर को साफ़ लगा कि उस महिला ने, शायद, यहाँ तक कल्पना दौड़ाई है कि कहीं घर मे हाल मे ही कुछ गमी न हुई हो। तुरन्त स्थिति को सँभालता-सा, संक्षेप मे वृत्तान्त देता गया, हाथ रुके नही, बिनने मे लगे रहे। जब थोड़ा सुन चुकने पर भी सामने मोढे पर बैठी औरत मे सुनने का भाव ही बना रहा तब नदी के प्रवाह मे पैर-उखड़े की तरह विस्तार मे चला गया और अपने को फूट-फूटकर रोने से बचाने की सारी कोशिशे जैसे पक्षियों की तरह उड़ान भरती-सी जाने कहाँ दूर-दूर निकल गई, जैसे कोई भरा घडा एकाएक तड़क जाये। अपने भीतर इकट्ठा हुआ सहज रखना कठिन होना गया और आखिर जगेसर ने अपने को ऐसा कर लिया, जैसे जड़ हो गया हो। चेतना सिर्फ़ इतनी रखी कि इस सामने बैठी औरत के सिवा, बस, परमात्मा देख-सुन ले। तमाशा लगाने से तो सिर्फ़ बदहवासी बढ़ती है। विपदा प्रत्येक से, प्रत्येक जगह बखानने की वस्तु कहाँ ! दो दिन दो रात बरामदे में ही पड़ी रह गई बिन्दा, तो अस्पताल से सम्बद्ध मालूम पड़ते डॉक्टरो से लेकर, जमादारों तक किस-किसके आगे नही रोया और गिड़गिड़ाया, किसके पाँव नही पकड़े जगेसर ने—लेकिन अस्पताल हरेक के लिए अलग-अलग कहाँ सुन सकता है ! वहाँ तो सब एक हैं। यहाँ जगेसर अपने-जैसा दुख में डूबा एक हो सकता है, वहाँ अनेक हैं और हरेक एक ही क़िस्म के अँधेरे में घिरा मालूम पड़ता है। आदमी आखिर अपने दुःख को कहना ही नही, सहना

भी दूसरों से ही सीखता है। एक किशोर वय का लड़का उनके सामने-सामने दम तोड़ गया था, बरामदे में ही—और बिन्दा की आँखों से कैसे आँसुओं की लड़ी-सी बँध गई थी? उसका माँ होना कैसे पूरी पृथ्वी को बेधता-सा मालूम पड़ता था? लगता था, जैसे अपने दोनों बच्चों को उसने अपनी कांखों में दबा लिया है और उन्हें लिये-लिये जाने कहाँ, किस लोक को उड़ जाना चाहती है—जहाँ जीते-जागते आदमी को एक क्षण में मिट्टी के ढूह में बदल डालने वाले काल के कराल दाढ़ों की पहुँच न हो।

सामने बैठी अधेड़ औरत ने 'कहने से दुख बँटता है', जैसे जो भी वाक्य सांत्वना में कहे, उनसे जगेसर को अपने रिक्त हो गये-से अस्तित्व में एक-एक लोटा पानी उँडेले गये होने की सी अनुभूति होती रही। इस अवकाश में वह वही करता रहा कि लौटते में भी एकाध किलो मौसमी ज़रूर खरीद लेनी है। आग लगी है चीजों के दामों को। दुकानों पर बैठे लोगों को देखो, तो आतंक उपजाते दिखाई पड़ते हैं और फलों-दवाओं की बिक्री करने बैठे लोग, ज़िन्दगी और मौत के सौदागरों की तरह घूरते मालूम पड़ते हैं। ख़ासतौर पर अस्पताल के इर्द-गिर्द की दुकानों में तो दाम पूछते डर लगता है, तीन मौसमियाँ, पूरे तीन रुपये में आई थीं। कम-से-कम पन्द्रह दाने रोज़ मिलें···

अचानक जगेसर का हाथ कुछ ढीला पड़ा, तो सामने की ओर देखा। दुःख कह चुकने पर अब कुछ अजीब-सा संकोच अनुभव होने लगा है। वह भीतर जा चुकी थी। जगेसर ने कुछ इत्मीनान से लम्बी साँस लेने के बाद माथे का पसीना पोंछा, जो आँखों के पपोटों तक बह आया था और आँखें पिराने लगी थीं। एक-दो बार वसूले से पाये-पाटी ठकठकाने के बाद जगेसर ने अदवान डालनी शुरू कर दी। उसके भीतर कहीं एक हिसाब भी चल रहा था कि अभी, शाम होने तक में, एक-दो खाटें और बिनी जा सकती हैं। बढ़ईगीरी और बान की बिनाई जगेसर की उँगलियों और हथेलियों में जज़्ब हैं। जैसे मकड़ी जाला बिनती हो, जगेसर को भी बान कहीं अपने में से ही निकलती मालूम होती है। यह औरत भी बहुत ज़िन्दगी देखी हुई जान पड़ती है। एक समरसता है इसमें। जगेसर बिनना शुरू करे, इससे पहले ही छोटी-सी कटोरी में थोड़ा सरसों का तेल रख गई थी। रूखे बिनने में हाथों में बान फँसती है, तो लय भी बाधित होती है—हाथों में ख़राश भी।

उसने अन्दाज़ लगाया था कि खाट की बिनाई पूरी होते देख, पैसे लेने गई होगी भीतर वह। तीन किलो बान के पन्द्रह रुपये—बिनाई जो दे दे। हालाँकि कई बार का उसका अनुभव है, ख़ासतौर पर गाँव-पट्टी का, कि गुड़-पानी पिलाने या, लाही-चना-सत्तू खिलाने में तत्परता दिखाने वाली औरतें, पैसों में कटौती करने का इरादा बना लेने के बाद ही सदाशयता बरतती हैं, खाटों की

बिनाई थ। दस्तकारी का काम समाप्त होते ही, उनके चेहरे पर की चिकनाहट भी खत्म हो जाती है और मजदूरी के सवाल को वे लगभग नैतिक धरातलों तक उठा ले जाती हैं कि "भइया, आजकल तो जहाँ आदमी का बिस्सास करके, बिना पहले से मंजूरी ठहराये काम कराओ नहीं कि समझो, टेंटुआ पकड़ लेंगे।"

बिन्दा की झूला-झूलती-सी जिन्दगी से लेकर, रोजदारी की खाँटी व्यावहारिकताओं तक का वितान जगेसर को एक साथ घेरता है, तो ध्यान हटाना कठिन हो जाता है। इतना ठीक-ठीक समझने में भी उसे कुछ वक़्त लग गया कि वह अधेड़ औरत उसे बरामदे से भीतर की तरफ़ आने का संकेत कर रही है।

जब तक दूसरी खाट के लिए अनेकानेक पाटियाँ और पायों में से अनुपात में छाँटने, चूल बिठाने और आखिर बिनाई का भी काम समाप्त किया जगेसर ने, और फिर बैठने के कुछ पट्टे भी ठीक-ठाक किये, इतने में बरामदे में की रोशनी मद्धिम पडती चली गई। सूरज अब अपराह्न मे, मकान के पश्चिम वाले पार्श्व में हो चुका, तब तक मकान-मालिक भी आ गया था और जगेसर को अच्छा लगा कि वह भी भला आदमी निकला। जगेसर के काम पर उसने पूरा संतोष व्यक्त करते हुए, पत्नी के कहे अनुसार पूरे बयालीस रुपये पकड़ा दिये और जगेसर को इतना हिसाब लगा लेने मे कुछ भी वक्त नहीं लगा कि साढ़े चार रुपये बान में मिल गये, बारह की मजदूरी हो गई। नोटों को उसनें पहले बसूले और फिर बान से छुआनें के बाद, माथे से लगाया और तब बड़े जतन से अंटी में कर लिया। यह बसूला ही तो है, जो दायें हाथ का हिस्सा बन गया-सा मालूम पड़ता है और जब भी, जितनी देर बरतता है जगेसर, दम बना रहता है, रोजंदारी गाँठ से बँधी मालूम पड़ती है। यह कला साथ न होती, तो बिन्दा के लिए कुछ पसीना बहा लेनें का परितोष कहाँ सुलभ होता?

कल संध्या भी जब लौटा था, तो फ़र्श पर पड़ें-पड़ें ही उसने पश्चिम की तरफ़ वाली खिड़की की ओर आँखें घुमायी थीं। धीमे स्वर में बोली थी, "जिनावर घर लौटते होंगे, सरोती बाँ-बाँ करती होगी, तो तीतरी को ये होता होगा कि गैया भी 'अम्मा-अम्मा' पुकारती है।"

'नमस्ते हजूर' कहकर, विदा लेते, सीढ़ियाँ उतरने मे जगेसर को एकाएक हुआ कि इस औरत में अब मुँह का बोलना कम, आँखों का कहना ज्यादा होता जाता है। बीस साल की गृहस्थी और वह भी ऐसी कि एक-दूसरे से पृथक् रहने के दिन उँगलियों में गिने जा सकेंगे, ले-देकर कहीं दूर-दराज की बारातों में, या नहीं, कभी-कभार खेती या गाँव-पट्टी का काम न होने पर शहर में मोती रिक्शा वाले के डेरे पर का समय अलग होता होगा, लेकिन ऐसा एक-एक क्षण का साथ तो पहले कभी अनुभव हुआ नहीं।

अपने असहाय और पंगु पड़ गये होने पर, यह औरत जगेसर के भीतर चलने-

फिरने लगी है। क्या कह रही थी कल, उसी गोधूलि वाले क्रम में, कि "हमारे निस्बत तुममें इतनी ममता का अनुमान हम पहले कभी नहीं लगाई थी"—और उसके दोनों मज़बूत खुरदरे हाथों को अपने कमज़ोर हाथों में ले लिया था। मालूम पड़ा था कि सारी शक्ति खींचे ले रही है अपने में। जगेसर को कुछ भी न सूझा था। बुझी-बुझी सी आँखों से, बस, जनरल वार्ड के सिनेमाहाल-नुमा कमरे को यहाँ-से-वहाँ तक टोहता रह गया था।

एक जो तसल्ली प्रारम्भ में, अस्पताल तक पहुँच जाने और यहाँ आर-से-पार तक की भव्य इमारतों, लोगों को मौत के मुहाने से बाहर निकालने में निष्णात लगते से डॉक्टरों-नर्सों की आवाज ही को देखते बँधी थी, वह अब टूटती जाती मालूम होती है। सिर्फ़ तीन दिन मे बीस-पच्चीस से कम लाशें अस्पताल से बाहर जाती नहीं देखी होंगी जगेसर ने। मौसमी लेने निकला था, तो तीन लाशें एक ही ताँगे में लदी निकल रही थीं और बड़ी देर के बाद ही मालूम पड़ा था कि दुर्गन्ध भी उन्हीं की थी, जो ताँगे के काफी आगे निकल चुकने पर नाक तक पहुँची थी और जगेसर को लगा कि ऐसी भयावह दुसह गन्ध जानवरों में नहीं फूटती। मरा आदमी ढोरों में भी डरावना क्यों हो जाता होगा?

अभी सीढ़ियाँ भी पूरी नहीं उतर पाया था कि उस सँकरे सन्नाटे में लगा कि वह आवाज दे रही है क्या? कानों में 'तीतरी के बाबू! तीतरी के बाबू!' सा बजता मालूम पड़ा और फिर जगेसर को मोती के डेरे पर जाने का धैर्य नहीं रहा। बान भी खत्म थी और बसूला झोले में कर लिया था। दौड़ भी पड़े, तो कोई बाधा न हो। हाँ, आधे रास्ते में दो जगह वह फिर भी अटक गया। एक जगह मौसमी लेते-लेते, कपड़े की छोटी-सी दुकान पर और फिर हनुमान जी के मन्दिर के पास। घण्टे-घड़ियालों की आवाज मन्दिर की जगह अपने भीतर से उठती मालूम पड़ती है। बिन्दा तो कुछ पढ़ी-लिखी है; भजन-कीर्तन भी कर लेती है, वह सिर्फ़ ऊँट की तरह बल-बलाकर रह जाता है। भीतर जाकर हनुमान जी की भव्य, विशाल और आद्यन्त सिन्दूर-रँगी प्रतिमा के दर्शन करते और प्रसाद चढ़ाते वक्त भी उसे और कुछ नहीं सूझा, सिवा इसके कि ऐसे वक्त में वह बिन्दा की जिन्दगी के अलावा और किसी भी कामना या प्रार्थना में कहाँ होगा।

उसके पहुँचने तक में, अस्पताल जगमगाने लगा था। बाहर की सरहदों को उलाँघता-सा, वह वार्ड की तरफ़ बढ़ा, तो साँसों का चलना सुनाई पड़ने लगा। कहीं ऐसा तो नहीं, वह दम तोड़ चुकी हो और उसकी आतमा ने आवाज दी हो—"तीतरी के बाबू! तीतरी के बाबू!"

जगेसर कुछ क्षणों को, वार्ड की दिशा में जाते लम्बे बरामदे की एक रेलिंग से लगकर खड़ा हो गया। अपना हाँफना सुनते-सुनते ही उसे याद आया कि साल-सवा-साल की हुई, तो जगह-जगह छिपती फिरती थी, और वहीं से एकाएक

आवाज़ देती थी—इसी से तो 'तीतरी' नाम रख दिया बिन्दा ने ! उसका हाथ एकाएक झोले में चला गया और बसूले की धार से लगकर, अँगूठा कट जाने की अनुभूति भी उसे तब हुई, जब तीतरी के लिए ख़रीदी हुई छींट को टोह लिया, हाथ बाहर निकालकर देखा, चुभा भर था कोना । शायद खून भी दो-चार बूँद निकल कर थम गया । इतने विराम में ही जगेसर ने अपने लिए यह तसल्ली भी खोज लेनी चाही कि अगर कहीं-कुछ अनिष्ट की बात हुई होती, तो मोती की घरवाली और साथ की औरतों का धाड़ मारकर रोना यहाँ तक आ रहा होता, बिन्दा वाला वार्ड यहाँ से अब दूर नही ।

साँस के कुछ सन्तुलित होते-होते जगेसर को लगा कि ऐसी बदहवासी ठीक नही । जब प्राण-प्रण लगाकर उसका इलाज कराने का संकल्प है, तो यों हड़बड़ाने से काम चलेगा नही ।

बिन्दा जैसे उसी के इन्तज़ार में थी । देखते ही उसकी सुनसान-सी आँखों में एक सरसता आ गई और उसके चेहरे की रंगत चाहे कितनी फीकी पड़ी हो, मगर आँखों की आब मे कही कोई कमी नहीं आई है । वैसी ही आर्द्रता और चमक जो उसके देर से लौटने पर रोशनी की तरह कौंधती मालूम होती है और कि जैसे एक इत्मीनान मे होती-सी, अपने मे ही अन्तर्धान हो जाती है । ज्यों-त्यो थोड़ा-सा प्रसाद जीभ से छुलाने और इतने मे तीतरी के कुरते-सलवार की छींट को ठीक से देखते और फिर तहाकर, अपने सिरहाने रखने तक में वह जैसे लगातार एक आलोक-वृक्ष में बनी रही । रोग की चाँप से अपने को बिल्कुल पृथक् कर चुकी हो जैसे, लेकिन फिर जैसे अपने एकाएक उमड़ आये अनुराग और स्मृतियों का बोझ ढोने मे असमर्थ-सी, अवसन्न पड़ गई । जगेसर को ही नहीं, मोती की घरवाली को भी इतना समझने मे थोड़ा वक़्त लग गया कि उसकी कृश काया मूर्च्छना में आवृत हो चुकी है ।

इंजेक्शन देने के बाद, हलका सुधार दिखाई पड़ा । इस बार आये डॉक्टर साहब ने, एक और कम गम्भीर मरीज़ की चारपाई खाली करवाकर, बिन्दा को उस पर करवा दिया था और अब वह ज़मीन से कुछ ऊपर निकल आई मालूम पड़ रही थी ।

इस बीच दो नर्सों के अलावा, तीन-चार डॉक्टर भी इकट्ठा हुए थे । और डॉक्टरों में कुछ अँग्रेजी मे ही बातचीत होती रही थी । बड़े मुटल्ले डॉक्टर की बातों पर छोटे विद्यार्थीनुमा डॉक्टर बतखों की तरह सिर हिलाते जाते थे । उनके अँग्रेज़ी वार्तालाप ने जगेसर के लेखे जैसे पूरे अस्पताल को अपने में समो लिया था । इससे जहाँ जगेसर को चिन्ता हुई थी कि बिन्दा का रोग गम्भीर मालूम पड़ता है, कहीं-कही यह उम्मीद भी कि शायद, अब कुछ ढंग के इलाज का बन्दोबस्त ज़रूर होगा, नहीं तो किसे पड़ी है कि एक ग़रीब औरत को ज़मीन

पट से उठाकर, चारपाई पर लिटाये जाने का इन्तज़ाम करता फिरे और उसके बारे में अँग्रेज़ी में बातचीत करें !

डॉक्टर इतनी हिदायत देते कि मरीज अगर पानी या फलो का रस पीना बन्द कर दे, तो तुरन्त खबर करे—ग्लूकोज चढाने का इन्तज़ाम किया जायेगा—बाहर निकल गये तो सहानुभुति मे इकट्ठा हुए अन्य मरीजो के कुछ तीमारदारों के साथ जगेसर भी वरामदे मे निकल आया और वडी देर तक अपनी विपदा सुनाता तथा उनकी सलाहे सुनता रहा। निचोड मारा यह था कि जब तक यहाँ ढग से इलाज शुरू कराने की नौबत आती है, ज्यादातर गम्भीर रोगी इलाज की सीमा से बाहर पहुँच चुके होते है। बेहोश होने के घण्टा-भर बाद इजेक्शन लगाने को पहुँचे थे डॉक्टर साहब और अब ग्लकोज़ चढाने की बात आई, तो जाने कहाँ गुम हुए—यह पता करन मे ही घण्टो लग जायेग। है बहुत जानकार, मगर यहाँ अस्पताल मे तो उडन-तश्तरी ही है। अलबत्ता जिसकी गाँठ मे कुछ दम हो, इनकी कोठी पर जाके करा लो इलाज, तो जान की गारण्टी हे।

वार्ड के झाड़ू वाले और चपरासी का भी जोर देकर कहना यही था कि भइया, या तो पैसा देख ले आदमी, या मरीज की जान। अब हाल तो जो है सो है। गवरमिण्ट क्या नही जानती, जिसके कि हजार आँख-कान, जो हम-तुम जानेग ? मगर हकीकत यही है कि यहाँ तो इलाज करवाये वो, जिसकी पौलिटिकल पहुँच हो, या और कोई नज़दीकी जान-पहचान या पहले डॉक्टरो के घर पर दक्षिणा दे आये मरीज़ को दिखाकर, तब अस्पताल मे लाके भर्ती कराये…जिस इत्मीनान और एहतियात से ये अपनी कोठी पर देख लेगे मरीज़ को, अस्पताल मे तो हर्गिज़ न देखेगे।

इन लोगो के बार-बार के ज़िक्र मे जगेसर को भी डॉक्टर साहब का नाम याद हो गया और एकाएक ही उसने जैसे अपनी पूरी ताकत लगाकर, लेकिन पूरे संयम के साथ पूछ लिया, "हम अपनी घरवाली का इलाज इन डॉक्टर गुदौलिया साहब की कोठी पर करा ले, तो कुछ उम्मीद—"।

चपरासी और जमादार की तरफ स जवाब यो मिला कि उम्मीद ही नही, सोलह आने पक्की बात।

इन लोगो की बातो मे एक खास तरह की अनुभव-सिद्धता थी। वे सशय से परे मालूम पडते थे। उनमे से किसी ने यह भी बतला दिया कि उसकी घरवाली के पाँव मे तो 'गेगुरिन' मालूम पडता हे। लगभग आधा अँगूठा काला पड चुका है। पेट मे जाने अलसर हो कि ट्यूमर, यह तो डॉक्टर ही बता सकते हैं। और यहाँ बीमारी है क्या, इतना ही पता करने तक मे भी ये लोग हफ्ता-भर से कम न लगायेंगे और औरत मे इतनी बर्दाश्त दिखाई नही पड रही।

जगेसर भीतर लौटा, तब तक मोती भी आ चुका था। उसकी घरवाली के

परिचय की दो औरतें भी वहाँ बैठी थीं। जगेसर को लगा कि असमंजस में पड़े रहने का वक्त यह है नही। उसने जैसे सारी उपस्थिति को अपने-आप से परे झटकते हुए, मोती की घरवाली के पाँवो पर मत्था टिका दिया और फूट-फूटकर रोता चला गया। वह हक्का-बक्का उसके सिर को थामे रह गई। जाने कैसे उसके मुँह से अचानक ही निकला—"हमारे जान दिये से तुम्हारी घरवाली की जान बचती हो तो बोलो—सब डॉक्टर लोग और ऊपर वाले के बस की बाते हैं, भइया, कि कौनो तुमरे-हमरे ?"

जगेसर ने सिर उठाया, आँखे पोछी और एक साँस मे सारी बात कह गया कि अगर कल सुबह-दोपहर तक यही बिन्दा की तीमारदारी मे खुद रहने का वचन दे मोती की घरवाली, तो वह गाँव हो आय।

स्टेशन के प्लेटफार्म पर गाडी का इन्तजार करते समय ही उसे याद आया कि मोसमियाँ, सेब का दाना और डबलरोटी के साथ पचास रुपये का एक, और पाँच-पाँच के दो नोट तो दे आया था मोती की घरवाली को और कैसे क्या करना है, इतना सहेजता आया था लेकिन तीतरी के लिए खरीदा कपडा तो भूल आया वही। साथ ले आया होता, तो तीतरी को कहने को हो जाता कि तुम्हारी अम्मा ने भिजवाया है···खैर बिन्दा की जान रही तो अगले फेरे मे छुटका के लिए भी कुछ कपडे ले लेगा और तब दोनो को साथ-साथ ही देगा।

गाड़ी आठ बजे तक आने की बात है। सवा आठ पर छूटेगी। दोपहर बाद से कुछ खाया नही है। भूख भी ऐसी हो गई कि कभी-कभार एकाएक फूटती मालूम होती है, कभी पेट ही सूख गया जान पडता है। ऐसा पोछते-पोंछते तक में फिर उमसता पसीना तो कभी देखा न था। कही पानी की कमी से तो ऐसा नही ?

किसी तरह मन साधकर, वह ठेले की तरफ़ बढा। पाव-भर पूरी-साग लेने के बाद एक किनारे बैठ गया और खाते-खाते ही तय करता रहा कि रात कितनी देर से पहुँचे, कस्बे-गाँव को पैदल ही चल देना है। भीतर से कही कोई बोलता जाता है कि यह देर लगाने का वक्त नही। कही भी सीटी बजती है तो अपनी ही रेलगाडी आने का-सा भ्रम होता है और हाथ का ग्रास हाथ मे ही थमा रह जाता है।

नल तक जाकर पानी पीते मे, फिर बिन्दा की मूर्च्छना के बाद से सुनसान हो आई-सी देह आँखो मे उमडती चली आई और जगेसर कुछ देर रोता, पानी से आँखे छपछपाता ही रह गया। आखिर ट्रेन आई तो मन मे आया कि काश, इसका ड्राइवर अपनी जान-पहचान का हुआ होता।

जब तक मोती ने अद्भुत जतन से रिक्शा चलाते, डॉक्टर मुदौलिया की कोठी तक पहुँचाया दोनो को, शाम के पाँच बज चुके थे। मन मे डर था कि कहीं ऐसा

न हो कि वे लोग तो यहाँ पहुँच गये और डॉक्टर साहब वहीं अस्पताल में ही मरीज़ों को देख रहे हों ? लेकिन खेमकरन जमादार का भरोसा था, उसने वादा किया है कि उनके पहुँचने तक मैं साइकिल से पहुँच जाऊँगा, वह भी वहीं होगा। डॉक्टर से इलाज की रक़म तय करने का ज़िम्मा भी उसी का है। ख़ुद अपने लिए उसने बीस भी मुश्किल से लिये हैं अभी कि तुम्हारी तसल्ली को रखे लेता हूँ। नहीं तो मरीज़ अपने पाँवों चलता वापस लौटने लगे तभी ख़ुद भी कुछ लेते अच्छा लगता है—लेकिन जाने चार-पाँच दिनों में ही क्यों ऐसा हो गया कि नर्स हो या चपरासी हो या जमादार—जब तक इन्हें कुछ पैसा न मिल जाए, ख़ुद को ही तसल्ली नहीं हो पाती। कभी-कभी तो सारे लोग पैसे के अनुपात से हिलते-डुलते, चलते-फिरते नज़र आने लगते हैं और दहशत होती है, हालाँकि शुरू-शुरू में लगता था कि कहीं झिड़क तो न देंगे, लेकिन अब तो गुल्लक का सा छेद दिखाई पड़ता है हरेक में। फिर भी दुनिया तो दुनिया है और सचमुच बड़ी है। कब, कौन और कहाँ किस भेष में मददगार बन जायेगा, पहले से कौन जान सकता है ? आखिर ये मोती और इसकी घरवाली लछमनिया भी इसी दुनिया में हैं, जो बिना किसी रिश्ते-नाते के दुख में साथ दे रहे हैं। इसी सिलसिले में उसे अनेक लोगों की याद हो आई। खाट बिनाने वाली उस अधेड़ औरत और उसके गंजे पति की भी।

बिन्दा को उतारकर, कोठी के नर्सिंग होम वाले हिस्से के लम्बे से बरामदे में लिटाने के बाद भी, कुछ वक्त लग गया जगेसर को इतना अनुभव करने में कि सिर्फ़ ये ही लोग नहीं हैं। अनेक लोग हैं जिसमें से कुछ सामान्य, तो कुछ सम्पन्न घरों के मालूम पड़ते हैं। वातावरण ज़रूर यहाँ के बड़े अस्पताल से काफ़ी भिन्न है। नर्सिंग होम के पूरे वृत्त में एक खास तरह की संक्षिप्तता और स्वच्छता है। दरिद्रता, गन्दगी और दुर्गन्ध का कहीं अस्तित्व नहीं। कूलर के चलने के शोर के अलावा, एक संभ्रान्त किस्म का, गरुएपन से भरा सन्नाटा-सा मालूम पड़ता है. जिसमें बाहर लॉन के किनारे के अशोक-वृक्षों के हवा में डोलने की आवाज़ तक सुनाई दे जा रही है; लेकिन बीच-बीच में इधर-उधर बैठे या डोल रहे लोगों का आपस में बोलना या साथ के मरीज़ों को दिलासा देना शुरू करते ही, यह कोठी भी अस्पताल का एक टुकड़ा बनती मालूम पड़ती है। खास तौर पर बरामदे में की फिनाइल-गन्ध से। नर्सिंग होम का काँच की खिड़कियों वाला, छोटे-छोटे कई-एक कमरों में बँटा लम्बोतरा हिस्सा अब मद्धिम से आलोक में हो गया था।

डॉक्टर गुदोलिया इस बीच दो-तीन बार बाहर आये। उनका आना और लौटना इतना यन्त्रवत् था कि जगेसर हाथ जोड़े उठता, लेकिन अगले ही क्षण जुड़े हुए हाथ अलग कर लेने पड़ते थे। अपने को विसर्जित करते हुए-से खालीपन में, चुपचाप नीचे बैठ जाना पड़ता। आख़िर-आख़िर खेमकरन आया। उसके चेहरे पर क़िला फ़तह कर चुकने की सी चमक थी। उसने बताया कि पहले सिर्फ़

एक सौ रुपये देने हैं। बाक़ी बातें मरीज़ को ठीक से देख लेने के बाद तय करेंगे डॉक्टर साहब।

एक बात तय है। खेमकरन के व्यवहार से ढाँढ़स बंधता है। दहशत से कुछ उबरने का सा आभास होता है और यह कि रास्ता आगे तक जाता है।

यों तो डॉक्टर गुदौलिया ने ही अस्पताल में भी देखा था, लेकिन यहाँ वैसी अफरा-तफरी में नहीं, लगभग आधे घंटे तक का समय देने के बाद, उन्होंने जो बताया, उसका सार यह था कि मामला बहुत सीरियस है और आज या कल तक में ही ऑपरेशन करना होगा, मरीज़ के लिए कमरा लेना होगा, ताकि उसकी तीमारदारी ठीक से हो सके और ऑपरेशन के पहले खून और ग्लूकोज़ चढ़ाया जा सके··· जितनी देर डॉक्टर गुदौलिया इलाज का इंतज़ाम समझाते रहे, जगेसर को बिंदा को मौत के मुंह से बचा लिये जाने की व्यवस्था किये जाने का सा एहसास होता रहा। इसीलिए वह डॉक्टर गुदौलिया के इस आकस्मिक सवाल का सहसा कुछ उत्तर ही नहीं दे पाया कि "तुम्हारी घरवाली तमाखू या बीड़ी-सिगरेट तो नहीं पीती है ?"

जब तक वह कुछ कह पाता, डॉक्टर गुदौलिया इतनी हिदायत देते भीतर की तरफ़ निकल भी गये कि ये सब बंद करना होगा···भौचक खड़ा जगेसर डॉक्टर साहब को खेमकरन को मरीज़ को बाहर निकालने का संकेत करते और फिर किसी दैवी शक्ति की तरह अंतर्धान होता-सा देखता रह गया। उनके बाहर जा चुकने पर, जब खेमकरन ने बताया कि "गैंगरिन की बीमारी में बीड़ी-सिगरेट बहुत नुकसान देते हैं"—तब कहीं जगेसर बता पाया कि उसकी घरवाली को ऐसा कोई व्यसन नहीं है।

उन्हें फिर दूर बरामदे में ही बिठाकर, खेमकरन, नर्सिंग होम के भीतर चला गया। जगेसर अब स्वयं ही इस प्रतीक्षा में हो गया कि देखें, लौटकर खेमकरन कुल कितना खर्च बतलाता है। इतना आभास हो गया कि अब कुल जमा लगभग बारह सौ रुपये उसके पास रह गये हैं, ये भी शायद कुछ कम पड़ें। भीतर कांच-घर का सारा तामझाम ऐसा था कि पैसा-पैसा बोलता मालूम पड़ता था, एक ऐसा लकदकपन और चकाचौंध जो जगेसर जैसे लोगों को भीतर तक छीलती चली जाय कि कहो, है तुम्हारी इतनी औक़ात ?

खेमकरन के वापस आने तक की अवधि के लिए, उसने अपने को प्रार्थना करते होने की-सी आर्द्रता में पाया और खुद को यह अनुमान लगाने में व्यस्त कर लेने की कोशिश की कि यदि दो हज़ार तक में भी बात बन जाय तो पाँच छै सौ की और व्यवस्था करके देने के लिए वह जो चाहे सो वचन दे देगा। हालांकि सिवा नाम-मात्र को जैसी साथ देती कुछ पैतृक ज़मीन गिरवी रखने या बेचने के और कोई जुगाड़ बिठाना अब शायद संभव न होगा—खास करके इतनी तुरत-

फ़ुरत में। छोटा भाई तो कल भी यही कहता था कि चाहे सब-कुछ बिक जाय, मगर भाभी को ज़िन्दा वापस आना चाहिए और साथ आने की ज़िद भी कर रहा था लेकिन उसने बहू को ही साथ लाना ज़्यादा उचित समझा। झाड़ा-पानी जाते में बालगोविन्द क्या मदद करेगा। दोनों को साथ ला नहीं सकता था, तीन छोटे बच्चे घर पर छूट जायेंगे तब—दो उसके, एक भाई की लड़की।

इतनी देर में अब जैसे पहली बार जगेसर ने बायीं आँख को अपने पूरे जिस्म पर से पृथक् करते हुए, बहू की ओर घुमाया। वह घूँघट काढ़े जिठानी के सिरहाने बैठी थी मोती की घरवाली के साथ रौत-सिकते में अपने-आप में काँपती मालूम पड़ती थी वह। और जगेसर को अचानक याद आया कि जब गौने के बाद इसे लिवा ला रहे थे, तब भी यह रंगीन कपड़ों की गठरी बनी-सी काँपती रही थी।

खेमकरन आया, तो जाने क्यों, अपनी चाल और आकृति में कुछ परिवर्तन हुआ-सा मालूम पड़ा जगेसर को और जैसे ही उसने बिलकुल पास आकर, अपना मुँह खोला, दाढ़ उकासता-सा जान पड़ा—"कुल साढ़े तीन हज़ार का बंदोबस्त बैठ रहा है भइया।"

उसने लगभग फुसफुसाते हुए कहा था, लेकिन जगेसर को लगा कि इतने ज़ोर से चिल्लाया कि शोर से कानों में सन्नाटा भर गया है। जब तक वह ठीक से उबरता, खेमकरन ने सारे ब्यौरे इस प्रकार थमा दिये कि साढ़े तीन हजार भी रियायती मालूम पड़े।

दो-तीन बोतल ग्लूकोज़, फिर मेल के ख़ून की बोतलें, अनेक क़ीमती दवाएँ और इंजेक्शन—और पहले पेट का ऑपरेशन करने के चौथे-पाँचवें दिन ही, पाँव के अँगूठे को काटकर अलग करना—इसमें हफ़्ते-भर तो यहीं, नर्सिंग होम में ही रहना होगा, दूध-बिस्कुट, फलों के रस वग़ैरा का इंतज़ाम भी इसी में।

वह ऐसे निभ्रान्त स्वर में बोल रहा था जैसे कोई धार्मिक प्रवचन कर रहा हो। जगेसर के लिए यह कल्पना करना कठिन था कि ऐसा निष्णात व्यक्ति अस्पताल में जमादार की नौकरी करता है। वह जब जगेसर की तरफ़ से जवाब पाने की तैयारी में अपने-आप चुप हो गया, तब जगेसर ने सारी स्थिति समझी, और फिर जैसे अस्पताल में मोती की घरवाली के, वैसे ही सारा असमंजस तोड़ कर यहाँ खेमकरन के पाँव पकड़ लिये।

आखिर, उसका रोना थमा, तब भी जान सिर्फ़ इतना ही पाया कि फ़ैसला उसे ही करना है। खेमकरन ने साफ़ कह दिया कि भइया, इलाज बेहतर-से-बेहतर करे के खातिर तो हम डॉक्टर साहिब के कहि सकित ही—अउर, मुला हमरी थोड़ी मानित भी अहे, मगर पइसा-कौड़ी के मामले में गुस्साय जात हैं कि 'ये क्या कोई पंसारी की दुकान है?' अब तुम लोग सोच-विचार के आपस में जब मन

बने, तो काल्हि-परसों में ले आबा—मगर हालत मरीज़ की बहुत सीरियस है।

जगेसर को उसकी एक-एक बात कील-सी गड़ रही है। जैसे वह अपने को किसी पाप से अलग कर रहा हो। आखिर खेमकरन के पाँवों पर से अपने हाथ हटाये जगेसर ने तो लगा कि किसी मुर्दे पर से हाथ हटाये हैं।

जगेसर का जवाब सुनकर खेमकरन फिर भीतर गया लेकिन तुरन्त लौट आया और बताया कि ऑपरेशन तो डॉक्टर साहब पूरा पैसा मिल जाने के बाद ही करेंगे—हाँ, चार-पाँच सौ की कमी हो जाय वो बात दूसरी है कि मरीज़ को रिलीज़ कराते वक्त चुकता करते जाओ। लेकिन इसके साथ-साथ एक बात काफी धीमे स्वर में यह भी जरूर बतलाई खेमकरन ने कि यदि ज्यादा पैसा खर्च करने की गुंजाइश न हो तब डॉक्टर साहब कल या परसों में कभी अस्पताल में ही ऑपरेशन कर देंगे और मरीज़ वहीं भरती भी रहेगा। तब सिर्फ सवा, डेढ़ हज़ार में काम चल जायेगा। जिसे अभी एडवांस दे जाय जगेसर तो वापस तुरन्त अस्पताल में भर्ती किये जाने और बेड मिल जाने में भी कोई दिक़्क़त न होगी। डॉक्टर साहब अभी फ़ोन कर देंगे। खेमकरन साथ-साथ वापस जायेगा और सब व्यवस्था खुद करा देगा। कई-एक बातें उसने और भी कहीं जो जगेसर को लेकर नहीं, बल्कि समय और सरकारी बदइंतज़ामी को लेकर थीं।

खेमकरन की बातें सुनते-सुनते, अब पहली बार उसे अनुभव हुआ कि जो चीज इस बीच बार-बार पत्थर की सिगडी के जलाये जाने पर शुरू-शुरू में उठते ज़हरीले धुएँ सी उसके पूरे अस्तित्व में इकठ्ठा होती चली जा रही है, वह न तो सिर्फ मृत्यु-भय है और न बदहवासी—इसमें कहीं खून को भादों की धूप की सी झुलसन में करता गुस्सा भी है—और नाक तक उफनकर आती-सी नफ़रत भी। इधर जाने क्यों उसे एकाएक कै कर बैठने की सी बेचैनी महसूस होने लगी है।

खेमकरन क्या उसके भीतर की हलचल को भाँप रहा होगा? यह आदमी एकाएक किसी क़दर काइयाँ प्रतीत होने लगा है और बदशक्ल। डॉक्टर गुदीलिया गोरे मांस की गुदड़ी सा है, यह उतना ही काला, और चेहरा, जैसे काँच की कोई खाली गोल-मटोल शीशी हो—जैसा पदार्थ भर दो, वैसा ही आभास। अभी घंटा-भर पहले तक कैसा ढाढ़स बँधाता जान पड़ता था, अब गिद्ध की तरह उकडूँ बैठा प्रतीत होता है।—जगेसर को एक लहर-सी आई कि थाम ले क्या गला इस हरामजादे का कि अभी कल तक तो बताता था कि हजार-बारह सौ तक का खर्च बैठ जायेगा और आज मूँड हिलाता कहता है कि हजार-बारह सौ देने पर इतना तो हो सकता है कि भर्ती कर ले डॉक्टर साहब और बेड दे दें, मगर ऑपरेशन तो दो-ढाई हज़ार एकमुश्त मिलने से पहले नहीं करेंगे। वह तो ग़रीब होकर भी छाती खोले दे रहा है। यहाँ तो पैसे वाले भी जहाँ तक हो सके कटौती

कराने में ही जोर लगाते हैं और मजबूर डॉक्टर साहब को अपनः नियम पक्का बना लेना पड़ा है कि फ़लाँ ऑपरेशन इतने से नीचे नहीं। और फिर नहीं तो किसी के लिए नहीं। यहाँ आने वाला हर आदमी मरीज़ है और उसके साथ व्यवहार एक रहे, तभी साख बनी रह सकती है। आखिर सैकड़ों-हज़ारों मील दूर तक के लोग यहाँ इनसे ऑपरेशन करवाने चले आते हैं।

पहले एक बार तो मन में आया कि इस बिचौलिये को एक किनारे छोड़कर वह सीधे डॉक्टर गुदौलिया के पाँवों पर ही मत्था टेक दे और प्रार्थना करे कि ऑपरेशन आज ही कर दें। कल-परसों तक में थोड़ी-सी तबीयत सँभल जाय बिंदा की, तो वह, बस दो-एक दिनों में बाकी के पैसे भी जरूर चुकता कर देगा। कौन यहाँ से सैकड़ों कोस दूर है उसका गाँव, कुल जमा छै-सात घंटे लगते हैं पहुँचते। किन्तु जितना अब तक में डॉ० गुदौलिया को चलते-फिरते, बात करते और कल अस्पताल में टोह पाया है—और जैसा भी उसका आदमी का अब तक का अनुभव है—खेमकरन जैसे सैकड़ों-हज़ारों का बाप मालूम पड़ता है यह। किस क़दर तोता-चश्म और इस पृथ्वी से किसी अन्य लोक का रूप वासी है यह। अपनी सारी इंद्रियों को जाने कब का लील चुका मालूम पड़ता है। इसकी एक-एक बात, एक-एक कदम के चलने से मालूम पड़ता है कि इस तक पहुँचने का एक ही उपाय है—जैसे यह रास्ता दें, जो कुछ यह खुद देखना और सुनना चाहे, इसके अलावा सारी चीज़ों के प्रति यह वज्रबहरा मालूम पड़ता है। बाहर आता है कभी तो जब तक आप हाथ जोड़ने को हों, तब तक यह अन्यत्र हो चुका होता है। गोरी खाल से मढ़ा जिन्दा ढोल जान पड़ता है यह, जाने किधर को लुढ़क पड़े।

'पिशाच!' बड़ी मुश्किल से इस एक शब्द तक पहुँच पाया जगेसर, जबकि उसकी चेतना में अचानक यह संशय कौंधा कि कहीं सारी रक़म एकमुश्त पहले ही इसीलिए न माँगता हो यह डॉक्टर कि हो सकता है, ऑपरेशन कामयाब न हो?

अब पहली बार ये हुआ जगेसर के मन में कि क्या बिंदा को अंतिम रूप से खोने का वक्त सिर पर मँडराने लगा है? कैसा कराहना हो गया है उसका—कितना सूखा और दारुण। बहू ने दोनों हाथों से उसके बताये अनुसार ही कई बार रस निचोड़ा है मुँह में, लेकिन मालूम पड़ता है कि सब बाहर बह आता है। कनपटी के पास की नसें नीली पड़ गई हैं और दूर से ही दिखती हैं। मान लो कि सिर्फ भर्ती कराके निकल जाओ और रुपया इकट्ठा करने में दिन लग जाये और जब तक लौटो—

जब ऑपरेशन बाद में होना है तब यहाँ छोड़कर क्या करना है? एकाएक ही उसने अपने को पूरी तरह संयत करते हुए मोती की तरफ मुड़ते हुए कहा और फिर खेमकरन की तरफ़ पलटते हुए। एक हज़ार रुपये गिने, सौ-सौ के दस नोट।

जब तक वह अपना हाथ आगे बढ़ाये, जगेसर खुद उठ खड़ा हुआ, "चलो भइया दे आवें डॉक्टर साहब को, ठीक है, अस्पताल में ही कर दें आपरेशन—"

इस वक़्त आरामकुर्सी पर पसरे, कोल्ड कॉफ़ी के मग में आइस-क्यूब छोड़ते हुए डॉक्टर गुदौलिया को रुपये थमाते हुए, वह एक क्षण को वहीं खड़ा रहा। वहाँ एक निरपेक्ष किस्म के स्वीकार के अलावा और कोई प्रतिक्रिया न देख, आखिर बिंदा को अस्पताल वापस ले जाने की चिन्ता में डूबा, बाहर निकला कि खेमकरन ने चिकोटी-सी काट ली, "हमारा अकीन न हुआ तुमको ? क्यों भइया !"

जगेसर को सँभलकर कुछ कहते, थोड़ा वक़्त लग गया। इतना तुरन्त मन में आ गया कि अभी इस आदमी से बिगाड़ ठीक नहीं, बोला, "हमारी पूछो, जमादार साहब सो हम ई खातिर भीतर गये रहे कि डॉक्टर साहब के कानों में इतनी बात डालते आयें कि हजूर, अगर घरवाली की जिंदगी बच गई तो अस्पताल में ऑपरेशन होने पर भी मुँहमाँगी रकम चुकता करेंगे—किन्तु सामने पड़ गये, तो यही डर लगा कि कहीं डाँट न दें कि गँवार हमारे सामने रुपल्ली बजाता है।"

अपनी सारी कड़वाहट को पचाकर, निहायत सधे ढंग से बोलने में, अब खुद एक चालाकी की सी अनुभूति हुई उसे और लगा कि ऐसे ही सीखता होगा आदमी 'एक बालिश्त दक्खिन की जगह और एक बालिश्त उत्तर की तरफ़ से बोलना।' अचानक ही वह फिर स्मृति में डूब गया कि कब, किस अवसर पर और कितने साल पहले कहा होगा बिंदा ने, अपनी बालिश्त को गले के पास से हृदय की तरफ़ ले जाते हुए कि—"तुम यहाँ से बोलते हो, तीतरी के बाबू—दक्खिन से।"

प्रसंग और वक़्त तो ठीक-ठीक नहीं, लेकिन अपने वक्ष पर उँगलियाँ फैलाये, अपूर्व प्रफुल्लता में डूबकर बोलती बिंदा का चेहरा ज़रूर याद आ गया, जिसे अब ढूँढ़ोगे इस औरत में, तो कोसों-कोसों तक कहीं दिखेगा नहीं।

कोठी के चरमर-चरमर आवाज़ करते लोहे के फाटक के बाहर निकल कर पहले, खुद रिक्शा पर बैठकर, तब बिंदा को गोद में सँभालते हुए, जगेसर फिर जाने कहाँ तक डूबता चला गया कि गोद में असहाय बच्चों की सी दीनता में पड़ी बिंदा से भी कुछ बोलना हो नहीं पाया। कल जब से यह औरत मूर्च्छित हुई थी, तब से उससे बातें करना या उसके सामने पड़ना भी उस पर बोझ डालना मालूम पड़ता है, देखते-बतियाते ही उसकी आँखें गाय की सी हो आती हैं, और इसकी दीनता और वेदना को सहना कठिन हो जाता है। अगर कोई कहे कि अपना अँगूठा काट कर फेंको जगेसर, तो देखा कि इसका अँगूठा ठीक हो जाता है अपना पेट उघाड़ दो आर-पार तक—जगेसर को, शायद ज़्यादा देर न लगेगी, मगर यहाँ तो, अब, निचाट बेबसी के सिवा कुछ नहीं।

रिक्शा हनुमान मन्दिर वाले चौराहे से गुज़रने लगा, तो जगेसर ने अपने बायें हाथ में लिटाये-लिटाये ही थोड़ा-सा ऊँचा कर लिया बिंदा के शरीर को,

और रो पड़ा। वह साफ़ देख रहा था कि बिंदा बिल्कुल बेहाल हो चुकी है, उसमें दीये की लौ के कहीं भीतर ही डूब चुकने का सा निढालपन आ गया था। वह डर गया कि कहीं यह अस्पताल तक पहुँचने से पहले ही दम न तोड़ दे।

अस्पताल पहुंचते ही उसने बीस रुपये और पकड़ा दिये खेमकरन को। इतना जानते हुए भी कि डॉ० गुदौलिया के साथ ही इसका कुछ हिसाब होगा जरूर।

बिंदा को बिस्तर पर लिटाने के कोई घंटा भर बाद खेमकरन ने बताया कि डॉक्टर गुदौलिया ने अस्पताल में नर्स और जूनियर डॉक्टरों को भी फ़ोन कर दिया है। कुछ ही देर में दवा-इंजेक्शन का भी इंतजाम हो जायेगा और ग्लूकोज़ भी चढ़ाया जायेगा। और ग्लूकोज़ चढ़ाते ही मरीज की बेचैनी-भी कम हो जायेगी। हालत भी कुछ सुधर जायेगी। यह जो बार-बार की बहोशी है, यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ तक फटीग भी इसमें कारण है। इतना बताने के साथ ही खेमकरन ने एक पर्चा-भी पकड़ा दिया कि ये दवाएँ और ग्लूकोज़ की शीशी तनिक लेते आओ।

लगभग दस बजे रात कहीं जाकर बिंदा की हालत कुछ सँभली और उसने कहा तो कुछ नहीं, लेकिन मुँह पर हाथ फिराया, तो लगा कि पहचान रही है। दस-पाँच मिनट बाद वह कुछ बोलने भी लगी और धीमे से उसने सुगनिया की गोद में हाथ रखकर, कुछ बोलकर और कुछ संकेतों से घर-गांव और बच्चों से लेकर जानवरों तक का हाल पूछ लिया।

मोती के ज़िद करने पर, वह उसके डेरे की तरफ़ चल पड़ा। बहू को सहेजता गया कि बस, घड़ी भर में लौटता हूँ। दोनों होली होते डेरे तक पहुँचे। तब तक मोती की घरवाली आलू-अंडे की रसेदार सब्ज़ी और चावल पका चुकी थी। ये औरतें भी कमाल हैं। इन्हें ग़ौर से देखो, तो संसार चलाती मालूम पड़ती हैं। रात आठ बजे तो लौटी थी यह अस्पताल से और अब ग्यारह बजते होंगे। ज़्यादा से ज़्यादा। वह तो ज़हर मान लेता। मोती ने ही समझाया कि कहीं ऐसा न हो कि ख़ुद उसे खाट पकड़ लेनी पड़े। वह सचमुच बेहद थक चुका था और अपने भीतर उजाड़ बोलता-सा मालूम पड़ने लगा था उसे। माथे और पीठ में दर्द और जकड़न भी थी और फिर वही न बुझती-सी प्यास। पकौड़ियों के साथ अद्धे से भी कम ही ली होगी उसने नारंगी, मगर एक समतलता आ गई है। पूरा एक कागज़ी नींबू गार दिया था मोती ने उसके गिलास में। इससे प्यास भी अब वैसी नहीं रही। बिल्कुल मद्धिम-सा नशा था। लेकिन इस ऊष्मा में आज कितने दिनों के बाद जगेसर बड़े संतुलन से देर तक बतियाता रहा मोती और उसकी घरवाली से। बहू के लिए खाना लेते, लौटने लगा तो मुड़ा और और फिर, लेकिन धीमे से, लछमनिया के पाँव छूता बोला, "तुम देवीरूप हो, मरतों को सहारा दे रही हो।"

अस्पताल मोती के डेरे से ज़्यादा दूर नहीं, यह भी एक सुभीता है। बिंदा बच

जाय तो एक दिन यहीं, मोती के डेरे पर दावत करेगा जगेसर और एक बढ़िया सी धोती ज़रूर लेकर देगा लछमनिया को। उड़ती नज़र से देखो तो क्या दिखता है इस अधेड़ औरत में ? दाँत तीन-चार टूट चुके और वो भी ठीक सामने के, मगर बाकी के चूना-कत्थे के खाये हुए दाँतों के बीच सहसा मालूम नहीं पड़ते कि टूट चुके। बोलती है तो आधी आवाज़ डूब जाती है, झाँइयों से पूरा चेहरा ढँका हुआ है। लेकिन भीतर जाने क्या है इस औरत में कि इसके पाँवों तक में ऊष्मा मालूम पड़ती है। उस हरामज़ादे खेमकरन के पाँव छुओ, तो कैसा मरगिल्लापन सा महसूस होता है उँगलियों की पोरों में, जैसे कोई मरा पड़ा चूहा छू लिया हो—और उस साले डॉक्टर गुदौलिया की तो पाँवों की पिंडलियों तक में साँप का सा चिकनापन है।

रात के लगभग एक बजे बिंदा की तबीयत फिर एकाएक ही खराब हुई, तो जगेसर जाने कहाँ-कहाँ किसी डॉक्टर या नर्स को तलाशता दौड़ता-भागता रहा। मगर खेमकरन तक मिला नहीं। अलबत्ता एक-दो तीमारदारों ने ज़रूर कहा कि इस आधी रात में जाने कहाँ सिनेमा देखते, ताश खेलते, शराब पीते या ऐश करते होंगे डॉक्टर लोग। लगभग ढाई बजे दो नर्सें पकड़ में आईं और उन्होंने कभी घड़ी देखी, कभी बिंदा की नाड़ी और चुपचाप वापस लौट गईं। लगभग आधे घंटे बाद दुबारा आईं और दो इंजेक्शन देकर पुनः वापस लौट गईं। अपने-आप में वो—खास तौर पर रात के इस पिछले पहर के सन्नाटे और गाढ़ेपन में—तिलिस्मी पुतलियों-सी मालूम पड़ती थीं। कितने भी गंभीर रोगी को देखते में, किसी के चेहरे और आँखों में ऐसी निष्प्रभाविता दिख सकती है, कल्पना करना कठिन था। ऐसा ठंडापन तो जानवरों के डॉक्टरों में भी नहीं देखा है जगेसर ने। अलबत्ता कभी-कभी जो एक काली-सी नर्स आती थी, उसका व्यवहार बिलकुल भिन्न था, वह कुछ-कुछ लछमनिया की तरह व्यवहार करती मालूम पड़ती थी।

बहू नींद का बोझ न सँभाल पाने से खाट से सिर लगाये-लगाये सो गई। जगेसर ने अब पूरे वार्ड को आर-पार तक ग़ौर से देखा। इस बीतती रात में भी जाने कितने जागे हुए थे। दो मरीज़ तो प्लास्टिक की मच्छरदानी में बंद ऐसे मालूम पड़ते थे, जैसे बरसों से यों ही पड़े हों—बिना हिले-डुले और साँस लिये, उनके सिरहाने बड़े-बड़े लम्बोतरे-से हण्डे रखे हुए थे और नाक में नली टँगी हुई। ऊपर ग्लूकोज़ और खून की बोतलें टँगी हुईं। देखो, तो सारा वातावरण कुछ ऐसा कि लगे, पृथ्वी से कटकर, कहीं किसी नरक में पहुँच गये हैं क्या। किसे देखो, अपनों को कि दूसरों को ? दिन में इतना भयावह नहीं होता है वातावरण। इस वक़्त तो मौत चहलक़दमी करती-सी मालूम पड़ती है और पंखों के चलने से होती आवाज़ तक से दहशत टपकती है। इधर बिंदा की तरफ़ देखो, तो कलेजा काँपता है। कौन जानता है कि इंतज़ार करते बच्चे माँ को लौटा देख भी पायेंगे कि नहीं ?

सुबह का उजाला फूटने के साथ-साथ बिंदा का सख़्त पड़ता हुआ चेहरा कुछ नम हुआ। वह पहली बार कुछ चैन की नींद में मालूम पड़ी तो बहू के कहने पर जगेसर बाहर बरामदे में चला आया और जाने कितनी कल्पना और आशंकाओं में डूबता-उतराता, आख़िर घाम-चढ़े जागा। अब एक-एक पल यही प्रतीक्षा थी कि किसी तरह ऑपरेशन हो जाये। एक अबूझ-सा सन्नाटा भर गया है। देखना, सुनना और महसूस करना—सब जैसे बस, बिंदा के इर्द-गिर्द तक सिमटकर रह गया है। न आसमान में उड़ते पक्षियों को देखने की स्मृति रहती है, न सड़क पर होती हलचल की। इन्द्रियों का स्वाद ही उड़ गया है।

दोपहर तक में एक बार डॉक्टर गुदौलिया आये तो, लेकिन नर्सों से अंग्रेज़ी में ही कुछ बतियाते और बिंदा के सिरहाने टँगे चार्ट को घूरते हुए निकल गये। आख़िर जगेसर को खेमकरन ने ही बताया कि ऑपरेशन शायद आज भी नहीं कर पायेंगे डॉक्टर साहब। ख़ून की जाँच हो रही है, मेल के ख़ून की बोतलें पहले मँगाकर रखनी होंगी।

दोपहर, बहू और लछमनिया को पास में छोड़, कुछ अन्य तीमारदारों के साथ बरामदे में जा बैठा जगेसर और भारी उमस के बाद एकाएक झमाझम बरसती वर्षा को देखता, थोड़ा इस तसल्ली में हुआ कि मौसम में शीतलता आ जाने से बिंदा को भी कुछ चैन पड़ेगा। पंखों का तो वार्ड में यह हाल है कि कब चलना शुरू करेंगे और कब बंद होना—कुछ ठीक नहीं। हाँ, प्राइवेट वार्डों में बिजली प्रायः दिखाई पड़ती रहती है।

प्रसंग छिड़ते ही अस्पताल की अंधेरगर्दी और डॉक्टरों के रवैये पर एक के बाद एक का मुँह खुलता गया। दो-तीन जन तो ऐसे थे, जिन्हें पन्द्रह-बीस दिनों से भी ज़्यादा हो गये थे अस्पताल में अपने मरीज़ों को भर्ती कराये। जगेसर को मालूम पड़ता है कि गिनती के दिनों में ही, वह ख़ुद भी इसी संसार का हिस्सा हो गया है। अस्पताल में पहुँचने के दिन में यह एक रहस्यलोक जान पड़ता था और कुछ सांत्वना देता हुआ भी। अब एक ठोस यथार्थ की तरह, भीतर की जाने कितनी तरलता तो सोख चुका। अब लोगों का ऐसा कहते सुनना क़तई कुछ अजूबा नहीं लगता कि यहाँ सरकारी दवाएँ तक चोरबाज़ार में चली जाती हैं, और न-जाने कितनी नक़ली दवाएँ सरेआम बिकती हैं।

एक कहीं दूर के किसी क़स्बे के जूनियर हाईस्कूल के अध्यापक महोदय थे, जो भीतर प्रायः अख़बारों में डूबे दिखाई पड़ते थे। अपनी माँ की तीमारदारी करते में भी कुछ पढ़ते जाते आभासित होते थे, क्योंकि उनकी तरफ़ जब देखो, ओठों के बुदबुदा रहे होने का सा भ्रम होता था। उनके कहने का सार यों था कि जब मेडिकल कालेजों की भर्ती में लाख-पचास की घूस चलती है और मेडिकल परीक्षाओं का एक-एक पर्चा तीस-तीस, चालीस-चालीस हज़ार में बिकता है, तब

यहाँ ग़रीब मरीज़ का इलाज जी लगाकर कौन उल्लू का पट्ठा डॉक्टर करेगा ?

"ये अस्पताल तो इन डॉक्टरों के लिए अपने-अपने ग्राहक खोजने के सेंटर हो गये हैं, साहब। पता करिये, तो मालूम पड़ता है कि शायद ही कोई डॉक्टर हो, जो या तो खुद नर्सिंग होम खोले न बैठा हो, या किसी नर्सिंग होम में पैसा न बँधाये हो। दाँत का डॉक्टर दाँत, आँख का डॉक्टर आँख और हाड़-गाड़ का डॉक्टर ऐक्सरे की मशीनें घर में लगाये बैठा है और लूट मचाये है। इस ससुरी सरकार से कोई पूछे कि तब ये साली बड़ी-बड़ी लाल-लाल-बिल्डिगें काहे खड़ी किये हो ? लेकिन पूछिये क्या, उल्लू के पट्ठों को भी तो उल्लू बनाना है—और सरकार भी चलाना है, तो कुछ-न-कुछ करना ज़रूर है। लेकिन यहाँ आओ, तो आधे से ज़्यादा ऊपर वाले पर रहो"—कहते हुए उन्होंने दोनों हाथ ऊपर उठा दिये और पहली बार बताया कि तीन साल पहले इसी अस्पताल में उनका बड़ा बच्चा जाता रहा था।

जाने किसने कहा कि डॉक्टर क्या है पिशाच समझिये—आदमी की ज़िन्दगी की कोई क़ीमत नहीं इनके लिए, आदमी इनके सामने-सामने दम तोड़ रहा हो, लेकिन बिना नोटों की गड्डी पकड़ाये, ये इलाज नहीं करेंगे तो नहीं ही करेंगे—तो जगेसर को लगा कि कहीं उसने ही नो यह नहीं कहा ?

अब मास्टर साहब पालथी मार कर बैठ चुके थे और अपने अनुभवों से, अख़बारों को पढ़कर और यहाँ लोगों से बहस-मुबाहिसा में जाने कितना इकट्ठा किया हुआ, वो बीड़ी के एक-एक क़श के साथ बरामदे में झाड़ की तरह गिराते ही चले गये कि डर, घृणा और ग़ुस्सा लोगों के चेहरों पर ऐसा हो आया कि उँगलियाँ बढ़ाइये और छू लीजिये।

बरसाती पानी कहीं ऊपर छत पर एकत्र होने के बाद, नलकों से नीचे गिर रहा था और अपने शोर से नदी के बहते होने का सा आभास दे रहा था। मास्टर साहब ने नीचे की ओर संकेत करते हुए बीड़ी का ठूँठ बरामदे से बाहर उछाल दिया, "आप लोग जानते हैं अभी हफ़्ते-भर पहले यहीं नीचे एकठो डाकू एम. एल. ए. भर्ती था। और यही चपड़गंजू डाक्टर ढोल दिन में चार बार हाज़िरी बजाता था। दो-तीन राइफिलधारी चमचे एम. एल. ए. साहब के साथ तैनात रहते थे हमेशा और···सुना है, किसी ने इस मुटके के कान में पान चबाते हुए ये बात डाल दी थी, ऑपरेशन से ठीक पहले कि अगर हमारे विधायक जी को कुछ हुआ तो तुम्हें भी साथ ही जाना होगा···वहाँ ऊपर।" और धाँय ! कारीगर तो साला है ही ये, छाती में से गोली ऐसी सफ़ाई से निकाल दी कि चौथे दिन डाकू विधायक जी वो-ओ उधर लॉन में टहलते नज़र आ रहे थे। ऐसे होता है, अब सही इलाज ! यहाँ वार्ड में ससुर गेंडे के से सींग घुमाता कब आता है, कब निकल जाता है···

"सुना है, ऑपरेशन के लिए ढाई हज़ार रुपये विधायक जी के इलाके के गन्ना मिल के मालिकों की ओर से दिये गये थे?···इन्हें खबर पड़ी, तो हाल पूछने आये। डॉक्टर को किसी रैफिलये ने एक ही झटका दिया कि, ए मोटू, हमसे भी फ़ीस लेने लगे? दो घंटे के भीतर रक़म वापस नही पहुँचाई विधायक जी के पास, तो हमारी फ़ीस शुरू हो जायेगी। इसने घंटे भर में लौटा दिये। अब तो भइया, या पैसा और या बंदूक···इसके सिवा कोई काम क़ायदे से करा नहीं सकते···"

"सरकार तो इनसे खुद कहती है कि हमारी दुकान भी चलती रहे, अपनी भी चलाते रहो। साले सौ मे अस्सी डॉक्टर इन घूसखोरों, हराम की कमाई वालों के घरों से आ रहे हैं और या नेताओं-मिनिस्टरों के। इनको ग़रीबों का दर्द ब्यापेगा? हमें कुत्ते को मरता देख तकलीफ़ होती है, इनके लेखे आदमी मरा कि नाकारा ढोर मरा।"

"कुछ भले डॉक्टर भी हैं बेचारे बड़ा ध्यान रखते है, ग़रीब मरीज़ों का। बड़ी सांत्वना भी देते है···"

"अरे, सौ में दस भले क्या कर लेंगे? किसी आदमी का सारा जिस्म कोढ़ से गला हो, बस, एक हाथ ठीक-ठीक हो, तो उसे नीरोग कहेंगे आप? और भइया, ये जो देखते हो कि आखिर कुछ तो लोगों की देखभाल हो ही रही है, इलाज भी होता ही है, मरीज़ चंगे होकर भी यहाँ से निकलते ही हैं···तो आखिर सरकार की गाड़ी भी चलनी ही है। एकदम ही अँधेरा कर दें, तो आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों···एक-न-एक दिन बलवा ज़रूर हो जाएगा।"

"अरे, साहब, इस मुल्क के लोगों मे अपने ऊपर हुए ज़ुल्मों के ख़िलाफ़ बलवा करने की ताक़त होती, तो आज ये हालत ही क्यों होती? इस वक़्त यहाँ गपाष्टक लगाने बैठे हैं हम लोग, तो मालूम पड़ता है कि कुछ सोचने-समझने वाले लोग हैं···लेकिन भीतर से मरे हुए। डॉक्टर की तरफ़ हाथ जोड़ो, तो वो कुत्ते के दुम हिलाने के बरोबर भी अहमियत नहीं देता···हम लोगों मे बेदम कि कहें, 'क्यों बे, उधर कहाँ देख रहा है?' ज़रा-सा नाराज़ हो गया, तो जाने क्या खुराफ़ात कर दे मरीज़ के साथ, इसी अंदेशे में इन हरामखोरो के सिवा 'साहबजी साहबजी के कुछ निकलता नहीं जबान से—"

बहस जोर में ही थी कि तभी हल्ला आया कि डॉक्टर लोग हड़ताल पर चले गये हैं। किसी चपरासी ने किसी डॉक्टर को जूते से पीट दिया है—दवाचोरी का इलज़ाम लगाने पर—और—

मास्टर साहब उठ खड़े हुए, इतना कहते हुए कि यहाँ बहानों की कौन कमी है? कभी प्राइममिनिस्टर, गवर्नर या चीफ़ मिनिस्टर साहब आ गये है शहर में —आपका मरीज़ दम तोड़ रहा है—आप नीचे-ऊपर, दायें-बायें मारे-मारे फिर रहे हैं, मगर डॉक्टर साहब लोग नदारद हैं। नर्स ने जमादार को चप्पल मार दी,

जमादार ने नर्स का झबला नोंच लिया —डॉक्टर ने कंपौंडर, कंपौंडर ने डॉक्टर का गला पकड़ लिया है—कभी साला स्टाफ़ हड़ताल पर चला गया है, सब सालों के हराम के पैसे पक्के हैं—भुगतिए आप। मुर्दाबाद हो गया है मरीज़ का हाल बिगड़ते-बिगड़ते, उठाइए, टिकटी पर लटकाइए—और गंगाजी के किनारे पहुँच जाइए—बड़ा पुन्न है, गंगा मइया की गोद में, जी-भर राख बहाइए—"

जगेसर ने देखा कि बीड़ी का धुआँ मास्टर साहब की नाक और मुँह से नहीं, आँखों से भी निकलता मालूम पड़ रहा है। वह चकित था कि भीतर वार्ड में ताश के पत्तों में की तस्वीर-सा घुन्ना बैठे रहने वाला यह आदमी इस वक़्त एक साथ इतने ठिकानों से कैसे बोल रहा होगा ?

लोगों की बातचीत में जाने कहाँ कोई, किसी कुत्ते का-सा प्रसंग आया था कि जब बरामदे में से ज़्यादातर लोग उठ चुके, तब जगेसर को याद आया कि सात-आठ साल पहले गाँव के एक कुत्ते को मुर्गा खा जाने के ग़ुस्से में जान से मार डाला था उसने और तब भी सावन-भादों की-सी झड़ी थी और दूसरे दिन इकट्ठा हुए पानी में कुत्ते की फूली हुई लाश पर कौए बैठे दिखाई पड़े थे—और जाने कितने दिनों तक ठीक खाना खाते समय वह दृश्य याद आने लगता था, और सारा स्वाद जाता रहता। उसे याद है कि वह कुत्ता, जब भी जगेसर इधर-उधर निकलता, आकर पाँवों से लिपटता, प्यार करता। उसकी हत्या की ग्लानि जाते-जाते बहुत वक़्त लग गया कि मरे मुर्गे को तो लौटना नहीं था। इस जीवन की हत्या से क्या मिला ?—अकारथ की हिंसा !

पानी अभी भी झमाझम बरस रहा था। जगेसर अकेला ही रह गया था, लम्बे उजाड़ बरामदे में। अब एक नयी चिन्ता शुरू हो गई थी। डॉक्टरों की हड़ताल हो गई है, तो बिंदा का ऑपरेशन कैसे होगा ? तभी बहू आती दिखाई दी, तो जगेसर जैसे बैठा-बैठा ही उठ खड़ा हुआ—कहीं—

लेकिन वह रो नहीं रही थी। घूँघट निकाले-निकाले ही उसने सिर्फ़ इतना बताया कि अभी-अभी बिंदा की आँख खुली, तो सिरहाने रखा तीतरी का कपड़ा खोजने लगी थीं उसे दिखाने, कि पता चला कि कपड़ा जाने कहाँ गया, कौन उठा ले गया।

जगेसर समझ गया कि बहू शायद इतना पता करके तसल्ली देना चाहती है बिंदा को कि चोरी नहीं गया। जेठजी ने सँभाल के रख दिया है कहीं···चाहता जरूर था कि खुद भी जाकर बताये, लेकिन घुटने सुन्न हो चुके से मालूम पड़े। इतना ही बोला—जाने दो और ले लेंगे !

हड़ताल तीन दिन तक नहीं खुली; बिंदा ने दम तोड़ दिया, तब आसमान साफ़ था और दोपहर का वक़्त। गाँव के कुछ लोग भी पहुँचे थे उसी दिन और तीतरी भी उनके साथ थी।

जाने क्या हुआ कि जैसे सब-कुछ स्थिर हो गया भीतर। बिंदा का आकार देखने की वेदना तक जाती रही। गंगा में विसर्जन हो चुका, अधजली बिंदा का, तब हुआ कि एक झलक तो चेहरा देखना था। लेकिन आज दसवीं की है, तो वह अपने पूरे आकार में भीतर विद्यमान है। पंडित मंत्र पढ़ रहा था तो आस-पास चलती-फिरती मालूम पड़ती थी और पाँवों के बजने की सी आवाज़।

शाम को भाई और बहू को अपने पास बिठाया और कहा कि, "अब हमारा जी नहीं लग रहा यहाँ, शहर जायेंगे, वहीं कुछ अरसा मिहनत-मजूरी करेंगे। बड़े दिनों तक भी खबर ना लगे भइया, तो जौन है तौन, कौनों फिकर करे की जरूरत नाहीं बा।"

भाई ने बहुत कहा कि कम-से-कम तेरहवीं निबटाकर जाय, मगर उसका जवाब सिर्फ़ इतना था कि तेरहवीं वहीं शहर में, गंगा मइया के किनारे निबटायेंगे, जहाँ बिंदा का विसर्जन हुआ है।

बात ये है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों और उपस्थित होती जा रही है वह। बच्चों को देखता है, छूता है—यहाँ तक कि यदि गाय को भी—उसको स्पर्श किये होने की सी अनुभूति होती है और जी उचाट हो जाता है। हर वक़्त उसका हाथों में हाथ लिये, टुकुर-टुकर घूरना और आँखें भर लाना याद आता है।

सुबह वह कंधे पर एक झोला डाले, और थैला हाथ में लिये बाहर निकला, तो दोनों बच्चे काफ़ी दूर तक साथ-साथ आये और फिर धीरे-धीरे, अपने चाचा-चाची के साथ, पीछे ही छूटते चले गये। बगिया पार कर चुकने पर मुड़ा वह, तो चारों को एक जगह स्थिर पाया, बस, इसके बाद मुड़कर नहीं देखा पीछे जगेसर ने।

शहर पहुँचने के बाद दो दिन उसने मोती के डेरे पर ही विश्राम किया, या सिनेमा देखने गया। तीसरी सुबह वह लगभग तड़के ही थैला हाथ में लिये निकला और हालाँकि फ़ासला यहाँ तक का दो-ढाई किलोमीटर से कम न होगा, मगर उसे लगा कि मोती के डेरे से उठाया हुआ क़दम, सीधे डाक्टर गुदौलिया की कोठी के रिहाइशी हिस्से की तरफ़ वाले फाटक पर ही रखा है। भीतर का फ़ासला समाप्त होते ही, बाहर भी नहीं रह गया जान पड़ता है।

एकाएक ही जाने क्यों याद आ गया उसे वह क्षण, जबकि वह पूरे एक हज़ार की रक़म एकमुश्त दे आया था, आरामकुर्सी पर पसरे पड़े डॉ० गुदौलिया को, लेकिन उनके चेहरे पर किंचित् भी कोई भाव उदित नहीं दिखाई पड़ा। उस दिन जब उस अधेड़ भली औरत के यहाँ से सिर्फ़ बयालीस रुपये मिले थे उसे, वो भी छै सेर धान के मिलाकर, तो वह जैसे भीतर तक बिजली के से प्रवाह में हो गया था।

उसे ध्यान आया कि हो सकता है कि डॉ० गुदौलिया उसे पहचान भी न पायें : आज तो दाढ़ी बने भी सिर्फ़ तीसरा दिन है और घुटे हुए सिर में बाल सूत-भर भी नहीं हुए अभी···लेकिन अब वैसी हड़कंप नही रह गई है कि ज़रा-ज़रा सी बात पर बेचैनी, अधैर्य, असमंजस या गुस्सा महसूस होने लगे। अब एक ख़ास तरह की स्थिरता है—चित्त में भी, दिमाग में भी।

उसने देखा कि डॉक्टर गुदौलिया बाहर लॉन में ही टहल रहे हैं। उधर एक कोने पर माली अपना काम रहा था। यह इतमीनान कि इनके यहाँ तो मरीज़ों के सिलसिले में आते रहते होंगे लोग, जगेसर को बेफिकरा बनाये था, वह इंतज़ार करने लगा, जब तक डॉक्टर साहब का रुख़उसकी तरफ़ हो। उसने अपने को पूरी तरह अवसाद और विनम्रता के आवरण में कर लिया।

डॉक्टर गुदौलिया के आ जाने का संकेत करने पर, उसने फाटक के ऊपर की सिटकिनी को हटाया, तो दायें हाथ में लाल स्याही में खुदा जगेसरनाथ साफ़-साफ़ दिखाई दे गया। बिंदा का नाम उसके बायें हाथ में खुदा हुआ है। इसी तरह बिंदा के दायें हाथ में जगेसरनाथ, बायें में खुद का नाम। जब एक-एक कर, दोनों हाथ जले होंगे, कैसा महसूस किया होगा उस नेक औरत ने ? और छाती, जिस पर छुटका-तीतरी को दूध पिलाते में, वह जगेसर के सामने भी धोती का पल्ला कर लेती थी ? और माथा, जिस पर लाल बिंदिया रचा लेती, तो मेले को तैयार होती सी मालूम पडती थी ? और···और जगेसर को लगा, बिंदा का चिता पर का जलना अब फिर धू-धू करने लगा।

'नमस्ते हजूर' कहते हुए वह थोड़ा झुका और दोनों हाथ जोड़ दिये। सुबह की ताज़गी मे डॉक्टर गुदौलिया भी कुछ नम पड़े मे दिखाई दे रहे थे। ठीक पहचाना उन्होंने। जगेसर को ही बताना पड़ा कि कुछ दिन पहले जिस औरत का अँगूठा काटने और पेट फाड़ने वाले थे डॉक्टर साहब, उसी की घरवाली थी वह—और उसी ने एक हज़ार रुपये एडवांस दिये थे।

बातें शायद तल्ख़ थीं, लेकिन उसके कहने के ढंग में कही कोई कड़वाहट नहीं थी। कुछ याद पड़ते ही डॉक्टर गुदौलिया ने 'औ दैट वुमन—जैसे जगेसर से नहीं शून्य में किसी से कहा और अफ़सोस ज़ाहिर किया कि डॉक्टरों की हड़ताल हो जाने से ऑपरेशन टाइम पर नहीं हो पाया। अफ़सोस, बल्कि कहें कि कुछ नाराज़गी, उन्होंने इस बात पर भी प्रकट की कि निचले तबके के कारिन्दों की गुंडागर्दी से डॉक्टरों के लिए मरीज़ों की ठीक से देखभाल करना मुश्किल हो गया है।

रुपयों के बारे में उन्होंने कुछ नहीं कहा।

जगेसर को लगा कि डॉक्टर गुदौलिया के रुपयों वाली बात को चुपचाप गटक जाने, और ज़रा-सी शिनाख़्त तक न देने के बाद उनके अत्यंत ही शीतल क़िस्म

के कापुरुषपन पर वह गुस्से में भभकने की जगह, अब वह भी एक निहायत ठंडी सी मुस्कराहट महसूस कर रहा है---भीतर आँतों तक में। जगेसर को भान पड़ा कि जैसे किसी पवित्र संकल्प को अपने में अँकुए की तरह उगता-सा अनुभव कर रहा है वह। अभी कुछ ही क्षण पहले तक ऐसी प्रशान्तता कहीं न थी और न इतना संतुलन।

उसने झोले में हाथ डाला और बसूले को, बग़ैर धारवाली तरफ़ से, अपनी पूरी ताक़त से डॉक्टर गुदौलिया के ठीक सिर पर दे मारा। डॉक्टर गुदौलिया की चीख़ उसके रोम-रोम में काँच के किरचों की तरह गड़ गई···और अब पहली बार उसकी आँखों में एकाएक कुछ आँसू उमड़ आये, लेकिन इसके बावजूद वह पूरी तरह संतुलित न सिर्फ़ इतना साफ़-साफ़ देखता रहा कि कैसे डॉक्टर गुदौलिया का शरीर लद्द से ज़मीन पर लुढ़क गया है और माली 'ख़ून-ख़ून-डाकू-डाकू' चिल्लाता भीतर की तरफ़ दौड़ा है···बल्कि धीरे से उसने आकाश की ओर देखा, तो कहीं थोड़े से फ़ासले पर ही उड़ती जाती चिड़ियाँ भी उसे साफ़-साफ़ दिख गईं। उनके उड़ने में पानी में तैरती मछलियों की-सी लय थी। उनके पंख एक ऐसा संगीत उत्पन्न करते मालूम पड़ रहे थे, जिसे सुना ही नहीं, देखा भी जा सकता है। बादल कहीं नहीं थे। हवा में सुबह की ठंडक थी। नर्सिंग होम की तरफ़ के अशोकवृक्ष मद्धिम-सी लय में, मंत्र पढ़ते पंडितों की तरह डोल रहे थे। उधर दूर, गंगा का प्रतिच्छाया प्रतीत होता-सा आकार भी कछारों के बीच साफ़-साफ़ दिखाई पड़ रहा था। जैसे अभी नींद से जागी नहीं हो नदी, बल्कि अपनी पूरी आर्द्रता में सोयी पड़ी हो।

● ●

चयन-मंडल

असमी

नवारुण वर्मा जन्म— 1934, असम के एक चाय बागान में।

प्रारम्भिक जीवन अत्यन्त संघर्षपूर्ण। स्कूली जीवन से ही साहित्य की ओर झुकाव।

प्रकाशित कृतियां— "लाचित बरफुकन" (काव्य), "जय आइ असम" (उपन्यास)। अनेक असमिया और बंगला कृतियों के हिन्दी अनुवाद। अनेक अनुवादों पर पुरस्कार। रचनायें भारत की सभी विशिष्ट हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में। आकाशवाणी से वार्ताओं और कविताओं का प्रसारण।

पता—खारगुली, गुवाहाटी-781004 (असम)

उड़िया

डॉ. सीताकांत महापात्र : जन्म—1937, महांगा (उड़ीसा) में। मातृभाषा उड़िया किन्तु संस्कृत, हिन्दी, बांग्ला, अँग्रेजी एवं फ्रेंच के अधिकारी जानकार।

सम्प्रति—आयुक्त, आदिवासी विकास (उड़ीसा सरकार)। अनेक साहित्य संस्थानों से सम्बद्ध। साहित्य अकादमी पुरस्कार, कुमारन् आसन अवार्ड, सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार और राज्य साहित्य अकादमी पुरस्कारों से सम्मानित। अनेक बार विदेश-यात्रा।

प्रकाशित रचनाएँ—उड़िया में 12 एवं अँग्रेजी में 25। आदिवासी कविताओं की 7 चयनिकाओं का सम्पादन। रचनाएँ अनेक देशी-विदेशी भाषाओं में अनूदित। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय काव्य-चयनिकाओं में कविताएँ।

पता—क्वार्टर नं. 1, टाइप-8 यूनिट-1, भुवनेश्वर (उड़ीसा)

उर्दू

राज नारायण 'राज' : जन्म-लोरालाई (बलूचिस्तान) 1930। प्रारंभिक शिक्षा—कोइटा में पाई। 1950 में दिल्ली विश्वविद्यालय से एम. ए. उर्दू में विशिष्टता के साथ किया। शुरू में कहानी-लेखन किया बाद में शायरी करने लगे। आलोचनात्मक लेख भी प्रकाशित हुए। आपने कुल मिलाकर 9 पुस्तकों का लेखन, सम्पादन, अनुवाद किया है, जिनमें कविताओं के दो संग्रह 'चाँदनी आसाढ़ की' (1967) और 'लज्जत लफ्ज़ों की' (1977) शामिल हैं। शुरू से ही पत्रकारिता से जुड़े रहे हैं, विभिन्न सरकारी पदों पर काम किया है। 1981 से सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग की पत्रिका 'आजकल' (उर्दू) के सम्पादक। अपने लेखन और अनुवाद के लिए उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिमी बंगाल उर्दू अकादमियों के पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं।

पता—29/30, ईस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली-110008

कन्नड़

बी.आर.नारायण : जन्म—1928, बंगलूर में। शिक्षा—दिल्ली विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम. ए.। मातृभाषा कन्नड़। सरकारी नौकरी से सेवा-निवृत्त।

प्रकाशित रचनाएँ—कन्नड़ के अधिकतर शीर्ष लेखकों का हिन्दी पाठकों से परिचय करवाने में सक्रिय भूमिका। 28 पुस्तकों का कन्नड़ से हिन्दी में अनुवाद। गिरीश कर्नाड के नाटक 'ययाति' के हिन्दी अनुवाद पर 1981 में भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता का 5000 रु. का पुरस्कार। अन्य पुरस्कार भी।

पता—गांव-कम्बीपुर, डाकखाना-कम्बिलगुडा, बंगलूर (दक्षिण)-560074

कश्मीरी

हरिकृष्ण कौल : जन्म—22 जुलाई, 1934, श्रीनगर में। पिता—पं. वासुदेव कौल। कश्मीर विश्वविद्यालय से एम. फिल।

प्रकाशित रचनाएँ—कश्मीरी में पहला कहानी-संग्रह 'पतञ

लारान पर्बथ' (1972) में। अन्य रचनाएँ—'हालस छू रोतुक' (कहानी-संग्रह) और 'नाटुक करिव बंद' (नाटक)। कश्मीरी के साथ-साथ हिन्दी में भी लेखन। हिन्दी में अब तक तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित—'इस हम्माम में', 'टोकरी भर धूप' और 'अरथी'।

सम्प्रति—गवर्नमेंट कॉलेज फॉर वीमेन, श्रीनगर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष।

पता—का.लेश्वर, जैन्दार मुहल्ला, श्रीनगर-190001

गुजराती

गुलाबदास ब्रोकर : जन्म- 20 सितम्बर, 1909, पोरबन्दर (सौराष्ट्र) में। शिक्षा- पोरबन्दर और बम्बई में। एलफिन्स्टन कॉलेज, बम्बई से स्नातक। अवज्ञा आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण 1932-33 में 16 महीने के लिए जेलयात्रा। अनेक साहित्यिक संस्थाओं से संबद्ध। अनेक बार विदेश-यात्राएँ।

प्रकाशित रचनाएँ—11 कथा-संग्रह, 1 एकांकी-संग्रह, 1 नाटक, 2 निबन्ध-संग्रह, 1 कविता-संग्रह और 1 जीवनी। एकांकी एवं गुजराती नाट्य का सम्पादन। अनेक कहानियाँ जर्मन, इटैलियन, स्विस, मराठी, बांग्ला, तलुगु आदि में अनूदित। हिन्दी में दो कथा-संग्रह प्रका[illegible] एक नाटक 'धूम-रेखा' भी। अनेक पुरस्[illegible] से सम्मानित।

मुख्य व्यसन अध्ययन एवं मित्रों के साथ लम्बी सैर। के दौरान साहित्य की वर्तमान समस्याओं पर बात-चीत।

पता—26, स्वामी विवेकानन्द रोड, विले पार्ले (पश्चिमी), बम्बई-400056

तमिल

ना. पार्थसारथी :

(परिचय पृष्ठ XV पर देखें)

तेलुगु

वक्ती पांडुरंग राव : जन्म—15 नवम्बर, 1934, मद्रास में। उत्कल विश्वविद्यालय से वैशिष्ट्य के साथ बी.ए.। मातृभाषा तेलुगु—अँग्रेजी, हिन्दी और तमिल से भी परिचय। प्रसिद्ध लेखक एवं जाने-माने पत्रकार।

सम्प्रति—न्यूज टाइम (अँग्रेजी दैनिक) में परिशिष्ट सम्पादक।

प्रकाशित रचनाएँ—5 कथा-संग्रह। अनेक रचनाओं का अनुवाद। आकाशवाणी के श्रोताओं के लिए एक परिचित नाम।

पता—प्लाट नं. 188, **बसावी नगर**, **सिकन्दराबाद-500003**

पंजाबी

करतार सिंह दुग्गल : जन्म—1 मार्च, 1917। शिक्षा—अँग्रेजी में एम.ए.। पंजाबी, उर्दू और हिन्दी के जाने-माने लेखक।

आकाशवाणी में केन्द्र निदेशक और नेशनल बुक ट्रस्ट के निदेशक पद पर कार्य कर चुके हैं।

कई पुस्तकें विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रमों में निर्धारित। अनेक कृतियाँ संसार की लगभग सभी भाषाओं में अनूदित। 'कम बैक माई मास्टर' कहानी 'विश्व की महानतम कहानियाँ'—में संकलित। कहानी-संकलन 'इक छिट्ट चानण दी' पर अकादमी पुरस्कार (1965)।

प्रतिनिधि के रूप में अनेक बार विदेश यात्रा। 1976 में नाटक के लिए 'गालिब पुरस्कार'। 1982 में सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार।

पता—पी-7, **हौजखास इन्क्लेव**, **नई दिल्ली-110016**

बांग्ला

नवनीता देव सेन : जन्म—13 जनवरी, 1938, कलकत्ता में। शिक्षा—1958 में जादवपुर विश्वविद्यालय से एम.ए.। 1963 में इण्डियाना विश्वविद्यालय अमेरिका से डॉक्ट्रेट की उपाधि। अनेक देश-विदेश के विश्वविद्यालयों से फैलोशिप प्राप्त की।

सम्प्रति—जादवपुर विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य की रीडर।

प्रकाशित रचनाएँ—7। 2 काव्य-रचनाएँ 'प्रथम प्रत्यय', 'स्वागतादेवदूत।' 1 उपन्यास 'अमिनुपम।' 1 लघुकथा-संग्रह।

पता—भालोबासा 72, हिन्दुस्तान पार्क, कलकत्ता, 70029

मराठी

चन्द्रकांत महादेव बांदिवडेकर : जन्म—5 नवम्बर, 1932, रत्नगीर में।

प्रकाशित रचनाएँ—4 समीक्षा-ग्रंथ हिन्दी में और 2 मराठी में। 7 महत्त्वपूर्ण संकलनों का सम्पादन। 3 अनुवाद—एक भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत भी। हिन्दी और मराठी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में साहित्य और संस्कृत से सम्बन्धित 200 लेख।

शिक्षा—बम्बई विश्वविद्यालय से एम.ए., पी-एच.डी.।

सम्प्रति—रीडर, हिन्दी विभाग, पुणे विश्वविद्यालय। हिन्दी और मराठी के अग्रणी समीक्षक।

पता—4, शाकुंतल साहित्य सहवास, बांद्रा (पूर्व), बम्बई-51

सिन्धी

मोती लाल जोतवाणी : जन्म—1936, सक्खर, सिन्ध (अब पाकिस्तान में)। शिक्षा—एम.ए., पी.-एच.डी.। दिल्ली, पंजाब तथा हार्वर्ड (अमरीका) विश्वविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन। सिन्धी, हिन्दी और अंग्रेजी में लेखन। भारतीय साहित्य में चर्चित अनुसंधाता, कवि ओर कथाकार। सिन्धी में प्रकाशित नौ कृतियों में कहानी-संग्रह 'परम्पराहीन' (1970) और दो लघु उपन्यास 'नारंगी ट्रैफिक लाइट ते' (1974) तथा 'इहे रिश्ता नाता' को शिक्षा और संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार का सिन्धी कथा-साहित्य : 1983 का पुरस्कार मिला।

सम्प्रति—दिल्ली विश्वविद्यालय के देशबन्धु कॉलिज में सिन्धी विभागाध्यक्ष।

पता—बी-14, दयानन्द कॉलोनी, लाजपत नगर, नयी दिल्ली-110024

मलयालम

वी.डी.कृष्णन् नम्पियार : जन्म—1941, केरल के तिरूवल्ली शहर में।

शिक्षा—1961 में केरल विश्वविद्यालय से हिन्दी में बी.ए. (सर्वप्रथम)। काशी विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए.। केरल के विभिन्न कॉलेजों में अध्यापन-कार्य।

प्रकाशित रचनाएँ—हिन्दी की सैकड़ों कहानियों का अनुवाद मलयालम नें और मलयालम की 25-30 कहानियों का अनुवाद हिन्दी में। अनूदित कृतियाँ 15। केरल साहित्य मण्डल के उपाध्यक्ष।

सम्प्रति—गवर्नमेंट कॉलिज नाट्टकोम में प्रथम श्रेणी के हिन्दी प्राध्यापक। हिन्दी और मलयालम के बीच आदान-प्रदान में महत्त्वपूर्ण योगदान।

पता—गवर्नमेंट कॉलिज, नाट्टकोम, डाकखाना-कोट्टयम-686013

हिन्दी

बटरोही : जन्म—25 अप्रैल, 1946, अल्मोड़ा (उत्तर प्रदेश) के एक गाँव में।

शिक्षा—आरम्भिक शिक्षा गाँव में। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी. फिल.। कई पत्रिकाओं के सम्पादकीय विभागों तथा उत्तर प्रदेश के कुछ राजकीय विद्यालयों में कार्य।

प्रकाशित रचनाएँ—कहानी-संग्रह 'दिवास्वप्न', 'सड़क का भूगोल'। उपन्यास 'बर्फ', 'महर ठाकुर का गाँव'। शोधप्रबन्ध 'प्रेमचन्द पूर्व के कथाकार और उनका युग' तथा 2 आलोचना पुस्तकें 3 सम्पादित ग्रन्थ। बाल-साहित्य, कहानी-संकलनों के रूप में लगभग एक दर्जन पुस्तकें।

सम्प्रति—कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल के हिन्दी विभाग में रीडर।

पता—एस.आर. काटेज, तल्लीताल, नैनीताल-2

लेखक परिचय



दीपाली डेका

जन्म—तेजपुर शहर में, शिक्षा भी वहीं। पिता स्व. सूर्यकान्त बरा रंगमंच की जानी-मानी हस्ती होने के कारण 'वाण-रंगमच' और 'नाटकम' नामक संस्था से जुड़ीं। आकाशवाणी से वार्ताओं, नाटकों आदि का प्रसारण।

प्रकाशित रचनायें—विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में 100 क करीब निबंध एवं कहानियाँ। 'फागुन' ' लिनिर बिया', 'अन्त:स्रोता' 'कलिर द्रौपदी', 'कुबेर' आदि कहानियाँ चर्चित।

द्वारा-राजलक्ष्मी प्रिंटर्स, जू-नारंगी रोड, गुवाहाटी (असम)



डॉ. चन्द्र कटकी

जन्म—1939, जि. जोरहाट के आलेंगी हामदे गाँव में। पिता चाय बागान के कर्मचारी होने के कारण बचपन गाँव में तथा तिताबर के दफ्लाटिं चाय बागान में बीता। शिक्षा—असमिया साहित्य में एम.ए.। गुवाहाटी विश्वविद्यालय से आधुनिक

प्रकाशित रचनाएँ—साहित्य-समीक्षा, कविता, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं में पर्याप्त लेखन। समकालीन कहानीकारों में विशिष्ट स्थान। लगभग 4 उपन्यास, अनेक कहानियाँ-कविताएँ।

सम्प्रति—जे.बी. कॉलेज, जोरहाट में अध्यापक।

जे.बी. कॉलेज, जोरहाट-785001 (असम)



मनोज दास

जन्म—1934, उडीसा के त्रि बालेश्वर मे। किशोरावस्था से ही छात्र-आन्दोलन तथा लेखन से सम्बद्ध। 1963 से श्री अरविंद अंतरराष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र मे अंग्रेजी का अध्यापन। भारतीय सास्कृतिक परम्परा के आधिकारिक प्रवक्ता।

प्रकाशित रचनाएँ—कहानियाँ विदेशों में भी प्रकाशित। उपन्यास 'साइक्लोन्स' नई दिल्ली और न्यूयार्क से एक साथ प्रकाशित।

उडीसा साहित्य अकादमी पुरस्कार, केन्द्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार सरला पुरस्कार और हाल ही मे उडिया साहित्य मे समग्र योगदान के लिए 'विषुव सम्मेलन पुरस्कार 1987' से सम्मानित। समकालीन एशिया के अनूठे कथाकार।

सम्प्रति—'हेरिटेज' पत्रिका का सम्पादन।

श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र, पांडिचेरी



विभूति पट्टनायक

जन्म—1937, जि. कटक के सुदूर देहात में। शिक्षा-इतिहास एवं उड़िया साहित्य में एम. ए.। उड़ीसा सरकार के अधीन उड़िया अध्यापक। उड़िया की प्रतिष्ठित कहानी त्रैमासिक 'गल्प' के प्रारम्भ से ही संपादक। साहित्य में समाजवादी रूझान।

प्रकाशित रचनाएँ—'नायिकार नाम श्रावणी', 'तृतीय पुरूष' आदि (उपन्यास) : 'अनेक तारार रात्रि', 'मन भल नाहिं', (कहानी-संकलन), साहित्यालोचन संबंधी 2 ग्रंथ। 4 उपन्यासों पर आधारित चलचित्र : 'माया मिरिग', 'शीत राति', 'हाकिम बाबू' आदि।

उड़िया के अग्रणी कथाकार।

सम्प्रति—बी.जे.वी. कॉलेज में अध्यापक।

3एच.,लुइस रोड, भुवनेश्वर (उड़ीसा)



मीम. काफ. महताब

जन्म—16 अगस्त, 1926, लायलपुर, पाकिस्तान में।

शिक्षा—लायलपुर और चंडीगढ़ में। पत्रकारिता में एम.ए.।

व्यवसाय-[illegible] दैनिक पत्रों में 1954 से [illegible]

कार्यालय, भारत सरकार में। आकाशवाणी और दूरदर्शन में समाचार संपादक और बाद में वरिष्ठ संवाददाता। भारतीय सूचना सेवा से सेवानिवृत्त।

प्रकाशित रचनाएँ—तीन उपन्यास, चार सौ से अधिक कहानियां-भारत और पाकिस्तान की पत्र-पत्रिकाओं में।

सम्प्रति—प्रताप और वीर प्रताप, जालंधर के विशेष संवाददाता।

ए-1/78, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110073



देवेन्द्र इस्सर

जन्म—14 अगस्त, 1928, केम्बलपुर (पश्चिमी पंजाब) में।

शिक्षा—पंजाब, इलाहाबाद और दिल्ली विश्वविद्यालयों से शिक्षा प्राप्त करने के बाद कार्नेल विश्वविद्यालय (अमरीका) से कम्युनिकेशन आर्ट्स में एम.पी.एस.।

प्रकाशित रचनाएँ—उर्दू, हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेजी में अब तक 30 से अधिक पुस्तकें। 'गीत और अंगारे', 'शीशों का मसीहा', 'कैन्वस का सहरा' (कहानी-संग्रह), 'फिक्र और अदब', 'अदब और नफसियात', 'अदब और जदीदज़हन', 'मुस्तकबिल के रू-ब-रू' (आलोचना), 'मण्टोनामा' (हिन्दी), 'इमेजेज ऑफ कामू' (अंग्रेजी) आदि।

बी-3/153, जनकपुरी, नई दिल्ली-110051



फकीर मुहम्मद कटवाडी

जन्म—कनार्टक के एक गाँव कटवाडी में।

प्रकाशित कृतियाँ—कन्नड़ की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में लगभग 50 कहानियाँ और एक उपन्यास। कहानी-संग्रह 'गोरी कट्टिट कोंडवारू' (1981), 'सुधा' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित उपन्यास 'साराकुगलु' में कालिकट के एक भाग कुट्टिचिरा की मुसलमान महिलाओं की यातनाओं का मार्मिक चित्रण। यह उपन्यास उन्होंने छह महीने तक वहीं रहकर वहाँ की शोषित महिलाओं के जीवन का निकट से अध्ययन करने के उपरांत लिखा।

सम्प्रति--स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, मंगलूर में अधिकारी।

नं. 1, **स्टेट बैंक कॉलोनी, पदुविगदी, मंगलूर-575008 (कर्नाटक)**



शान्तरस

जन्म—7 अप्रेल, 1926 को जि. रायचूर (कर्नाटक) के एक गाँव हेमबरल में।

शिक्षा—एम.ए., बी.एड.।

व्यवसाय—हमदर्द हाईस्कूल, रायचूर में अध्यापन, हमदर्द जूनियर कॉलेज के प्राचार्य के पद से सेवानिवृत्ति।

प्रकाशित रचनाएँ—दो कविता-संग्रह, तीन कहानी-संग्रह, तीन नाटक, 'बहुरूप' (निबंध संग्रह), चार शोध-ग्रंथ। इनके अतिरिक्त सात पुरस्तकों का संपादन। प्रसिद्ध उर्दू उपन्यास 'उमराव जान अदा' का कन्नड में अनुवाद। चार जीवनियाँ, लगभग 50 शोधपत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में।

मैसूर सरकार के पुरस्कार और कन्नड साहित्य में योगदान के लिए कर्नाटक साहित्य अकादमी के पुरस्कार से सम्मानित। सत्य-स्नेह प्रकाशन द्वारा नयी प्रतिभाओं को प्रोत्साहन। विभिन्न संस्थाओं एवं आंदोलनों से सम्बद्ध।

आजाद नगर, रायचूर-581101 (कर्नाटक)



अमीन कामिल

जन्म—1 मार्च, 1924।

शिक्षा—श्रीनगर से बी.एड., अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से एल-एल.बी.। व्यवसाय-कुछ समय तक वकालत, फिर दो-एक वर्ष तक श्री प्रताप कॉलेज, श्रीनगर में प्राध्यापन, तदनंतर लम्बे समय तक जम्मू कश्मीर राज्य की कल्चरल अकादमी में संपादक के रूप में कार्य और वहीं से सेवानिवृत्ति।

प्रकाशित रचनाएँ— 'लव त प्रव' आदि अनेक कविता-संग्रह 'नूर नामा' आदि अनेक संपादित ग्रन्थ और एक कहानी-संग्रह 'कथि गंज कथ'।

बहशाह नगर, नदीपुरा, श्रीनगर (कश्मीर)



रतनलाल शांत

जन्म—14 मई, 1938, श्रीनगर में।

शिक्षा—एम.ए., डी.फिल. (इलाहाबाद)।

व्यवसाय—प्राध्यापन।

प्रकाशित रचनाएँ—हिन्दी : 'छोटी किरणें' (कविता-संग्रह), कश्मीरी : 'बरौनियों पर पहाड़' (कथा-संकलन), नूरूद्दीन ऋषि की कश्मीरी कविताओं का हिन्दी में पद्यानुवाद। समालोचना की एक पुस्तक। हिन्दी में 'तीन बहनें' नाटक चेखव का अनुवाद। इसके अतिरिक्त अनेक पुस्तकों का संपादन। आकाशवाणी और दूरदर्शन से 35 कश्मीरी नाटक प्रसारित। राष्ट्रपति स्वर्णपदक, जम्मू-कश्मीर अकादमी पुरस्कार, सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित।

सम्प्रति—महिला डिग्री कॉलेज, अनंतनाग, कश्मीर में हिन्दी विभागाध्यक्ष।

निकट मनोरंजन होटल, इंदिरा नगर, श्रीनगर-190004



अंजलि खाडवाला

जन्म—21 सितम्बर, 1940, बम्बई में।

साहित्य के अतिरिक्त संगीत में भी गहन रुचि। उस्ताद नियाज अहमद खाँ, किराना घराना से हिन्दुस्तानी गायन में बाकायदा तालीम। देश-विदेश में हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन और गुजराती लोक संगीत के अनेक कार्यक्रम। रेडियो तथा दूरदर्शन कलाकार। दक्षिण गुजरात के लोक गीत संकलित करने के लिए अनेक गाँवों का भ्रमण।

व्यवसाय—बैनारा कॉलेज, कनाडा में डिपार्टमेन्ट ऑफ ह्यूमैनिटीज में प्रोफेसर (1977-85)।

प्रकाशित रचनाएँ—विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, विशेषत: 'नवगीत समर्पण' तथा 'परब' में अनेक कहानियाँ। 'लीलो छोकरो' (हरित लड़का) कहानी-संग्रह।

मकान नं. 429, इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ मेनेजमेंट, वस्तरपुर, अहमदाबाद-380015



रवीन्द्र पारेख

शिक्षा—एम.ए. (गुजराती और हिन्दी में)।

प्रकाशित रचनाएँ—'जल दुर्ग' (नवल कथा)। कथा-साहित्य के अतिरिक्त निबंध, हास्य, नाटक आदि साहित्य-विधाओं में सक्रिय। 'गुजरात मित्र' में चार साल तक फिल्म समीक्षा।

सम्प्रति—यूनियन बैंक ऑफ इंडिया, सूरत में कार्यलय।

झूलदिया शेरी, समरामपुरा, सूरत-395002



टी.एस. बालासुब्रह्मण्यम

उपनाम—'सुब्र.बालन'

जन्म—11 मई, 1939।

1969 से लेखनारम्भ—कहानियाँ, कवितायें, निबंध। विज्ञान-कथा में विशेष रुचि।

प्रकाशित रचनाएँ—लगभग 90 कहानियाँ, दो कथा-संकलन, एक बाल कविताओं का संकलन, दो लघु उपन्यास। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में 100 से अधिक कवितायें और चिकित्सा-विज्ञान आदि पर लेख। बाल कविता-संकलन पर पुरस्कार। तमिल मासिक 'अमुधसुरभि' द्वारा आयोजित कथा-प्रतियोगिता में एक पुरस्कार। विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं से सम्बद्ध।

सम्प्रति—कॉलेज शिक्षा निदेशालय, मद्रास में अधीक्षक।

नं. 2, एम.आई.जी. फ्लैट्स, सेकेंड एवेन्यू, इन्दिरा नगर, मद्रास-600 020



ना. पार्थसारथी

(1932-1987)

शिक्षा—साहित्य में एम.ए.।

प्रकाशित रचनाएँ—लगभग 65 पुस्तकें—उपन्यास, कहानियाँ, यात्रा-विवरण, निबंध एवं कविताएँ। उपन्यास 'समुघ्या वीधि' पर साहित्य अकादमी (1971) पुरस्कार तथा अन्य अनेक पुरस्कारों से सम्मानित।

रचनाएँ—हिन्दी, गुजराती, मलयालम एवं कन्नड़ सहित अनेक देशी-विदेशी भाषाओं में अनूदित। उपन्यास 'अथमाविम् रागंगल' हिन्दी एवं गुजराती में अनूदित।

तमिल साहित्यिक मासिक 'दीपम्' के सम्पादक रहे।



विविन मूर्ति

जन्म—21 मई, 1948, आन्ध्र प्रदेश के दक्षिण गोदावरी के एक गाँव साकूमल्ला शिम्मपुरम में।

शिक्षा—इलैक्ट्रिक इंजीनियरिंग में डिप्लोमा।

प्रकाशित रचनाएँ—1976 में 'आन्ध्र ज्योति' में पहली कहानी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में चार उपन्यास और लगभग चालीस कहानियाँ। पहले विशाखापत्तनम में और सम्प्रति बंगलूर में सेवारत।

एच/ओ.ए. गौरम्मा, 55, थर्ड मेन, गंगेनहल्ली एक्सटेन्शन, बंगलूर-560032



अल्लम शेषगिरि राव

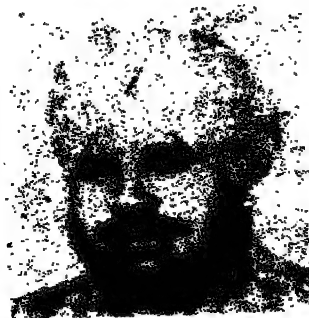
जन्म—9 दिसम्बर, 1934 को उड़ीसा के छतरपुर गाँव में।

शिक्षा—राजनीति शास्त्र में एम.ए.।

प्रकाशित रचनाएँ—कथा-सग्रह 'मंच्छी मुतयालु' पर 1980-81 का अन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा 1981 का श्री नूतलपति साहित्य सत्कारम। 'मॉडर्न इंडियन शॉर्ट स्टोरीज' तथा 'समकालीन भारतीय साहित्य' में कहानियाँ संकलित।

सम्प्रति—क्षेत्रीय रेलवे प्रबंधक कार्यालय, विशाखापत्तनम में सेवारत। अध्ययन तथा अभिनय में विशेष रुचि।

रेलवे क्वा. नं. 516/4, जेल एरिया, वॉल्टेयर रोड, विशाखापत्तनम-4



गुरदेव सिंह रूपाणा

जन्म—13 अप्रैल 1945।

शिक्षा—एम.ए पी-एच.डी.।

व्यवसाय—अध्यापन।

प्रकाशित रचनाएँ— 'इक टोटा औरत', 'अपनी अक्ख दा जादू' कहानी-संग्रह। 'गोरी', 'केसरी बाल' (उपन्यास)। 'गोरी' पर पंजाब अकादमी दिल्ली का कथा पुरस्कार।

सी-288, डी.डी.ए. स्टाफ फ्लैट्स, तिमारपुर, दिल्ली-7



मुख्तार गिल

जन्म-स्थान—जगदेव कलां (अमृतसर)।

प्रकाशित रचनाएँ—'आखरी चूड़ियाँ', 'त्रकालां दे परछावें', 'मेरी चोणवीं कहानी' कहानी-संग्रह। 'मिट्टी दी चिड़ी', 'काले पहर' (उपन्यास)।

संपादन · अक्खर, रचना (साहित्यिक मासिक पत्रिकाएँ)

प्रीत नगर, अमृतसर-143 110



सैयद मुस्तफा सिराज

जन्म—1930, जि. मुर्शिदाबाद (प. बंगाल) के एक गाँव में।

शिक्षा—बी.ए.।

प्रकाशित रचनाएँ—लगभग 90 उपन्यास और एक दर्जन के करीब कहानी-संग्रह। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सैकड़ों कहानियाँ और विविध विषयों पर निबंध। लगभग 20 बाल-उपन्यास।

मुख्यत: प. बंगाल के ग्राम्य जीवन का चित्रण।

सम्प्रति—आनंद बाजार पत्रिका, कलकत्ता में।

37/1, गोराचन्द्र रोड, कलकत्ता-700014



सुनील गंगोपाध्याय

जन्म—1934, जि. फरीदपुर (बंगला देश)।

शिक्षा—कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम.ए.।

प्रकाशित रचनाएँ—'सेई समय', 'एका एवं कयेकजन', 'नीरार असुख' 'जीवन जे रकम', 'अर्जुन', 'प्रतिद्वन्दी' इत्यादि।

साहित्य अकादमी, बंकिम व आनन्द पुरस्कार से सम्मानित। विदेशों में निरंतर भ्रमण। रचनायें विभिन्न विदेशी भाषाओं में अनूदित।

24, मैंडाभिला गार्डेन्स, कलकत्ता-700019



भा.ग. केसकर

जन्म—1946, जि. सोलापुर (महाराष्ट्र) के एक गाँव कुरबावी में।

शिक्षा—एस.एस-सी.।

प्रकाशित रचनाएँ—'फ्लोट' 'गुन्हाल' (कहानी-संग्रह), 'वायटूक' और 'कुण्याच्या खांद्यावर' (उपन्यास), 'कजाच्या खांद्यावर' पर हरिनारायण आपटे पुरस्कार, महाराष्ट्र साहित्य परिषद की ओर से। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ।

सम्प्रति—सुपरवाइजर, कैश ऑफिस, वालचंद्रनगर।



राजेन्द्र बनहट्टी

जन्म—1938।

शिक्षा—अंग्रेजी तथा मनोविज्ञान में एम.ए.।

प्रकाशित रचनाएँ—'समानधर्मा', 'खेल', 'गंगार्पण' आदि 5 कहानी-संग्रह, 'अपूर्णा आदि तीन उपन्यास।

'सांगाली' कहानी को 1978 का सर्वोत्कृष्ट कहानी का ग.रा. बाल पुरस्कार तथा 'अगनरचे आत्मचरित्र' उपन्यास को महाराष्ट्र शासन का पुरस्कार। यह उपन्यास गुजराती में अनूदित।

सम्प्रति—प्रकाशक एवं संपादक।

461/4, सदाशिव पेठ, पुणे-411030



प्रो. (कु.) पोपटी हीरानंदाणी

जन्म—17 सितम्बर, 1924, हैदराबाद (सिंध) में।

शिक्षा—बनारस विश्वविद्यालय से बी.ए.।

व्यवसाय—के.सी. कालेज, बम्बई में 1960 से 1984 तक सिंधी विभागाध्यक्ष रहकर सेवानिवृत्त।

प्रकाशित रचनाएँ—4 उपन्यास, 7 कहानी-संग्रह, 8 निबंध-संग्रह। कुछ पुस्तकों का सिंधी में संपादन एवं अनुवाद।

'यूँ तोखे प्यार कयो' पर भारत सरकार की सिंधी विकास योजना के अंतर्गत 1979 में और आत्मकथा 'मुंहिंजी हयातीअ जा सोपा-सोना वर्क' पर साहित्य अकादमी का 1982 का पुरस्कार। कहानियों में मुख्यत: स्त्री-पुरुष संबंधों का चित्रण।

51, संगीता, टेलीफोन भवन के पीछे, कोलाबा, बम्बई-5



लखिमी खिलाणी

जन्म—2 अक्तूबर, 1935, गाँव जहां खां, सक्खर (सिंध, अब पाकिस्तान में)।

शिक्षा—बनारस विश्वविद्यालय से सिविल इंजीनियरिंग में उपाधि।

प्रकाशित रचनाएँ—3 उपन्यास, 3 कहानी-संग्रह, यात्रा-वृत्त, नाटक यात्रा-वृत्त 'मन जा महल खंडहर' पर भारत सरकार की सिंधी विकास योजना के अंगर्गत 1984 में पुरस्कार। सिंधी जन-जीवन का अद्यतन शहरी परिवेश में अंकन।

सम्प्रति—'रचना' (सिंधी साहित्यिक त्रैमासिक) का संपादन।

टी.एच.एक्स.-1 आदिपुर (कच्छ) 370 205



एम.आर. मनोहर वर्मा

जन्म—14 मई, 1954, कोतुमगलम् के पास त्रिक्कारियूर मे।

शिक्षा—एम.ए.।

व्यवसाय—सरकारी नौकरी।

प्रकाशित रचनाएँ—विद्यार्थी-जीवन से ही कहानी लिखना शुरू। छह उपन्यास दो कहानी-संकलन एक अनुवाद। मलयालम के तरूण कथाकारो मे बहुचर्चित।

प्रमुख तेलुगु अखबार 'ईनाटु' द्वारा आयोज़ित अखिल भारतीय कहानी-प्रतियोगिता मे मलयालम से दूसरा पुरस्कार इनकी कहानी को प्राप्त हुआ।

मंजुलमम्, त्रिक्कारियूर, डाकखाना-कोट्टामावगलम, जि एर्नाकुलम, केरल-6866921



गोपिक्कुट्टन

जन्म-स्थान—जि. आलप्पुष का चेगन्नूर शहर।

शिक्षा—केरल विश्वविद्यालय से मलयालम में एम.ए. (प्रथम श्रेणी मे प्रथम)।

प्रकाशित रचनाएं—40 से अधिक कहानिया, 2 कहानी-संकलन, आलोचना-ग्रंथ। 'रोमन्टे वलि' (रम्य का रास्ता) उपन्यास को 'कुंकुमम्' उपन्यास-प्रतियोगिता में दूसरा पुरस्कार। लेखन में संख्या से अधिक गुण पर बल।

सम्प्रति—गुरूवायूर श्रीकृष्ण कॉलेज में मलयालम विभाग के अध्यक्ष।

आचार्य एवं अध्यक्ष, मलयालम विभाग, गुरूवायूर श्रीकृष्ण कॉलेज, गुरूवायूर, त्रिच्चुर-केरल



अब्दुल बिस्मिल्लाह

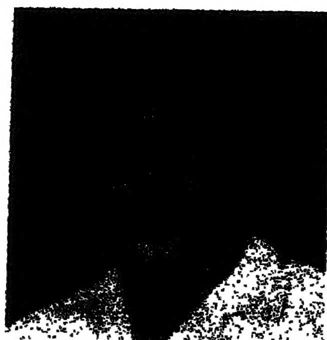
जन्म—5 जुलाई, 1949, इलाहाबाद के बलापुर नामक गाँव में।

शिक्षा—इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम.ए., डी.फिल.।

व्यवसाय—लगभग दस वर्षों तक बनारस के एक कॉलेज में पढ़ाने के बाद जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, दिल्ली के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक।

प्रकाशित पुस्तकें—'टूटा हुआ पंख', 'कितने-कितने सवाल', 'अब्दुल बिस्मिल्लाह की विशिष्टि कहानियाँ, (कहानी-संग्रह)। 'झीनी झीनी बीनी चदरिया', 'समर शेष है', 'जहरबाद' (उपन्यास)। 'मुझे बोलने दो', 'छोटे बुतों का बयान' (कविता-संग्रह)

हिन्दी विभाग-जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली-110025



शैलेश मटियानी

जन्म—14 अक्तूबर, 1931, बाड़ेछीना (अल्मोड़ा) में।

शिक्षा—स्कूली पढ़ाई सिर्फ 10वीं तक।

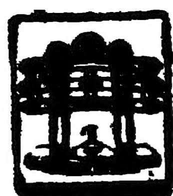
व्यवसाय—कठिन संघर्षों भरा जीवन। करीब 10 वर्ष तक बम्बई के एक चायघर में बेयरा के रूप में काम करने के कारण मवालियों, गुण्डों, अपराधियों को नजदीक से देखने का अवसर। 'बोरीबली से बोरीबन्दर तक', 'चील', 'इब्बू मलंग', 'प्यास', 'एक कोप चा एक खारी बिस्किट', 'भाषा' आदि कहानियों में इसी प्रकार के अनुभवों की अभिव्यक्ति।

1960-61 से इलाहाबाद में रहकर स्वतंत्र लेखन और 1967 से 'विकल्प' का प्रकाशन।

व्यवहार में आत्मीय और अंतरंग, साहित्यकार के रूप में स्पष्टवादी और झुझारू।

प्रकाशित कृतियाँ—'चिट्ठीरसैन', 'मुख सरोवर के हंस', 'आकाश कितना अनन्त', 'मुठभेड़ (उपन्यास), 'सुहागिनी', 'चील', (कहानी-संग्रह), 'लेखक की हैसियत से', 'त्रिज्या' (वैचारिक गद्य)।

261/ए, मोतीलाल नेहरू नगर, इलाहाबाद-२११००२



भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण